मेरठ विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम समन्वित

भारतीय संस्कृति

तथा

धर्म-समन्वय

की

रूपरेखा

प्रिंसिपल चमनलाल शर्मा
स्वर्णकान्ता शर्मा, एम. ए.

प्रकाशक :
डिवाइन लाइफ़ सोसाइटी
शिवानन्द नगर
[टिहरी-गढ़वाल]
उत्तर प्रदेश

मूल्य] १९७० [रु०

भारतीय संस्कृति तथा धर्म-समन्वय की रूपरेखा

विश्व-प्रार्थना

हे स्नेह और करुणा के आराध्य देव !
तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है ।
तुम सच्चिदानन्दघन हो ।
तुम सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो ।
तुम सबके अन्तर्वासी हो ।

हमें उदारता, समदर्शिता एवं
मन का समत्व प्रदान करो ।
श्रद्धा, भक्ति और प्रज्ञा से कृतार्थ करो ।
हमें आध्यात्मिक अन्तःशक्ति का वर दो
जिससे हम वासनाओं का दमन कर
मनोजय को प्राप्त हों ।
हम अहंकार, काम, क्रोध, लोभ तथा द्वेष से रहित हों
हमारा हृदय दिव्य गुणों से पूर्ण करो ।

सब नाम-रूपों में तुम्हारा ही दर्शन करें ।
तुम्हारी अर्चना के ही रूप में इन नाम-रूपों की सेवा करें ।
सदा तुम्हारा ही स्मरण करें ।
तुम्हारी महिमा का गायन करें ।
केवल तुम्हारा ही कलिकल्मषहारी नाम हमारे अधरपुट पर हो
सदा हम तुममें ही निवास करें, तुममें ही निवास करें ।

—स्वामी शिवान

प्रकाशक का वक्तव्य

इस सोसायटी का प्रस्तुत प्रकाशन इस अर्थ में अभिनव है कि यह कालेज विद्यार्थियों के लिए तथा साथ ही जन-सामान्य के लिए आदि काल से वर्तमान काल पर्यन्त भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक विकास का क्रमिक विस्तार सन्निहित करने वाली पाठ्य-पुस्तक प्रस्तुत करने का अग्रगामी प्रयत्न है। अनेकानेक कारणों से सामान्यतः हमारे पाठ्य-क्रम में भारतवर्ष का सांस्कृतिक अध्ययन सम्मिलित नहीं रहता। सन्तोष का विषय है कि मेरठ विश्वविद्यालय ने भारतीय संस्कृति को अध्ययन के कार्यक्रम का एक अंग बनाने के रूप में नेतृत्व का जो पग बढ़ाया है, उसका अनुसरण कुछ अन्य शिक्षा-केन्द्रों द्वारा भी हो रहा है। आज इस बात को अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि कला और विज्ञान के क्षेत्र में संस्कृति के आत्मतत्व को जीवन्त उपशामक का कार्य करना है अन्यथा ये विषय केवल यन्त्रवादी नैत्यचर्या बनकर रह जायेंगे।

आजकल शिक्षा संस्थाओं के वातावरण में परिव्याप्त नाना प्रकार के असन्तोष का वास्तविक कारण मुख्य रूप से विज्ञान की निष्प्राण शिक्षा-पद्धति है। जहाँ विज्ञानेतर विषय पढ़ाये जाते हैं वहां भी शिक्षा-मनोविज्ञान और अध्यापन कला दोनों में प्रयुक्त शिक्षा-पद्धति के नियम विज्ञान की शिक्षा-विधियों का अनुसरण करते हैं। विज्ञान, मूलभूत नियमों के समन्वय की पद्धति एवं ज्ञान के संयुक्त समुच्चय का निष्पक्ष मूल्यांकन है; अतः उसे विचारणा-शक्ति का महत्वपूर्ण प्रशिक्षण माना जा सकता है। परन्तु यदि वह शिक्षा के जीवन्त नियमों का स्थान ले लेता है तो अनावश्यक ही नहीं, हानिप्रद भी हो जाता है। शिक्षा, साधन और साध्य का बाह्य अनुबन्ध मात्र नहीं जैसे मानव शरीर मात्र अवयवों का संयोजन नहीं, अपितु उसमें जीवन है जो अवयवों के संकलनफल से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यही बात शिक्षा के सम्बन्ध में भी है। शिक्षा जीवन्त विकसनशील प्रक्रिया है। शिक्षकों और विद्यार्थियों के क्षेत्रों में जो असन्तोष है वह सीखने और सिखाने के श्रमसाध्य क्रम में इसी जीवन-शक्ति के अभाव के कारण है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय संस्कृति का इतिहास आधुनिक शिक्षा में उस खोई हुई कड़ी की पूर्ति करता है। इतिहास तो घटनाओं की गत्या-

त्मकता का वृत्तान्त है और जीवन सिद्धान्त स्वयं को किसी प्रक्रिया के, प्रक्रिया—जो परिस्थिति और घटनात्मक स्थिति के परिवर्तन का ही दूसरा नाम है—समकक्ष स्वीकार नहीं करता। जीवन की अपनी एक अद्वितीयता है जिससे किसी जीवनेतर वस्तु की न समरूपता स्थापित की जा सकती है न तुलना की जा सकती है। इस प्रकार शैक्षिक पाठ्यचर्या में इस रिक्त स्थान की पूर्ति केवल सांस्कृतिक मूल्यों के इतिवृत्त प्रस्तुत करने मात्र से ही नहीं हो सकेगी। अध्ययन किसी प्रकार का भी हो, उसके तीन भाग होते हैं—प्रस्तावना, ऐतिहासिक इतिवृत्त और वास्तविक विषय। प्रथम वस्तु जो विद्यार्थियों को लाभकारी रूप में दी जा सकती है वह है, वर्ण्य विषय की प्रकृति, सारतत्व, अध्ययन का उद्देश्य और अध्ययन-विधि, सरल ढंग में बताते हुए उसकी (वर्ण्य विषय की) पूर्ण धारणा का एक सामान्य परिप्रेक्ष्य। लेकिन इसके उपरान्त अगला चरण होगा, विभिन्न युगों में विषय विशेष से सम्बन्धित विचारों के क्रमिक इतिहास अथवा विकास का अध्ययन; जिससे छात्र बुद्धि उस समग्र विषय का, जिसकी नींव प्रस्तावना में ही डाल दी गयी है, तुलनात्मक मूल्यांकन कर सकें। परन्तु फिर भी यही सब कुछ नहीं है; क्योंकि जैसा मैं कह गया, वास्तविक विषय इतिहास नहीं है। अपितु पक्ष-विपक्ष की युक्तियों तथा आगमन-निगमन की तर्कसंगत प्रक्रियाओं द्वारा अन्ततः जीवन के संग पाठ्य विषय के वास्तविक सम्बन्ध के निष्कर्ष पर पहुंचना अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए।

परन्तु इस समय विश्वविद्यालयों ने सम्भवतः एक प्रकार से सभ्यता और संस्कृति के परिचयात्मक स्वरूप ऐतिहासिक स्तर से आरम्भ करना उचित समझा है। इस पाठ्य पुस्तक में लेखक ने सरल तथापि विस्तृत पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो अध्यापक और अध्येताओं के साथ ही सामान्य पाठकों के लिए भी अत्यधिक महत्व की होगी—ऐसा हमारा विश्वास है।

शिवानन्द नगर, डिवाइन लाइफ सोसायटी
१२ फरवरी १९७०

विनम्र निवेदन

विश्व के रंगमंच पर बीसवीं सदी का भौतिक ताण्डव हो रहा है। विज्ञान ने अपनी सिद्धियों द्वारा संसार को एक ज्वालामुखी पर्वत के कगार पर ला कर खड़ा कर दिया है और स्वयं तीसरे सर्वनाशक महायुद्ध की विभीषिका की आशंका से त्रस्त है। अर्थशास्त्र अपने आंकड़ों पर चकित है, राजनीति दूषित कूटनीति से आक्रान्त। अधिकार और स्वार्थपरता का आवेश कर्त्तव्य एवं त्याग से विमुख करने को प्रयत्नशील है। परिणामतः वर्तमान युग का मानव अपने अन्तर्स्थित दिव्य भावपूर्ण अध्यात्म के उत्कर्ष की अवहेलना करके भौतिक सुख-साधनों की अधिकाधिक उपलब्धि में लगा है। इसी में वह अपनी तथा विश्व की उन्नति की कल्पना कर रहा है भौतिक विकास सम्बन्धी अनेकानेक योजनाएँ कार्यान्वित हो रही हैं, होती जा रही हैं। किन्तु उनका दायित्व जिस मानव को सौंपना है उसके हृदय की एवं भावनाओं के विकास की सर्वथा उपेक्षा हो रही है। उसके सर्वांगीण विकास की दिशाएं अवरुद्ध हैं और मानवता को आत्मकल्याण का मार्ग नहीं मिल रहा है। जीवन-पथ का निर्देशन करने वाले सार्वभौम धर्म का रूप हम भूल गए हैं जिसके परिणामस्वरूप भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर होते हुए भी जग-जीवन, भय, कुण्ठा, दैन्य-तमिसा, मनोवेदनाओं आदि से जितना आज आच्छादित एवं संत्रस्त है उतना किसी युग में नहीं था। यदि हम चाहते हैं कि अनिश्चितता की यह वर्तमान स्थिति अराजकता में समाप्त न हो तो हमें निश्चित रूप से एकतत्व ज्ञान, एकपथ प्रदर्शन एवं एक नये प्रकाश की आवश्यकता पड़ेगी और इसके लिए हमें पुनः आध्यात्मिक तत्वों की ओर उन्मुख होना पड़ेगा।

भारत, पीढ़ियों से कला और सौन्दर्य का देश तो रहा ही है परन्तु इससे भी अधिक वह समस्त विश्व का धर्म-गुरु रहा है। अखिल विश्व की दृष्टि में यहां का धर्म परलोक की अपेक्षा इसी लोक के लिए अधिक है। धर्म का ऐसा विशाल प्रयोगात्मक रूप विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है। खेद है कि आज अनेकानेक भ्रान्त कारणों से भारत अपनी आत्मा की आधार परम्परागत निधि के प्रति निष्ठावान न रहकर दिशाहारा हो गया है। वह, न परम्परागत मूल्यों के प्रति आस्थावान है न नवीन जीवन-मूल्यों के निर्माण की क्षमता से पूर्ण। ऐसी स्थिति में यह परमावश्यक हो गया है कि वह अपनी संस्कृति तथा आध्यात्मिक ज्ञान गरिमा की राष्ट्रीय धरती को

सुरक्षित रखे तथा अपने आधारभूत आदर्शों से च्युत न हो। वैसे तो सांस्कृतिक उत्तराधिकार की रक्षा और जीवन को उसके सानुरूप ढालना व्यक्ति का मुख्य कर्त्तव्य है परन्तु आज सांस्कृतिक ह्रास के इस बौद्धिक युग में यह और भी आवश्यक हो गया है। एक समय था जब सांस्कृतिक वैशिष्ट्य तथा आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से विश्व के राष्ट्रों में भारत को अन्यतम स्थान प्राप्त रहा है तथा अखिल विश्व की दृष्टि इन क्षेत्रों में अपने पथ-प्रदर्शन के लिए भारत की ओर उठी रही है। क्योंकि भारत के साँस्कृतिक मूल्य सदैव ही जीवन के लिए मंगल विधायक एवं आलोकवाही रहे हैं।

भौतिक उन्नति को ही लक्ष्य न बनाकर समाज और जीवन के परिप्रेक्ष्य में धर्म को उचित स्थान देने की उद्घोषणा हमारे मनीषी सदैव करते रहे हैं। अतः जनता की शिक्षा का मूलाधार धर्म होना चाहिए। धर्म और कुछ नहीं एक जीवन-पद्धति है, एक स्रोत है जिससे विचारों की गंभीर साधना विश्वासों की खोज और सद्‌गुणों के अभ्यास के प्रयत्न उत्पन्न होते हैं। मन द्वारा शिवत्व, सौन्दर्य एवं सत्य के प्रति आकर्षण परमात्मा के प्रति आकर्षण है। विश्ववन्द्य भारतीय दार्शनिक प्रवर डा० राधाकृष्णन् ने अपनी शिक्षा सम्बन्धी रिपोर्ट में भी नीति और धर्म को, शिक्षा के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकृत करने का सुझाव दिया है।

इतिहास भी प्रमाणित करता है कि किसी भी देश में, जब शिक्षा के उद्देश्य वहाँ के धर्म और दर्शन से निर्धारित होते हैं तथा उसे (शिक्षा को) देश की संस्कृति का आधार दिया जाता है तब शिक्षा का प्रतिफलन ज्ञान के उच्चतम विकास में होता है।

अतीत के पृष्ठ बताते हैं कि प्राचीन काल में जो महान दार्शनिक रहे हैं वे शिक्षाविद् भी थे और जो महान शिक्षक थे वे दर्शनवेत्ता भी थे। महर्षि वशिष्ठ अपने युग के जिस प्रकार महान दार्शनिक थे उसी प्रकार कुशल शिक्षक भी। विश्वामित्र, वाल्मीकि और जनक एक साथ ही महान दार्शनिक एवं महान शिक्षक थे। वर्तमान युग में तिलक, महामना मालवीय, टैगोर एवं महात्मा गाँधी उच्च कोटि के दार्शनिक एवं महान शिक्षावेत्ता थे। इस प्रसंग में यदि मूर्धन्य स्थान हम डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् को दें जिनके दार्शनिक विचारों ने समस्त विश्व को मौलिक चिन्तन की एक नवीन दिशा दी तो अतिशयोक्ति न होगी। विश्व के अन्य देशों में भी रूसो से लेकर बर्ट्रण्ड रसल तक ऐसे उदाहरण सामने आते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा दर्शन से निर्धारित एवं संस्कृति पर आधा-

रित होकर ही अभीष्ट लक्ष्य की पूरक हो सकती है। यही शिक्षा, राष्ट्र का मेरुदण्ड कहला सकती है।

हर्ष का विषय है कि मेरठ विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आर० के० सिंह का ध्यान शिक्षा के पाठ्यक्रम की इस कमी की ओर गया। परिणामत: उन्होंने बी० ए० के पाठ्यक्रम में 'भारतीय धर्म और संस्कृति' विषय को स्थान देकर आज की युवा पीढ़ी को राष्ट्र-उत्थानार्थ भारतीय धर्म और संस्कृति के अनुरूप ढलने और बनने की भूमिका प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। विद्यार्थियों में भारतीय संस्कृति की गरिमा के संरक्षण की पुण्य भावना जाग्रत करने का—उनका यह प्रयास वस्तुत: श्लाघनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक रचना में लेखक का मुख्य उद्देश्य स्नातक स्तर पर छात्र-वर्ग के समक्ष भारतीय धर्म और संस्कृति की गौरवान्वित जीवन्त विचारधारा को प्रस्तुत कर उनके चिन्तन को एक स्वस्थ दिशा देना है।

विषय के प्रतिपादन में लेखक ने तटस्थता का तथ्यात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए विचारों में तारतम्यता अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से ऐतिहासिक क्रमिकता के स्थान पर विषय के क्रमिक प्रवाह को प्रधानता दी है।

प्रस्तुत पुस्तक, विश्वविद्यालय की स्नातक कक्षा के छात्रों के मानसिक स्तर के अनुकूल हो—इसका ध्यान रखते हुए विषय को इस प्रकार सरल, रोचक एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है कि छात्रों की रुचि विषय के प्रति जाग्रत हो सके तथा वे भारत के सांस्कृतिक मूल्यों को जीवन में पुनः प्रतिष्ठापित करने के अभिलाषी बन सकें।

लेखक को अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफलता प्राप्त हो सकी है इसका निर्णय तो सुधीजन ही कर सकेंगे। लेखक निमित्त मात्र है जिसने यत्र-तत्र विकीर्ण विचार-पुष्पों का चयन कर पुस्तक रूपी माला ग्रथित कर भारत की भावी निर्माण शक्ति, छात्रवर्ग को अर्पित की है। यदि अपेक्षित उद्देश्य की किंचित् पूर्ति भी इस पुस्तक द्वारा हो सकी तो लेखक अपने को धन्य समझेगा।

इस पुस्तक में जिन विद्वानों की रचनाओं से सहायता ली गई है लेखक उन सभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता है।

लेखक, 'योग वेदान्त' पत्रिका के सुयोग्य सम्पादक मनीषी पूज्यवर स्वामी श्री चन्द्रशेखरानन्द जी का हृदय से आभारी है जो बहुव्यस्त होते हुए भी पुस्तक की प्रगति में निरन्तर मार्ग-प्रदर्शन करते हुए इस ज्ञान-यज्ञ में आहुति डालते रहे। उनके निर्देशन के अभाव में पुस्तक का इस रूप में तथा इतना शीघ्र प्रकाशन भी असंभव था।

अन्त में श्री चन्द्रप्रकाश शर्मा जी के प्रति भी लेखक आभार प्रकट करता है जिन्होंने मुक्तरूप से इस कार्य में अपनी निःस्वार्थ सेवा से अनुगृहीत किया है।

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय १

भारतीय संस्कृति

प्रसन्नता की बात है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की सुरक्षा और उसके प्रचार की बात बड़े ज़ोर-शोर से चल पड़ी है। वास्तव में किसी देश का प्राण उसकी संस्कृति ही है।

संस्कृति की परिभाषा—आजकल अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' (culture) के लिए 'संस्कृति' शब्द व्यवहार में आने लगा है, किन्तु संस्कृति का अर्थ बहुत व्यापक है। संस्कृति हमारे आन्तरिक गुणों का समूह है—वह एक प्रेरक शक्ति है। वह हमारे सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है, हमारे साहित्य और उसकी भाषा को बनाती है तथा हमारी संस्थाओं को जन्म देती है। संस्कृति हमें यह बताती है कि हम अपनी सूक्ष्म चित्तवृत्तियों का कितना विकास कर पाये हैं। संस्कृति का आधार धर्म है और धर्म की नींव सदाचरण है।

सभ्यता का अर्थ—संस्कृति के सम्बन्ध में विचार करते समय एक शब्द और हमारे समक्ष आ जाता है और वह है, 'सभ्यता'। यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या सभ्यता और संस्कृति दोनों एक ही वस्तु हैं? यदि नहीं, तो इनमें क्या अन्तर है? वास्तव में सभ्यता और संस्कृति दोनों में अन्तर करना सरल काम नहीं है। एक ओर यदि कई विद्वानों ने भ्रमवश दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है, तो दूसरी ओर ऐसे भी विद्वान् हैं, जिन्होंने इनमें आकाश-पाताल का अन्तर बताया है। मतों की इस विपरीतता में सत्य का पता लगाने के लिए हमें 'सभ्यता' के शाब्दिक अर्थ को भी समझना होगा।

'सभ्यता' शब्द 'सभ्य' से बना है। सभ्य का अर्थ सदस्य या सभासद् है। सदस्यता किसी सभा-समाज की होती है, अतः सभ्यता एक सामाजिक गुण हुआ, जिसका अनुमान हम किसी व्यक्ति विशेष की वेशभूषा, बोलचाल और आचार-व्यवहार से लगाते हैं। इसमें हम उसकी बाहरी शारीरिक बातों पर भी ध्यान देते हैं, आन्तरिक गुणों पर नहीं।

संस्कृति एवं सभ्यता—संस्कृति अनुभवजन्य ज्ञान पर और सभ्यता बुद्धिजन्य ज्ञान पर निर्भर है। अनुभवजन्य ज्ञान नित्य और बुद्धिजन्य ज्ञान परिवर्तनशील होने

के कारण संस्कृति नित्य और सभ्यता परिवर्तनशील होती है। किसी देश-काल की सभ्यता भिन्न देश-काल में अहितकर भी हो सकती है; किन्तु संस्कृति सर्वदेश, सर्वकाल में सभी के लिए सर्वदा हितकारी ही होती है। संस्कृति मनुष्य के अखिल जीवन को संस्कारित करती है और सभ्यता काल-सापेक्ष होने के कारण बाह्य जीवन को अल्प समय के लिए प्रभावित करती है। संस्कृति किसी मानव की उपज नहीं, प्रत्युत् खोज है। इसी कारण नित्य है। उसका निरादर करना पतन का मूल है। उसका आदर विकास का हेतु है।

अंग्रेजी भाषा में 'सभ्यता' के लिए 'Civilization' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि हमें सभ्यता एवं संस्कृति का विश्लेषण अंग्रेजी भाषा में करना पड़े तो इस प्रकार किया जायगा—

'Civilization is an expression of flesh, while culture is the manifestation of soul.'

अर्थात् सभ्यता शरीर के मनोविकारों की द्योतक है, जबकि संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है।

आज सभ्यता की विशेषताएं मुख्यत: मानववादी भावना, जीवन के प्रति भौति[illegible] एवं धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण, वैज्ञानिक स्वभाव और परम्परागत रीति-रिवाज को आमू[illegible] नष्ट करने की प्रवृत्ति आदि हैं। सभ्यता, आवश्यकताओं, आवेगों और महत्त्वाकांक्षा[illegible] का ऐसा पूंजीभूत रूप है जिस पर आत्मा का कोई नियन्त्रण न हो। संस्कृति मूलत[illegible] अध्यात्म-प्रधान है। हमारा जीवन-लक्ष्य भी आध्यात्मिक उत्कर्ष है। 'तू शरीर नहीं आत्मा है'—इस उक्ति की चरितार्थता तभी सम्भव है जब मानव में सात्त्विक गुणों का विकास हो।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएं—भारतीय संस्कृति में व्यावहारिक उत्क[illegible] एवं पारमार्थिक श्रेष्ठता दोनों पूर्णता की सीमा पर प्रतिष्ठित है। मनुष्य को मानव-विकास के उच्चतम शिखर पर पहुंचकर अन्त में जीवन्मुक्ति की अवस्था में प्रतिष्ठित कर देना ही भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी सेवा है। भारतीय संस्कृति सर्वसामर्थ्यमय सर्वांगपूर्ण संस्कृति है। भारतीय संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है। इसके द्वारा न केवल अपने अनुयायियों के लिए वरन् समस्त विश्व के लिए मंगलकारी प्रभाव उत्पन्न होता है। हमारी दैनिक प्रार्थना भी यही कहती है—

लोका: समस्ता: सुखिनो भवन्तु।
सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दु:खभाग्भवेत्॥

सर्वभूतहिते रता: का ही आदर्श सदैव सर्वत्र सामने रहता है। वसुधैव

कुटुम्बकम् का उदात्त सिद्धान्त भी भारतीय संस्कृति ही का है। **सर्वं खलु इदम् ब्रह्म** की भारतीय दृष्टि में संस्कृति का उच्च आदर्श निहित है।

मातृवत् परदारेषु एवं परद्रव्येषु लोष्ठवत् की दृष्टि रखने का आदर्श भारतीय संस्कृति की ही विशेषता है।

जीवनक्षमता—हमारी संस्कृति विविधरूपिणी एवं बहुमुखी रही है। युद्ध एवं शान्ति की प्रत्येक कला, राजनीति एवं शासन-व्यवस्था, संगीत तथा साहित्य, स्थापत्य अथवा प्रतिमा-निर्माण कौशल, नृत्य एवं चित्रकला हमारी इस भव्य संस्कृति के विकास का परिचय देती है। समस्त विश्व भारतीय संस्कृति का प्रशंसक है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप हमारे देश में अनेक संस्कृतियों ने अपना प्रभाव छोड़ना चाहा, परन्तु भारतीय संस्कृति ने अन्य संस्कृतियों को समेट कर आत्मसात् कर लिया। यह इसके प्राणवान् होने का चिह्न है। आर्यकाल से चली आती भारतीय संस्कृति को आज इस बात पर गर्व है कि सहस्रों वर्षों से उसका जीवन प्रवाह निरन्तर एवं अविच्छिन्न है जबकि मिस्र, बेबीलोन, यूनान तथा रोम की संस्कृतियों का कोई अवशिष्ट चिन्ह नहीं दिखाई देता।

समस्त प्राणियों से एकात्मता और प्रेम का भाव—सब प्राणियों को अपने समान समझना तथा उनके प्रति न केवल प्रेम भाव रखना अपितु तदनुसार आचरण करना, निम्न से निम्न प्राणी को भी अपने स्नेह और करुणा का अवलंबन देना, यह पूर्ण और सच्चे रूप में भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जाता। यह भारतीय संस्कृति का प्राण है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इस विशेषता में भारतीय संस्कृति की अन्य सब विशेषताएं गर्भित हैं।

पुनर्जन्म तथा आशावाद (Optimism)—जो हम आज हैं, वह पिछले कर्मों का परिणाम है। अतः फल भोगने में तो हम परतन्त्र हैं, परन्तु कर्म करने में स्वतन्त्र होने से अपने भविष्य के निर्माता हम स्वयं हैं। इस उद्देश्य से कि अमर आत्मा अगले जन्म में सुन्दर चोला धारण कर सके, हमें अब वर्तमान का पूर्णतया लाभ उठाते हुए इहलोक तथा परलोक दोनों को ध्यान में रखकर ही कार्य करना चाहिए। इन सब बातों से प्राणीमात्र के प्रति एकात्मता और प्रेमभाव दृढ़ होता तथा पुरुषार्थ, सत्प्रयत्न और आशा की प्रेरणा मिलती रहती है।

संयुक्त पारिवारिक जीवन—अंग्रेजी कहावत Charity begins at home अर्थात् उदारता का प्रथम पाठ हमें अपने घर से ही मिलता है—के अनुसार हम कुटुम्ब के सुख-चैन के लिए. स्वार्थ का त्याग करना सीखते हैं। इसका भी उद्देश्य कुटुम्ब के सभी सदस्यों को उनके धर्म, अर्थ, काम के साधन, समुचित व्यक्तिगत स्वाधीनता का अवसर देना और पारस्परिक सहयोग देना है। जहाँ पुत्र वेद की मातृ

देवो भव, पितृदेवो भव, जैसी आज्ञाओं का पालन करता है, वहां माता-पिता भी प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवत् आचरेत्—को नहीं भूलते। इसी प्रकार पति-पत्नी भाई-बहन तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों के प्रति व्यवहार किया जाता है।

सादगी और शान्ति—यह इस संस्कृति की महान् विशेषताएं हैं। सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श सदा सामने रहता है। जीवन स्तर को उन्नत करने का अर्थ यह नहीं है कि अनावश्यक सांसारिक पदार्थों का संग्रह किया जाये वरन् अपने नैतिक स्तर को ऊँचा करना है और अपने सुख-शान्ति को सांसारिक पदार्थों से अप्रभावित रखना है।

अखण्डता—संस्कृति शब्द समग्र देश की एक ऐसी जीवन-पद्धति का बोध देता है जिसमें उस भूभाग का प्राकृतिक परिवेश मनुष्य के बाह्य और अन्तर के संस्कारों को प्रभावित करता है। भारत के प्राकृतिक परिवेश में मानव-जीवन की एक विशेष संस्कार-पद्धति रही है। इस संस्कार-क्रम में जो अन्यतम उपलब्धियां हुई हैं, उन्हें धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, आचारनीति आदि विभागों में बांट सकते हैं; परन्तु ये भिन्न प्रतीत होने वाली उपलब्धियां एक ही संस्कृति-शरीर के भिन्न अवयव होने से मूलत: एक ही कही जायेंगी।

जिस प्रकार इस महादेश का निवासी मानसरोवर और कैलाश को देश का भाग ही मानता रहा और उसके स्मरण से अथवा दर्शन से अपने को पवित्र बनाता रहा उसी प्रकार यहाँ के अन्य तीर्थस्थल जैसे हरिद्वार, प्रयाग, रामेश्वर, पुरी, द्वारिका धाम आदि को भारत के प्रत्येक कोने से श्रद्धा के सुमन अर्पित होते रहे हैं। हमारे देवी-देवता सरिता, सागर सभी के प्रति जनता का पूज्य भाव विद्यमान है।

व्यापकता – मनुष्य प्रकृति से सर्वथा एक ही रूप में प्रभावित नहीं होता। भारतीय प्रदेश की यह विशेषता है कि इसने प्रकृति एवं मानव की प्रगति को अनुभूत करने का सबसे अधिक सौभाग्य प्राप्त किया है। यहां के निवासियों में मानव-समाज के विभिन्न युगों में होने वाले प्रायः समस्त धार्मिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों की प्रवृत्तियों का कोई पार नहीं दिखाई देता। इस अकल्पनीय अतीत का यहाँ वैचित्र्य है। इसने हाल में घटने वाली पुनरावृत्तियों को एक बार नहीं, कई बार देखा है। इसकी तपश्चर्या और नवनिर्माण-साधना का कोई मापदण्ड नहीं। इसके जीवन सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान को किसी काल की मर्यादा में मर्यादित नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति इस अपरिमित ज्ञान-विज्ञान की देन है। अब तक इसमें पद-पद पर त्रिकालव्यापी शाश्वत सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं।

भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता – दुनियां में अकेले या एकाकी सज्जन बनने से काम नहीं चलता। अपने आस-पास भी सज्जन समाज बनाना और बढ़ाना होता है।

ऐसी विशेषता भारतीय संस्कृति में सदैव रही है। उसने स्वार्थसिद्धि की अपेक्षा पर-सेवा, समाज-सेवा और परमार्थ पर अधिक जोर दिया है। उसने व्यक्ति को समाज में, समष्टि में, भगवान में लीन होने का उपदेश दिया है। भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का सार निम्नलिखित शब्दों में देखिए।

(१) मनुष्य को आत्मसंयम तथा आवश्यकताओं को कम करने का पाठ पढ़ाया।

(२) मनुष्य का अन्तिम ध्येय ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति बतलाया।

(३) भारतीय संस्कृति का मुख्य तत्त्व परमार्थ भाव है। इसने हमें परोपकार, दान देना एवं अतिथि-सत्कार सिखाया।

(४) निष्काम भाव से शुभ कर्म करते रहने पर बल दिया।

(५) सत्य अहिंसा, अस्तेय, तप आदि नैतिक गुणों की शक्तियों में विश्वास जमाया।

तभी तो संसार के इतिहास में ग्यारह सौ वर्षों तक अराजकता में रहकर अरक्षित जीकर, इतने आक्रमण और लूटमार सहकर तथा नौ सौ वर्ष विदेशी धर्म एवं संस्कृति में मुस्लिम एवं अंग्रेज शासकों के शासन में रहकर भी इसने अपने जीवन, जाति एवं सभ्यता को अक्षुण्ण बनाये रखने में अमरता एवं मृत्युंजयता का ठोस प्रमाण दिया। भारतीय संस्कृति ऐसे भयंकर प्रहारों को सहकर भी अपनी अमर संस्कृति की आधार-शिला पर स्थित है। इसकी अजेयता ने विश्व भर के इतिहासज्ञों को भी चकित कर दिया है, चूंकि उनको ऐसा दूसरा उदाहरण ही नहीं मिलता।

भारतीय संस्कृति विदेशियों की दृष्टि में—भारतीय संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में सब देशों की संस्कृति की जननी है। कई लोग ऐसा मानते हैं कि विश्व-मानव की आदि जन्मभूमि और आदि संस्कृति एक है। वह पुण्यभूमि भारत ही है, जहाँ से मनुष्य पश्चिम में फैल गया और अपने साथ यहाँ के संस्कारों को भी ले गया। काल एवं परिस्थितियों के प्रभाव से वही संस्कार उनकी संस्कृतियों में व्यक्त हुए। जर्मनी देश के प्रकाण्ड विद्वान् मैक्समूलर ने इसकी मुक्त कण्ठ से सराहना करते हुए महारानी विक्टोरिया को १८५८ में लिखा था—यदि मुझसे पूछा जाय कि किस देश में मानव-मस्तिष्क ने अपनी मुख्यतम शक्तियों को विकसित किया है, जीवन के बड़े से बड़े प्रश्नों पर विचार किया और ऐसे समाधान ढूंढ निकाले जिनकी ओर प्लेटो और काण्ट के दर्शन का अध्ययन करने वालों का ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिये तो मैं भारतवर्ष की ओर संकेत करूँगा।

यदि मैं अपने आपसे पूछूं कि किस साहित्य का आश्रय लेकर सेमैटिक, यूनानी और केवल रोमन विचारधारा में बहते हुए योरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवन को

देवो भव, पितृदेवो भव, जैसी आज्ञाओं का पालन करता है, वहां माता-पिता भी प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवत् आचरेत्—को नहीं भूलते। इसी प्रकार पति-पत्नी भाई-बहन तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों के प्रति व्यवहार किया जाता है।

सादगी और शान्ति—यह इस संस्कृति की महान् विशेषताएं हैं। सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श सदा सामने रहता है। जीवन स्तर को उन्नत करने का अर्थ यह नहीं है कि अनावश्यक सांसारिक पदार्थों का संग्रह किया जाये वरन् अपने नैतिक स्तर को ऊँचा करना है और अपने सुख-शान्ति को सांसारिक पदार्थों से अप्रभावित रखना है।

अखण्डता—संस्कृति शब्द समग्र देश की एक ऐसी जीवन-पद्धति का बोध देता है जिसमें उस भूभाग का प्राकृतिक परिवेश मनुष्य के बाह्य और अन्तर के संस्कारों को प्रभावित करता है। भारत के प्राकृतिक परिवेश में मानव-जीवन की एक विशेष संस्कार-पद्धति रही है। इस संस्कार-क्रम में जो अन्यतम उपलब्धियां हुई है, उन्हें धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, आचारनीति आदि विभागों में बांट सकते हैं; परन्तु ये भिन्न प्रतीत होने वाली उपलब्धियां एक ही संस्कृति-शरीर के भिन्न अवयव होने से मूलतः एक ही कही जायेंगी।

जिस प्रकार इस महादेश का निवासी मानसरोवर और कैलाश को देश का भाग ही मानता रहा और उसके स्मरण से अथवा दर्शन से अपने को पवित्र बनाता रहा उसी प्रकार यहाँ के अन्य तीर्थस्थल जैसे हरिद्वार, प्रयाग, रामेश्वर, पुरी, द्वारिका धाम आदि को भारत के प्रत्येक कोने से श्रद्धा के सुमन अर्पित होते रहे हैं। हमारे देवी-देवता सरिता, सागर सभी के प्रति जनता का पूज्य भाव विद्यमान है।

व्यापकता—मनुष्य प्रकृति से सर्वथा एक ही रूप में प्रभावित नहीं होता। भारतीय प्रदेश की यह विशेषता है कि इसने प्रकृति एवं मानव की प्रगति को अनुभूत करने का सबसे अधिक सौभाग्य प्राप्त किया है। यहां के निवासियों में मानव-समाज के विभिन्न युगों में होने वाले प्रायः समस्त धार्मिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों की प्रवृत्तियों का कोई पार नहीं दिखाई देता। इस अकल्पनीय अतीत का यहाँ वैचित्र्य है। इसने हाल में घटने वाली पुनरावृत्तियों को एक बार नहीं, कई बार देखा है। इसकी तपस्चर्या और नवनिर्माण-साधना का कोई मापदण्ड नहीं। इसके जीवन सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान को किसी काल की मर्यादा में मर्यादित नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति इस अपरिमित ज्ञान-विज्ञान की देन है। अतः इसमें पद-पद पर त्रिकालव्यापी शाश्वत सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं।

भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता—दुनियां में अकेले या एकाकी सज्जन बनने से काम नहीं चलता। अपने आस-पास भी सज्जन समाज बनाना और बढ़ाना होता है।

ऐसी विशेषता भारतीय संस्कृति में सदैव रही है। उसने स्वार्थसिद्धि की अपेक्षा पर-सेवा, समाज-सेवा और परमार्थ पर अधिक जोर दिया है। उसने व्यक्ति को समाज में, समष्टि में, भगवान में लीन होने का उपदेश दिया है। भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का सार निम्नलिखित शब्दों में देखिए।

(१) मनुष्य को आत्मसंयम तथा आवश्यकताओं को कम करने का पाठ पढ़ाया।

(२) मनुष्य का अन्तिम ध्येय ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति बतलाया।

(३) भारतीय संस्कृति का मुख्य तत्त्व परमार्थ भाव है। इसने हमें परोपकार, दान देना एवं अतिथि-सत्कार सिखाया।

(४) निष्काम भाव से शुभ कर्म करते रहने पर बल दिया।

(५) सत्य अहिंसा, अस्तेय, तप आदि नैतिक गुणों की शक्तियों में विश्वास जमाया।

तभी तो संसार के इतिहास में ग्यारह सौ वर्षों तक अराजकता में रहकर अरक्षित जीकर, इतने आक्रमण और लूटमार सहकर तथा नौ सौ वर्ष विदेशी धर्म एवं संस्कृति में मुस्लिम एवं अंग्रेज शासकों के शासन में रहकर भी इसने अपने जीवन, जाति एवं सभ्यता को अक्षुण्ण बनाये रखने में अमरता एवं मृत्युंजयता का ठोस प्रमाण दिया। भारतीय संस्कृति ऐसे भयंकर प्रहारों को सहकर भी अपनी अमर संस्कृति की आधार-शिला पर स्थित है। इसकी अजेयता ने विश्व भर के इतिहासज्ञों को भी चकित कर दिया है, चूंकि उनको ऐसा दूसरा उदाहरण ही नहीं मिलता।

भारतीय संस्कृति विदेशियों की दृष्टि में—भारतीय संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में सब देशों की संस्कृति की जननी है। कई लोग ऐसा मानते हैं कि विश्व-मानव की आदि जन्मभूमि और आदि संस्कृति एक है। वह पुण्यभूमि भारत ही है, जहाँ से मनुष्य पश्चिम में फैल गया और अपने साथ यहाँ के संस्कारों को भी ले गया। काल एवं परिस्थितियों के प्रभाव से वही संस्कार उनकी संस्कृतियों में व्यक्त हुए। जर्मनी देश के प्रकाण्ड विद्वान् मैक्समूलर ने इसकी मुक्त कण्ठ से सराहना करते हुए महारानी विक्टोरिया को १८५८ में लिखा था—यदि मुझसे पूछा जाय कि किस देश में मानव-मस्तिष्क ने अपनी मुख्यतम शक्तियों को विकसित किया है, जीवन के बड़े से बड़े प्रश्नों पर विचार किया और ऐसे समाधान ढूंढ निकाले जिनकी ओर प्लेटो और काण्ट के दर्शन का अध्ययन करने वालों का ध्यान भी आकृष्ट होना चाहिये तो मैं भारतवर्ष की ओर संकेत करूँगा।

यदि मैं अपने आपसे पूछूं कि किस साहित्य का आश्रय लेकर सेमैटिक, यूनानी और केवल रोमन विचारधारा में बहते हुए योरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवन को

अधिकाधिक विकसित, अत्यन्त उच्चतम मानवीय बन सकेंगे, जो जीवन इहलोक से ही सम्बद्ध न हो अपितु शाश्वत एवं दिव्य हो, तो मैं फिर भारतवर्ष की ही ओर संकेत करूँगा ।

इसी प्रकार के कतिपय अन्य उदाहरण भी नीचे दिए जा रहे हैं:—

पेरिस विश्वविद्यालय के प्रो० लुई टिनाऊ लिखते हैं कि संसार के देशों में भारतवर्ष के प्रति लोगों का प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्ति के कारण है ।

'हिन्दू लोग धार्मिक, प्रसन्न, न्यायप्रिय, सत्यभक्त, कृतज्ञ और प्रभु की भक्ति से युक्त होते हैं ।'
—सैमुअल जानसन

'ध्यान की प्रणाली को भारतीयों ने जन्म दिया है । उनमें स्वच्छता तथा शुचिता के गुण वर्तमान हैं । उन लोगों में विवेक है तथा वे वीर हैं ।'
—अलहज़ीज (८वीं शताब्दी ई०)

'ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद एवं अन्य विद्याओं में भारतीय लोग बढ़े हुए हैं । प्रतिमा-निर्माण, चित्र-लेखन, वास्तुकला में वे पूर्णता तक पहुँच चुके हैं । उनके पास काव्य, दर्शन, साहित्य तथा नैतिक शास्त्रों का संग्रह है ।'
—अलहज़ीज (८वीं शताब्दी ई०)

'समस्त भारतीय, चाहे वे प्रासादों में रहने वाले राजकुमार हों, या झोंपड़े में रहने वाले प्रजाजन—संसार के सर्वोत्तम शील सम्पन्न लोग हैं । मानो यह उनका जातिगत धर्म है । उचित और आदरपूर्वक व्यवहार का प्रत्युत्तर वे अवश्य देते हैं तथा दयालुता एवं सहानुभूति के किसी कर्म को भूलते नहीं ।'
—लार्ड विलिंग्टन

'मैंने यूरोप और एशिया के सभी धर्मों का अध्ययन किया, परन्तु मुझे उन सबमें हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखाई देता है । मेरा विश्वास है कि इसके सामने एक दिन समस्त जगत् को सिर झुकाना पड़ेगा ।'
—रोम्या रोलां

स्वामी विवेकानन्द ने भविष्यवाणी की—"भारतीय राष्ट्र मर नहीं सकता, अमर है वह और उस वक्त तक अमर रहेगा जब तक कि यह विचारधारा पृष्ठभूमि के रूप में रहेगी, जब तक कि उसके लोग आध्यात्मिकता को नहीं छोड़ेंगे और आध्यात्मिकता कहते हैं धर्म और ईश्वर की श्रद्धामय और निष्ठायुक्त भावना को । यही प्रत्येक भारतीय का जीवन है, वही भारतीय संस्कृति की आधारशिला है । उसमें सब कुछ है, उसके बिना कुछ नहीं । जीवन की समस्या का एक ही हल है, वह है धर्म और ईश्वर । ये दोनों धर्म और ईश्वर सत्य हैं तो जीवन सार्थक है, सही है, सुखद है, अन्यथा वह केवल निरर्थक भार है ।"

यह आदि-संस्कृति ईश्वरोदित है, सर्वांग, सम्पूर्ण, सनातन और चिरंजीवी है। इतिहास इसकी सर्वोत्तमता का साक्षी है। इसे भारतीय संस्कृति कहना भी इसके महान् स्वरूप को लघु करना है। वस्तुतः इसे आद्य-मानव संस्कृति ही कहना चाहिए।

देश के हित और उन्नति का वास्तविक उपाय तो यह है कि इस संस्कृति के विशुद्ध भारतीय रूप में सबकी श्रद्धा जाग्रत् की जाये। यद्यपि इस धर्म-मूलक संस्कृति के नियम बहुत विस्तृत और सूक्ष्म हैं, तथापि इसके प्रधान सिद्धान्त प्रेरणा तत्त्व निश्चित करके उन्हीं के आधार पर इसे अखिल मानव-जाति की संस्कृति का पद (जो कि वास्तव में इसका पद है) प्रदान करने का प्रयत्न किया जा सकता है और यह प्रयत्न जितने ही अंशों में सफल होगा उतने ही अंशों में वह संसार को सुख, शान्ति और समृद्धि प्राप्त कराने में तथा परम कल्याण की सिद्धि में सहायक होगा। भारतवर्ष से अखिल जगत की मानव-जाति जो भारत की नयी पीढ़ी से आशा रखती आई है वह उस प्रकार आद्य-मानव संस्कृति के पुनरुत्थान से ही पूर्ण होगी।

भारतीय संस्कृति की विश्व को देन—समस्त दक्षिण-पूर्वी एशिया ने भारत से ही अपनी संस्कृति ली। ईसा से ५वीं शताब्दी पूर्व में भारत के व्यापारी लंका में जाकर बस गये। अशोक के समय में तो बौद्धमत इस द्वीप पर पूर्णतया छा गया था, तब तक कई भारतीय व्यापारी मलाया, सुमात्रा और पास के अन्य द्वीपों में बस गये थे और वहां के निवासियों से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया। चौथी शताब्दी पूर्व में तो संस्कृत उन द्वीपों की राजभाषा बन गई थी और उन राज्यों की सामूहिक शक्ति के प्रमाण जावा में बोरोबदूर के स्तूप और कम्बोडिया के शैव मन्दिर देते हैं। चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत की संस्कृतियों पर भारत की छाप तो अमिट है ही।

संसार भर को भारत ने न केवल चावल, कपास, गन्ना, नील और मसाले दिये, वरन् शतरंज का खेल भी भारत की ही देन है।

मुख्य देन संसार को जो भारत ने दी है वह है शून्य (०) का अंक तथा शतोत्तर गणना-संख्याओं के लिखने की आधुनिक प्रणाली।* इससे पहले अंकों को भिन्न-भिन्न

* I shall now speak of the knowledge of the Hindus—of their subtle discoveries in the Science of Astronomy—discoveries, even more ingenious than these of the Greeks and Babylonians—of their rational system of Mathematics or of their methods of calculation, which no words can praise strongly enough—I mean the system using nine symbols.

—Severds Ebokht, an astrologer from Thailand during seventh century A. D.

चिह्नों द्वारा प्रदर्शित करने की रीति से बड़ी संख्याओं के लिखने में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। उदाहरणार्थ फिनीश्यन रीति से ९ को ||| ||| ||| नौ लम्बी लकीरों से लिखते थे। हमारे यहां यजुर्वेद संहिता अध्याय १७ मंत्र २ में १०००००००००००० (एक पर १२ शून्य) दस खरब तक की संख्या का उल्लेख है। जबकि यूनान की बड़ी से बड़ी संख्या का नाम 'मिरियड' था, जो १०००० थी और रोम की सबसे बड़ी संख्या का नाम 'मिल्ली' था जो केवल १००० थी। मोहनजोदड़ो में मिले सिक्कों के लेखों से भी यह निश्चित हो गया है कि मिस्र, यूनान आदि देशों से पूर्व भारतवासी संख्या को अंकों द्वारा लिखते थे। आर्यभट्ट का वर्गमूल बीजगणित, वर्गसमीकरण एवं घनमूल की देन भी भारत ही की है।

स्वयं अरबी लोग तो अंकों को हिंदसा कहते थे, क्योंकि उन्होंने हिन्दुस्तान से लिये और इनसे सीखने वाले पाश्चात्य लोग अंकों को 'अरेजिक नोटेसन' कहते थे। भारतीय अंक प्रणाली का प्रचार यूरोप में १५वीं शताब्दी में हुआ और १७वीं शताब्दी तक समस्त यूरोप ने इसे अपना लिया था।

पाई का मान $३\frac{११७}{१२५०} = ३.१४१६$ भारतीय आर्यभट्ट ने ही निकाला था। मोहम्मद बिन मूसा ने ९२५ ई० में पाई का मान देते हुए यह लिखा है कि यह मान हिन्दू ज्योतिषियों का दिया हुआ है।

पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर घूमने का रहस्योद्घाटन का श्रेय भी भारत को ही है। सूर्य तथा चन्द्रग्रहण के समय को बिल्कुल ठीक आंकने का श्रेय भी भारत-वासियों को ही है।

सबसे अधिक तो है भारत का अत्यधिक प्रभाव पश्चिम पर। भारत से कई विद्वान् मिस्र के बन्दरगाह सिकन्दरिया में व्यापारियों के साथ जा पहुंचते थे, तभी तो पाइथागोरस आदि विचारकों पर उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का प्रभाव पड़ सका। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में तो योरुप और अमरीका के विचारकों ने मुक्त कण्ठ से भारतीय दर्शन की सराहना की। गेटे (Goethe) ने सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) कृत शकुन्तला नाटक के अनुवाद से अपने ड्रामा Faust की भूमिका के लिए आधार प्राप्त किया। फिकटे और हेगल भारत के एकवाद के आधार पर एकेश्वरवाद (Monism) पर रचनाएं प्रस्तुत कर सके। अमरीका में भारतीय दर्शन के प्रभाव का थोरो और एमरसन ने बहुत ही प्रचार किया।

अब तो जबकि सारी दुनिया छोटी हो गयी है, इसके किसी भी कोने में केवल चन्द घण्टों में मनुष्य पहुँच रहा है, सबकी आंख भारत पर जमी है। अपनी आध्या-

अध्याय २

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता एवं संस्कृति

सर जान मार्शल की वार्षिक रिपोर्ट—भारत का जो अंग्रेजी ढंग से इतिहास लिखा गया उसके अनुसार २५०० ई० पूर्व से आर्यों का बाहर से आना मानते हुए वेदों का समय तत्पश्चात् ही माना जाता रहा। इस धारणा के विपरीत जो अनोखी बात सामने आ गई वह थी १९२२ ई० में भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा पंजाब और सिन्ध दो स्थानों में, हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खोज, जिसकी खुदाई में एक बड़ी प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेष पाये गये। इस नवीन महत्वपूर्ण खोज का श्रेय इस विभाग के डायरेक्टर जनरल सर जान मार्शल को मिला। इनकी सहायता पंजाब में श्री दयाराम जी साहनी ने और सिन्ध में श्री राखलदास बनर्जी ने की थी। अपनी २३-२४ की वार्षिक रिपोर्ट के द्वितीय अध्ययन में उक्त डायरेक्टर ने हर्षपूर्वक घोषणा की कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो ईसा से ३५०० वर्ष पूर्व के नगर थे।* पाश्चात्य विद्वान् इन्हें १५०० ई० पूर्व के भी मानने को तैयार न थे, परन्तु अब भौतिक प्रमाणों के सामने बाध्य होकर वे इनकी प्राचीनता को मिस्र (ईजिप्ट) और मेसोपोटेमिया की सभ्यताओं के समकालीन मानने लगे हैं।

---

*Now at a single bound, we have taken back our knowledge of *Indian civilization*, some three thousand years earlier, and have established the fact that in the third millennium before Christ, and even before that, the people of the Punjab and Sind were living in well built cities, and were in possession of a relatively mature culture with a high standard of Art & Craftsmanship and a developed system of pictographic writing.

There can be no longer any doubt that the *Punjab* and the *Sind antiquities* are closely connected and roughly contemporary with the Sumerian antiquities of Mesopotamia, dating third or fourth millennium before Christ.

—Survey of India Report 1923-24.

हड़प्पा रावी नदी के बायें किनारे, लाहौर-कराची लाइन पर मिन्टगुमरी जिले में, लाहौर से लगभग सवा सौ मील दूर है और मोहनजोदड़ो कराची से २५० मील ऊपर सिन्धु नदी के दायें तट पर सिन्ध के लाड़काना जिले में है। इनमें हड़प्पा का क्षेत्र बड़ा था, परन्तु विदेशी व्यापार के नाते मोहनजोदड़ो का ज्यादा महत्व था। इसकी खोज के अनुसार यह एक ही समृद्ध राज्य की पूर्वी तथा पश्चिमी दो राजधानियां थीं, जो एक-दूसरे से लगभग ४०० मील दूर थीं। बाद में उत्तर में सुदूर पश्चिमी बिलोचिस्तान में, दक्षिण में रंगपुर और लोथल (सौराष्ट्र) में और पूर्व में रोपड़ (पंजाब) में भी अनुरूप ध्वंसावशेष पाये गये हैं। यद्यपि इस सभ्यता का प्रभाव देश की सीमाओं को पार कर मेसोपोटामिया, ईरान तथा मिस्र तक पहुँच चुका था, उस सभ्यता का नामकरण संस्कार करने वालों ने इसे 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' नाम ही दिया। यह कहां तक ठीक है, कहा नहीं जा सकता। हां, ऐसा करके इस सभ्यता को आर्य सभ्यता से पृथक् करने की चेष्टा ही की गयी।

१९४७ में पाकिस्तान बनने से पहले तक मोहनजोदड़ो की निचली परतें, जो सिन्धु नदी के धरातल से भी ३० फीट नीचे रह गई थीं, खोदी नहीं जा सकी थी। उत्खनन कार्य में २००० से अधिक मुद्राएं मिलीं जिनकी लिपि अभी तक पढ़ी न जा सकी। पढ़ी जाने पर तत्कालीन स्थिति पर अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है। हड़प्पा की खुदाई में १९४६ में एक किले के भग्नावशेष मिले, जिसकी लम्बाई ४०० गज, चौड़ाई २०० गज तथा दीवारों की ऊंचाई ३० से ५० फीट तक पाई गई, पर इन भग्नावशेषों में विद्वानों के विचारों के अनुसार ऐसा एक भी चिह्न नहीं पाया गया, जिससे सिद्ध हो सके कि आक्रमणकारियों के द्वारा इस नगर का विध्वंस किया गया था। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार इस ध्वंस में प्रकृति के प्रकोप का ही हाथ रहा। शेरों और हाथियों की हड्डियों से पता चलता है कि उन दिनों सिन्ध मरुस्थल न था, बल्कि एक हरा-भरा जंगल था। सिन्धु और उसकी सहायक नदियों ने इस क्षेत्र को धन-धान्य से सम्पन्न कर रखा था।

नगरों की बनावट—ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पूर्व नियोजित योजना के अनुसार ये नगर बनाये गये थे। राजमार्गों की चौड़ाई ३३ फीट और छोटी सड़कों की २८ फीट थी जो एक-दूसरे को चौराहे पर समकोण पर काटती थीं। इन मार्गों पर बैलगाड़ियां चलती थीं। उन दिनों वर्षा अधिक होती थी, अतः यहाँ सघन जंगल थे और मकानों की छतें पक्की बनायी गई थीं। घरों से गन्दा पानी गली की ढकी हुई नालियों में ले जाया जाता था। नगर में नालियों की व्यवस्था सुन्दर थी। छोटी नालियां शहर की बड़ी नालियों में मिलती थीं और अन्त में विशालकाय नालों में से होकर नगर का सारा गन्दा पानी नगर से दूर बहाया जाता था। पानी के ऐसे सुन्दर

निकास को देखकर आजकल के इंजीनियर भी चकित रह जाते हैं। इस नियोजना की लन्दन विश्वविद्यालय के श्री ए० एल० बाशम ने बड़ी सराहना की है।* शहर की सफाई का ध्यान रखा जाता था। मकानों के बाहर कूड़ा डालने के स्थान निश्चित थे। गलियों में रोशनी के लिए आलोक-स्तम्भ थे।

भवन निर्माण—उस समय पत्थर वहां प्रायः नहीं मिलता था। बाहर से मंगाया जाता होगा। इसलिए भवन पक्की ईंटों से बनाये जाते थे। कम पक्की ईंटें छत या नींव में लगायी जाती थीं। दीवारों की चिनाई अच्छी पक्की ईंटों से गारे-चूने के साथ की जाती थी। पक्की ईंटें ११$\frac{3}{4}$ (५) २$\frac{5}{8}$ इंच के आकार की रहती थीं। घरों का निर्माण बाढ़ से बचने के लिए प्रायः ऊंचे धरातल पर किया जाता था। मकान दुमंजिले होते थे। सीढ़ियां संकीर्ण थीं। निवास की व्यवस्था ऊपर की मंजिल में रखते थे। नीचे का भाग भंडार घर या नौकरों के लिए छोड़ दिया जाता था। आंगन खुले और चौकोर थे। इनकी चौड़ाई प्रायः ३२ फीट की रहती थी जिसके चारों ओर छोटे-छोटे कमरे थे। इन कमरों में अल्मारियां भी होती थीं। रसोई-घर अलग बनाया जाता था। स्नानागार भी प्रत्येक मकान में होता था, जिसमें खड़े होकर स्नान करने का प्रबन्ध रहता था। इससे पता चलता है कि वे लोग स्नान को बहुत महत्व देते थे। प्रत्येक घर में छोटा, पर पक्का कुंआ होता था। शौचालय भी बनाये जाते थे। छत में शहतीरों का प्रयोग होता था। मकानों के मुख्य द्वार सड़क पर न बनाकर गली की तरफ और उन्हें बीच दीवार में न बनाकर कोने में बनाये जाते थे। रोशनदानों का भी रिवाज था, पर सुरक्षा के लिए खिड़कियां कम रखी जाती थीं। विशाल भवनों की दीवारों की ऊंचाई २५ फीट तक और चौड़ाई ५ फीट तक की पायी गयी हैं। मकानों में मजबूती और आराम का ध्यान अधिक और सुन्दरता का कम रहता था। इन सब बातों से पता चलता है कि प्राचीनकाल में भी भारत में रहन-सहन का स्तर बहुत ऊंचा था।

सार्वजनिक स्नानागार—मोहनजोदड़ो में सार्वजनिक स्नानागार आज तक सुरक्षित है। यह पक्की ईंटों का बना बाहर से १८० फीट लम्बा और १०८ फीट चौड़ा है। जल वाले भाग की लम्बाई ३९ फीट और चौड़ाई २३ फीट और गहराई ८ फीट है। उसमें स्नान के लिए उतरने को सीढ़ियाँ बनी हैं। इसकी दीवारें बड़ी मजबूत बनी हैं। ऊपर चारों ओर बरामदा है जिसमें कमरे बने हैं। समीप ही दो बड़े कूप पक्की ईंटों से बने हैं जिनके पानी से इसे भरने का प्रबन्ध था। जल गन्दा हो जाने

---

*The unique sewage system of the Indus people must have been maintained by some municipal committee, and is one of their most impressive achievements. No ancient civilization until that of the Romans, had so efficient a system of drains.

—A. L. Basham : Wonder, that was India.

पर बड़े नालों द्वारा बाहर निकाल दिया जाता था। साथ लगा हुआ एक हमाम है, जिसमें स्नान के लिए पानी गरम किया जाता था।

धान्यागार—हड़प्पा का धान्यागार बाढ़ से बचाव के लिए २०० गज लम्बे और १५० गज चौड़े एक ऊंचे प्लेटफार्म पर बनाया गया था। इसमें ५०×२० फुट के कोष्ठ अन्न को सुरक्षित रखने के लिए बने थे। यह अन्न तत्कालीन सरकार टैक्स के रूप में लेती होगी। उस समय कृषि की प्रचुरता होगी और लोग समृद्ध होंगे।

आहार तथा धन्धे—गेहूँ, जौ, मटर, सरसों तथा कपास की फसलें होती थीं। गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़, गधे, कुत्ते, सुअर आदि पशु पाले जाते थे। बैलों को हल जोतने तथा बोझ उठाने के काम में लाया जाता था। घोड़े थे, परन्तु कम। सूत लपेटने वाली नलकियों से पता चलता है कि रूई तथा ऊन काती जाती थी। सूती-ऊनी दोनों प्रकार के कपड़े पहने जाते थे। सब्जी, फल तथा खरबूजे खाते थे। मींग और छुहारों की गुठलियां भी मिलती हैं। गाय के रहने से दूध, दही तथा मक्खन के सेवन का भी पता चलता है।

धातु तथा आभूषण और कला—धातुओं की चादरें बनती थीं। स्वर्ण तथा चांदी के सुन्दर आभूषण तथा कानों की बालियाँ, गले के हार, पैरों के कड़े और मोतियों की मालाएं आदि बड़े बन्द मटकों में रखे बक्सों में सुरक्षित मिले हैं। हाथी-दांत की चूड़ियां तथा शतरंज के पासे भी मिले हैं। तांबे, टिन, पीतल, रांगे की वस्तुएं भी पायी गयी हैं। बर्तनों में कटोरे, थालियां, कलश, सुराहियाँ पायी गयीं, जो अधिकतर मिट्टी की थीं। उन सबकी चित्रकला से उन्नत स्तर की अभिरुचि का परिचय मिलता है। उस समय की सभ्यता के लिए बड़े गौरव की बात है।* नृत्य करती हुई नर्तकी की एक मूर्ति उनके नृत्य-कौशल का परिचय दे रही है। यह शिल्प-कला का अनुपम उदाहरण है। कुम्भ-कला के अतिरिक्त चर्म-कला के प्रमाण भी मिले हैं। कई प्रकार के खिलौने तथा मिट्टी एवं तांबे के बर्तन भी मिले हैं। मूर्तियां तथा तोल के लिए पत्थर के बने चौकोर बांट भी मिले हैं, जिससे तराजू के प्रयोग का पता चलता है। स्केल भी १३·२ इंच का रहा।

सामाजिक दशा—समाज चार भागों में बंटा था। विद्वान्, योद्धा, व्यापारी और श्रमजीवी।**

---

*At Harappa, Mohenjodaro, and other places we are confonted with an art of such high quality, that it may safely be said to be based on the accumulated artistic experience of ages.

—Shantiswarup : '5000 Years of Arts & Crafts in India & Pakistan' P. 21

** देखें डॉ० रतिभानुसिंह नाहर कृत भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ १६. (किताब महल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित)

वेशभूषा—नारियां नीचे घाघरा और कमर के ऊपर कमीज के रूप का कोई पहनावा पहनती थीं, परन्तु पुरुष कमर में एक कपड़ा बांधते और ऊपर केवल शाल ओढ़े रहते थे। नारियों में केश-सज्जा का शौक था। प्राप्त नारी-मूर्तियों की विभिन्न केश-रचनाएं हैं। वे शृंगार करती थीं। सुरमचु कंछिया बहुत मिली हैं। नृत्य-संगीत का शौक था।

औषधियों में शिलाजीत तथा नीम के पत्ते और हिरन के सींगों का प्रयोग होता था। शस्त्रास्त्रों में तलवारें, बरछियां, धनुष तथा तीरों का प्रयोग होता था।

आर्थिक दशा—आन्तरिक व्यापार कश्मीर व मैसूर तक था। व्यापारी नावों में बैठकर सुदूर विदेशों में मिस्र और बेबीलोन तक भी जाते थे। सुमेरियन मुद्राएं यहां और यहाँ की वहाँ बहुत पायी गयी हैं, जिन पर भारतीय देवी-देवताओं की मूर्तियाँ तथा गेण्डे, सांड आदि की आकृतियां हैं। खुदी हुई लिपि से उसकी लेखन-कला में पारंगत होने का प्रमाण मिलता है। प्रत्येक चिह्न किसी शब्द को प्रगट कर रहा है।

मृतक क्रिया—भस्म, अस्थि और कोयले से भरे हुए समाधि-पात्र पाये गये हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि मुर्दों को प्राय: जलाया जाता था। हड़प्पा में समाधि तथा श्मशान भी मिले हैं। यह सब उनकी विकसित संस्कृति का ही प्रमाण है।

धार्मिक अवस्था—(१) नासिकाग्र दृष्टि—ऐसी मूर्ति पायी गयी है, जिसकी दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित है। यह दृष्टि भारतीय योगविद्या का एक महत्वपूर्ण अंग है। जैसा कि गीता के छठे अध्याय के १३वें श्लोक में है। अन्य ग्रीक, रोम आदि देशों के कलाकार इस अन्तर्दृष्टि का प्रयोग जानते ही नहीं थे।

(२) शिव तथा शक्ति की पूजा—मूर्ति कला के जो थोड़े से नमूने मिले हैं उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय शिव और शक्ति की पूजा का विधान था और योग-पद्धति का प्रचलन था।*

यहां यह बतला देना अप्रासांगिक न होगा कि शिवलिंग-पूजा वैदिक है, पौराणिक है। इसमें किसी असद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। यह विंटरनीज का

---

*Certain large, smooth, cohesive stones, unearthed at Mohenjo-daro and Harappa, were undoubtedly the Lingas of these days. This association (with the worship of Siva) however seems more probable.

—The Indus Civilization by Macuar Pp. 77-78.

मत है।* इसके अतिरिक्त प्राचीन सभ्यता के विख्यात आलोचक डॉ० डुरांट लिखते हैं कि हिन्दू उपासना पद्धति में शिव-पूजा सबसे अधिक तपस्या और संयम-साध्य है। लिंगायत लोग शिवलिंग के श्रेष्ठ भक्त और पूजक हैं। भारत में उनका सम्प्रदाय बहुत संयमशील है।**

(३) मोहनजोदड़ो के इन ध्वंसावशेषों में एक चित्र भी मिला है जिसमें एक पीपल के वृक्ष की शाखा पर दो पक्षी बैठे हुए हैं। एक के मुंह के पास फल है, दूसरे के पास कुछ नहीं। सम्भवतः यह चित्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त का भाव दरसा रहा है, जिसका प्रतीकार्थ यह है कि दो पक्षी शरीर में स्थित ईश्वर और जीव हैं। जीव खाता-पीता तथा कर्मफल भोगता है, दूसरा ईश्वर का साक्षीमात्र है, अकर्ता, अभोक्ता।

(४) पीपल के वृक्ष और सांप की पूजा होती थी।

(५) समाज के चार विभागों का उल्लेख जो ऊपर किया गया है, वैदिक वर्णानुसार ही है।

(६) मुहरों पर आर्य-देवताओं की मूर्तियां हैं। यह भी वैदिक संस्कृति का ही प्रमाण है।

(७) श्मशान का होना वैदिक रीति-अनुसार ही है।

(८) वैदिक काल के आरम्भ में प्रकृति-पूजा थी, मन्दिर नहीं थे। यहाँ ध्वंसावशेषों में मंदिर निकले है, जिनमें मूर्तियाँ नहीं हैं। दोनों नगरों के खण्डहरों में बहुत से अग्निकुण्ड पाये गये।

(९) वैदिक काल के सत्ययुग मे लोग इतने संयमी होते थे कि इन्हें बाह्य नियमों को लागू करने के लिए सरकार की आवश्यकता नहीं थी और यदि न्यूनाधिक थी तो कुटुम्ब के मुखिया के रूप में। आगे चलकर इसी ने बृहत्तर रूप में राज्यों का रूप धारण कर लिया। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो का वर्णन तो नागरिक सभ्यता की चरम सीमा तक पहुंचा दीखता है।

---

*The Linga Cult certainly bears no trace of any Phallic cult of an obscene nature.

—Winternitz : Indian Literature Vol. I. P. 509.

**The worship of Siva is one of the most austere and ascetic of all the Hindu Cults and the devoutest worshipper of the Linga are the Lingayats, the most puritanic sect in India.

—Dr. Durant P. 519.

विश्व की प्राचीन सभ्यता में स्थान—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है वि सर मार्शल ने इस सभ्यता को बेबीलोनिया और मिस्र की सभ्यताओं के समकालीन ठहराया, पर ए० एल० बाशम ने तो लकड़ी काटने की आरी को लेकर इस भारतीय सभ्यता को एक तरह से आगे बढ़ा दिया।* अपनी पूर्वोक्त रिपोर्ट में सर जान मार्शल अपना यह विचार प्रकट करते हैं कि यदि उन विद्वानों को ठीक मान लिया जाये, जो यह मानते हैं कि सुमेरियनों ने बेबीलोनिया में घुसपैठ की थी तो यह भी इंगित होगा कि वे स्वयं भारत की गोदी में पले थे और तब कहीं, वे पश्चिमी एशिया की अन्य सभ्यताओं की नीव रख सके।** बम्बई विश्वविद्यालय के श्री चि० कुलकर्णी ने श्री एफ० ई० पर्जीटर का हवाला देते हुए अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३६ पर लिखा है "आर्यों ही ने भारत से बाहर जाकर सुमेरिया, मिस्र और ईरान की सभ्यताओं को प्रभावित किया।*** अतः विश्व भर की सभ्यताओं में सबसे पहली, भारतीय सभ्यता को बतलाते हैं।**** अतएव हो सकता है कि श्री चि० कुलकर्णी जी के कथनानुसार

---

*In one respect the Harappa people were *technically in* advance of their contemporaries—they had devised a saw, with undulating teeth, which allowed the dust to escape freely from the cut, and much simplified the carpenter's task.

—A. L. Basham : The Wonder That was India P. 21.

**If, therefore, these scholars are right who consider the Sumerians to have been an intrusive element in Mesapotamia *then the* possibility is clearly *suggested of India, proving ultimately* to be the cradle of their civilization, which in its turn, lay at the root of Babylonian, Assyrian and Western Asiatic culture generally.

—Survey of India Report 1923-24.

***On our evidence of the Puranas, scholars like F. E. Pergita *have shown that the Aryas went out of India,* and *settled in different* parts of the earth. This view is further supported by the evidence of common place names—of goddesses, rulers, social systems and religious beliefs and practices of the people of Sumeria, Egypt, Persia and other ancient civilizations.

—C. Kulkarni : Ancient Indian History & Culture.

****The antiquity of Indian civilization has been pushed back considerably, and some scholars hold the view that the Sindhu Valley Civilization is the earliest Civilization in the world.

—Ibid. P. 18.

हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की सभ्यता वैदिक सभ्यता का अंग हो ।*

संक्षेपत: सिन्धु घाटी की सभ्यता एक विशिष्ट वातावरण के साथ मानव-जीवन के एक बहुत पूर्ण समायोजन का, जो वर्षों के धैर्यपूर्ण प्रयास का ही प्रतिफल हो सकता है, प्रतिनिधित्व करती है । यह सभ्यता काल की कसौटी पर खरी उतरी यह पहले से ही विशेषत: भारतीय है और आधुनिक भारतीय संस्कृति के लिए आधार प्रस्तुत करती है ।**

---

*The Sindhu valley civilization is only a part of the vedic civilization'

(Ibid. P. 38)

**New Light on the most ancient East—Prof. Child (1934) Page 220.

अध्याय ३

वैदिक काल—आर्य धर्म और संस्कृति

भारतीय सभ्यता का द्वितीय चरण वेदकाल है। इसे ऋग्वेद-काल भी कह सकते हैं।

प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव—भारत की प्रकृति ने जो अलौकिक वैभव प्रदान किया है, उससे भारतीय मनीषियों को बहुत प्रेरणा मिली। विराट् हिमालय के हिमाच्छादित शिखर, उसकी हरी-भरी उपत्यकाएं, उससे निकलने वाले निर्झर, नदियां, शेष तीनों ओर से मेखला सदृश घेरने वाले शान्त रत्नाकर का प्रभाव था जिससे भारतीय द्रष्टा, चिन्तक कवि बन गये। यहां उर्वरा भूमि के कारण उदरपूर्ति की समस्या कभी उठी ही न थी। जीवनोपयोगी पदार्थ भारतवासियों को अत्यन्त सरलता से अनायास ही मिलते रहे। अतः शारीरिक आवश्यकताओं की सामग्री जुटाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न की आवश्यकता न रहने से आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति बढ़ी और वे निश्चिन्त होकर अपना ध्यान परमार्थ-चिन्तन की ओर लगा सके। इस प्रकार प्रकृतिदत्त पृथकता से अन्तर्मुखी स्वभाव बनने लगा। इसी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ने हृदय की पवित्रता में सहायता दी और उनके निर्मल हृदयों में अपौरुषेय ज्ञान की ज्योति का प्रकाश हो सका; क्योंकि ज्ञान अपने शुद्ध रूप में अपौरुषेय है। इसी शुद्ध ज्ञान भण्डार को वेद की संज्ञा दी जाती है।

वेद का अर्थ—वेद शब्द की व्युत्पत्ति विद् धातु से हुई है। 'विद्' का अर्थ 'जानना', 'अनुभव करना' है। स्वतः सिद्ध सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी के रूप में अपौरुषेय ज्ञान का नाम 'वेद' है।

श्रुति—वेद मन्त्रों का दूसरा नाम श्रुति है। श्रुति का अर्थ है 'सुना हुआ'। जो नित्य ज्ञान है वह अनादि परम्परा से श्रवण के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वेद भगवान् के निःश्वास हैं। सृष्टि के आदि में स्रष्टा (ब्रह्मा) ने उन जगदीश्वर के निःश्वासों को सुना। ब्रह्मा से आदि प्रजापतियों ने सुना और इस क्रम से यह ज्ञान-परम्परा चली।

गुरु-शिष्य अथवा पिता-पुत्र द्वारा श्रवण की प्रथा के कारण ही इसका नाम 'श्रुति' पड़ गया।

प्रतिभावान् ऋषि ही मन्त्र-द्रष्टा हैं। वे वेदमन्त्रों के निर्माता नहीं थे। उन्होंने वेद-मन्त्रों का दर्शन, साक्षात्कार किया था। वे तत्त्ववेत्ता और मर्मज्ञ हैं, तभी तो वे अपनी अनुभूतियों को जन-सुलभ करने में निमित्त बन सके। वेद-वाणी परमात्मा की अपनी वाणी है, किसी महापुरुष या पैगम्बर की नहीं। इसी कारण यह अपौरुषेय कहलाती है।

चतुर्वेद—वेद चार हैं—१. ऋग्वेद २. यजर्वेद ३. सामवेद तथा ४. अथर्ववेद।

वेद तो वस्तुतः एक ही है। पहले श्रुति की ऋचाओं का एकत्र रूप न था। श्रीकृष्ण द्वैपायन जी ने, जिनको बादरायण नाम से भी याद किया जाता है, प्रथक परिश्रम करके भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा सुनी गयी ऋचाओं का संग्रह किया और उन्हें क्रम देकर मुख्य विषयों के अनुसार चार भागों में विभाजित किया। तभी से उनका नाम वेदव्यास पड़ गया और तब से वेदों की संख्या चार मानी जाने लगी। वेदों में सम्पूर्ण ज्ञान के सूत्र निहित हैं। ये ईश्वरीय मूल ज्ञान के रूप हैं। उनके अक्षर एवं शब्द नित्य हैं। इनसे अतिरिक्त ज्ञान और है ही नहीं।

वेदों का स्वरूप—प्रत्येक वेद के चार भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्।

संहिता—संहिता का अर्थ है संग्रह अथवा संकलन। संहिता भाग में मन्त्रों का संग्रह है। मन्त्र ये हैं जो ऋषियों के मनन द्वारा प्रकट हुए और जिनका अर्थ मनन से स्पष्ट है तथा जिनका उच्चारण करके किये हुए जप, हवन, पूजन आदि देवताओं की प्रीति के सम्पादक के कारण होते हैं।

ब्राह्मण—जिन श्रुतियों में कौन सा मन्त्र किस कार्य में प्रयुक्त होना चाहिये इसका उल्लेख करके मन्त्रों की विशेष व्याख्या की गयी है, उनको ब्राह्मण कहते हैं। ये सब गद्य में हैं। ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्म या वेद का ज्ञान। चार वेदों के चार ब्राह्मण हैं: ऋग्वेद का ऐतरेय, यजुर्वेद का शतपथ, सामवेद का साम, अथर्ववेद का गोपथ। किन्तु इसका यह भाव नहीं है कि इनके अतिरिक्त मन्त्र ब्राह्मण है ही नहीं।

ब्राह्मणों में यज्ञ के प्रकार और उनके अनुष्ठान की सम्यक् विधि दी गयी है, इसी से लोग इन्हें वेदों का कर्मकाण्ड कहते हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए ब्राह्मणों में बहुत से दृष्टान्त तथा आख्यायिकाएँ व कथाएँ हैं। इसी से कुछ लोग इसे वेदों का इतिहास भी कहते हैं, किन्तु ब्राह्मणों में इतिहास का आभास मात्र है जो कि वेदमन्त्रों को स्पष्ट करने के लिए ही उनके अनुसार कथा के रूप में वर्णन किया है।

आरण्यक—ब्राह्मणों के जिन अंशों पर वानप्रस्थी अधिक विचारविमर्श की आवश्यकता समझते हैं, उनको अरण्यक भाग में लिया गया है। इन पर वन या अरण्य में चिन्तन करने से यह नाम पड़ा। इनमें उपासना काण्ड की महत्ता दर्शायी गयी है, पूजादि की प्रणाली वर्णन की गयी है।

उपनिषद्—जो आरण्यक में भी अति गहन और गम्भीर विषय है, जिनपर और अधिक मनन-चिन्तन की आवश्यकता है, वे उपनिषद् भाग में रक्खे गये हैं। ये जीव और ब्रह्म के ज्ञान पर बल देते हैं।

ऋग्वेद—इस वेद में गायत्री आदि छन्दों के रूप में मन्त्र अधिक संख्या में है इन मंत्रों से यज्ञों में होत्र नामक कर्म सम्पादित होता है।

यजुर्वेद—इसमें भिन्न-भिन्न क्रियाओं पर विशिष्ट पद्धति से गीतयुक्त मन्त्र हैं। ऋग्वेद के बहुत से मन्त्र इसमें आ गये हैं। इसका उच्चारण विशिष्ट रीति से होता है।

सामवेद—इसके मन्त्र अध्वर्यु (यज्ञ का एक ऋत्विक्) पढ़ कर यज्ञकर्म कराता है। यह एक साथ मिलाकर पढ़े जाते हैं और प्रायः छन्द विशेष के नहीं होते।

अथर्ववेद—उपास्य देवताओं की उपासना के अनेक मन्त्रों का समूह इसमें है। इसमें उपर्युक्त तीनों वेदों के अर्थ स्पष्ट किये गये है। कुछ विद्वान् इनको स्वतन्त्र वेद के रूप मे नहीं मानते। ऐसे लोग वेदों की संख्या तीन मान कर इनको वेदत्रयी कहते है।

वेदमन्त्र का ऋषि—जिन ऋषि ने हृदय की गम्भीर एकाग्रता से जिस मन्त्र के अर्थ का साक्षात्कार किया वही उस मन्त्र का द्रष्टा कहलाया। वेदार्थ का साक्षात् व्याकरण की वस्तु नहीं, यह महान् तप के बल से प्राप्त होता है। ऋषियों को भी एकाग्रचित्त होने से ही मन्त्रदर्शन हो गया।

वेदमन्त्र का देवता—ऋषि लोग, जिस देवता की, जिस मंत्र से, उस मन्त्रार्थ के दर्शन की इच्छा से स्तुति करते हैं, वही उस मन्त्र का देवता होता है। उसी देवता का एकाग्र मन से ध्यान करने पर देवता से प्रसाद रूप में मन्त्र-दर्शन मिला। उस मन्त्र में उसी देवता का स्वरूप-आराधना, प्रभाव एवं स्थूल जगत् में उनका कार्य वर्णित है। इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र का एक अधिष्ठाता देवता होता है। तभी प्रत्येक मन्त्र के देवता का नाम मन्त्र के साथ दिया जाता है जिससे पता चल सके कि मन्त्र स्वाध्याय के समय कैसी दैवी शक्ति का साक्षात्कार होगा।

प्रत्येक ध्वनि का व्यक्त रूप कम्पन का परिणाम है और प्रत्येक कम्पन में एक शक्ति-स्रोत रखता है तथा अव्यक्त मे एक साकार आकृति बनाता है। इसी साकार आकृति का शक्ति-स्रोत उसका अधिष्ठाता देवता है।

मन्त्रों के छन्द—मन्त्र के स्वरात्मक रूप की रचना छन्द से होती है। छन्द दर्शन में भी सहायक होता है। छन्द का अर्थ है विशेष प्रकार की मन्त्र-स्वर योजना। यह मूल स्वर बना रहना अत्यावश्यक है। स्वर-भंग से मन्त्रों में दोषागम की सम्भावना हो जाती है। छन्दों के द्वारा ही स्वर का निश्चय होता है।

वेदों का अध्ययन और अध्यापन—जैसा कि पहले लिखा गया है कि मन्त्रोच्चारण में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है, इसलिए वेदों के अध्ययन-अध्यापन में शुद्ध उच्चारण पर अधिक बल दिया जाता रहा है। यही कारण है कि गुरु-शिष्य से मन्त्र कण्ठ करके पढ़ने-पढ़ाने की यह प्रथा चलती आयी है। आज भी काशी तथा नासिकादि कतिपय तीर्थ-स्थानों में वेदपाठी ब्राह्मणों ने इस पुण्य प्रथा को उज्जीवित कर रक्खा है। उन्हें हजारों वेद-मन्त्र कण्ठस्थ हैं। पाठ में एक मात्रा भी इधर से उधर नहीं होती। इन ब्राह्मणों की स्मरण-शक्ति ने पाश्चात्य विद्वानों को भी चकित कर दिया है। श्री ए० एस० बाशम ने मुक्तकण्ठ से इनकी स्मरण-शक्ति की सराहना की है।

शाखाएं—वेदपाठी ब्राह्मणों की स्मरण-शक्ति अदभुत थी, जिसकी रक्षार्थ वर्णधर्म में रक्त तथा संस्कारों के शुद्ध रखने पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक समझा गया। पर इसमें छन्दों की बड़ी सहायता रही। त्रिकालदर्शी ऋषियों ने चारों वेदों के मन्त्रों को छन्दों के क्रम से बाँट लिया। इसी प्रकार प्रत्येक देवता और ऋषि के मन्त्र भी पृथक तथा क्रमबद्ध कर लिए गये। मन्त्रों को विषय के अनुसार भी एकत्र किया गया। इन्हीं को शाखाओं की संख्या दी गयी है। जब तक एक भी शाखा है, वेदवाणी सुरक्षित रहेगी।

प्रथा के अनुसार ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०६, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ५० शखाएं हैं। अतः कुल शाखाएँ ११८० हुई। अतएव उपर्युक्त विधि से शाखाओं का सम्पादन-क्रम सम्पन्न हुआ। तभी तो आक्रमण-कारियों द्वारा शाखाओं के नष्ट-भ्रष्ट कर दिये जाने पर भी कोई वेदांश अप्राप्य नहीं हुआ है। केवल सम्पादन-क्रम अप्राप्य हो गया। चारों वेदों की एक-एक शाखा भी शुद्ध प्राप्त होने से चारों वेदों की मूल वाणी सुरक्षित है। अतः आज भी ऋग्वेद की शाकल शाखा यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा और अथर्व की शौनक शाखा की मूल के रूप में शुद्ध प्राप्त होने के विषय में किसी को आपत्ति नहीं है। अतः इन शाखाओं के रूप में चारों वेद वाणी के वास्तविक रूप में आज भी उपलब्ध है।

ऋग्वेद

मुख्य विषय—ऋग्वेद तो अगाध सागर है। इसके दार्शनिक तत्त्व का ज्ञान पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त और हिरण्यगर्भ सूक्त में विस्तारपूर्वक आ जाता है। इन सूक्तों में ऋग्वेद के परम तत्त्व की सत्ता के ज्ञान की विचारधारा अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है। इतिहास में पहली बार यह घोषणा सुनते हैं कि सारी सृष्टि का रचयिता एक ही है। यह महत्वपूर्ण विचार इस ऋचा में इस प्रकार वर्णित है। **एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति** अर्थात् सत्य एक ही है, विद्वान् लोग इसकी कई प्रकार से व्याख्या करते हैं।

आज के एकत्व विज्ञान का स्रोत यही उक्ति है। उसी तत्त्व को सबमें देखने की उत्तम शिक्षा की आवश्यकता है, जितनी आज के संसार को पहले कभी नहीं थी।

पुरुष सूक्त—जिस प्रकार व्यक्ति में उसी प्रकार समष्टि में ही अखण्ड चेतना की सत्ता विद्यमान है। प्रति पदार्थ चेतन तत्त्व था, है और रहेगा। जो दीख रहा है वह सब सहस्र शीर्ष विराट पुरुष का ही विभिन्न रूप है। सारा मानव-समाज एक ही विराट स्वरूप का अंग है। इन मन्त्रद्रष्टाओं ने भी इस सृष्टि से उतना ही प्यार किया जितना स्वयं परमात्मा से, क्योंकि वे सब में उसी एक के दर्शन करते थे। मानव-समाज की सुदृढ़ता के लिए समाज को आध्यात्मिक, सैनिक, आर्थिक और श्रम विभाग में बाँटने की चर्चा भी पुरुष सूक्त में ही आती है।

यज्ञप्रथा की विशेषता को जिसमें आत्मसमर्पण की शुभ भावना भी काम करती हैं इसी सूक्त में सुन्दर रूप में दर्शाया गया है। मनुष्य तथा देवतागण सदैव अपने जीवन के हर कार्य में निरन्तर इस महान् यज्ञ में आहुति डाल रहे हैं।

जीवन की सफलता यज्ञ की पूर्ति में है। हमें दूसरों के लिए जीना चाहिए। इसी शिक्षा को आज भी पुरुष सूक्त बराबर दे रहा है। साथ ही इस पर भी बल दिया जा रहा है कि मनुष्य अन्त में अपने भाग्य का विधाता स्वयं है।

पुरुषसूक्त बताता है कि मनुष्य इस मानव-सागर में कोई एक द्वीप नहीं जो अलग-अलग रह सके। सारी सृष्टि में वह एक ही स्वरूप रम रहा है। हम सब उस एक ही अंग हैं।

नासदीय सूक्त—इस सूक्त में वर्णन किये हुए सृष्टि की रचना के आरम्भ के वर्णन का भावानुवाद एक कवि के शब्दों में देखिए—

असत् नहीं उस प्रलयकाल में सत् भी नहीं कारण।
हुआ भूमि पाताल प्रभृति भुवनों की सत्ता का वारण॥
अन्तरिक्ष भी नहीं, नहीं वे स्वर्गादिक रह गये प्रदेश।

क्या आवरण, कहां, किसके हित, गहन गम्भीर नीर था शेष ।।
मृत्यु नहीं थी, नहीं अमरता, रात दिवस का ज्ञान नहीं ।
था चेतन बस एक तत्त्व ही, है जिसके मन प्राण नहीं ।।
था तमस के साथ विराजित एकमात्र ही सत्तावान ।
विद्यमान थी वस्तु यहाँ पर उससे भिन्न न कोई आन ।।
जिस विभु से इस विविध सृष्टि का हुआ प्रकट अतिशय विस्तार ।
वही इसे धारण करता है रखता यह कि बिना आधार ।।
जो इस जग का परम अधीश्वर रहता परम व्योममय देश ।
वही जानता या न जानता नहीं अन्य का यहाँ प्रवेश ।।

—ऋग्वेद १०-१२९-१, २, ७

सृष्टि रचते समय और कोई नहीं था जो आखों देखी लिखकर छोड़ जाता इस ऋचा के अन्त में हास्यपूर्ण ढंग से यह बताया गया है कि सम्भव है कि स्वयं रचयिता को इसका ज्ञान न रहा हो । मूल आरम्भ का ज्ञान किसी को भी नहीं ।

हिरण्यगर्भ सूक्त—परम सत्ता के एक दूसरे स्वरूप हिरण्यगर्भ को सृष्टिकर्त्ता मानकर हिरण्यगर्भ सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति वतलाते हुए कहा नया है कि सृष्टि-रचना से पूर्व हिरण्यगर्भ वर्तमान थे, वही सबके आश्रयदाता और परम पिता हैं और हमारी पूजा के अधिकारी हैं । वास्तव में इन दोनों वर्णनों में कोई मतभेद नहीं है, अन्तर केवल नाम का है ।

वैदिक काल में भारतीय संस्कृति

वैदिक युग के आर्यो की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक दशा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बातों के ज्ञान के लिए हमें वैदिक संहिता ब्राह्मण-ग्रन्थ उपनिषदों का आश्रय लेना होगा ।

पारिवारिक जीवन—परिवार का दूसरा नाम कुल था और पिता को गृहपति या स्वामी माना जाता था । पिता के पश्चात् पुत्र अधिकारी होता था । गोद लेने की भी प्रथा थी ।

विवाह-प्रणाली—अधिकांश एक पत्नी होती थी । यद्यपि बहुपत्नीत्व की प्रथा भी कहीं-कहीं पायी जाती थी । कन्याओं को वर चुनने की स्वतन्त्रता थी, राजकुमारियों के लिए स्वयंवर रचाये जाते थे । विधवा-विवाह अधिक नहीं होते थे । अन्तर्जातीय विवाह को पसन्द नहीं किया जाता था । बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी । लड़कियाँ भी ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर बड़ी होकर विवाह-सूत्र में बंधना पसन्द करती थीं । ये भी उच्च शिक्षा की अधिकारिणी थीं । गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषियों का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है ।

स्त्रियों की स्थिति—स्त्रियां विद्याध्ययन करने के पश्चात् गार्हस्थाश्रम मे प्रवेश करके माता का गौरवमय पद प्राप्त करती थीं। विवाह के समय जो प्रतिज्ञाए ली जाती थीं, उनका पालन पति-पत्नी दोनों करते थे। विवाह-विच्छेद का अवसर नहीं आने देते थे।

देशभूषा—पुरुष धोती, चादर तथा पगड़ी का प्रयोग करते थे। ऊनी सूती दोनों प्रकार के वस्त्र ऋतु के अनुसार पहनते थे। स्त्रियों में केश-विन्यास की प्रथा थी। वे सोने-चांदी के आभूषण अधिक पहनती थीं।

आहार—रोटी गेहूं और जौ दोनों की बनती थी। सोमरस पीने की प्रथा थी।

आर्थिक स्थिति—आर्य कृषि में रुचि रखते थे। खाद का प्रयोग जानते थे। सिंचाई वर्षा पर निर्भर होती थी। अनावृष्टि होने पर छोटी-छोटी नहरें भी बना लेते थे। साथ में पशुपालन भी होता था। गाय, बैल, भेड़, बकरी और घोड़ा आदि पाले जाते थे। उनका मान पशुधन से आंका जाता था। गो को माता के समान पूजते थे।

लुहार, बढ़ई, मोची, सुनार, जुलाहे आदि के धन्धे थे। कपास की खेती करते और रुई कातने की क्रिया जानते थे। भवन-निर्माण कला में भी उन्नति हो रही थी। व्यापार के लिए वस्तु-विनिमय का प्रयोग होता था। नौका बनाना भी जानते थे। सामुद्रिक व्यापार का आरम्भ हो चुका था। फिनीशिया से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

राजनीतिक व्यवस्था—वेद की 'संगच्छध्वं' अर्थात् मिलकर रहो की आज्ञा के अनुसार अपने संगठन को एक बड़ा परिवार मानकर चलते थे, जिसमें एक मुखिया का शासन होता था। जनता राजा को चुनती थी। राजा प्रण करता था कि वह प्रजा की पुत्रवत् रक्षा करेगा। उसकी सहायतार्थ दो संस्थाएं— सभा और समिति—होती थीं। समिति का अपना अध्यक्ष होता था जिसे 'ईशान' कहते थे। सभा समिति की अपेक्षा छोटी होती थी। सभा के सभासदों का निर्णय अपने पक्ष में कराने के लिए प्रार्थनाएं की जाती थीं। सभासद भी अपने उत्तरदायित्व को समझते थे। सभा में जाते समय सत्य पर दृढ़ रहते, कहते कि पाप के भागी न बनें। राजपद देने के समय राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था। राजा धर्मसूत्रों के अनुसार ही दण्ड का विधान करता था।

वैदिक धर्म—वैदिक कालीन भारतीयों का विचार था कि प्रकृति में अनेक शक्तियों के रहते हुए उनका अधिष्ठाता देवता भी होना चाहिए। अतः वे इन शक्तियों को देवताओं के रूप में मानकर पूजा करते थे, जिससे उनका देवता प्रसन्न होकर उनकी कामनाओं की पूर्ति करे। पुराकालीन भारतीयों ने देवताओं को तीन भागों में बांटा था :—

१. द्युलोक के देवता—सूर्य, वरुण, विष्णु, मित्र,
२. अन्तरिक्षलोक के—पर्जन्य, वायु, इन्द्र, मरुत्,
३. पृथ्वीलोक के—पृथ्वी, उषा, अग्नि तथा सोम आदि

इन सबके होते हुए उनका दृढ़ विश्वास था कि परमात्मा की मूल सत्ता एक ही है। ऋग्वेद के मण्डल १० में लिखा है—"परम सत्ता तो एक ही है, उसी को इन्द्र, वरुण, मित्र और अग्नि यमादि के नाम से पुकार लेते हैं। यही मूल सत्ता भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। अनेकता में एकता है।

इनकी पूजा के लिए यज्ञों का विधान हुआ, जिनमें घी, दूध और अन्नादि की आहुतियाँ दी जाती थीं। गो को अवध्य मानकर आदर का पात्र मानते थे।

कर्म और पुनर्जन्मवाद—जो कुछ हम करते हैं, उसकी प्रतिक्रिया भी कर्म है। कर्म से कर्म का फल पृथक् नहीं माना जा सकता। कर्मवाद का अभिप्राय कार्यकारण-वाद लेना चाहिए। 'कर्म-चक्र-प्रवर्तन' का यह सिद्धान्त बौद्ध और जैन धर्म में भी प्रतिपादित हुआ। संसार में कोई शक्ति ऐसी नहीं जो कर्मफल को रोक सके। जैसा बीज बोया जाता है, वैसी ही फसल काटनी पड़ती है, हमारे अतीत कर्मों ने वर्तमान को बनाया और वर्तमान कर्म हमारे भविष्य का निर्माण कर रहा है। इस संसार में सब कुछ पूर्व निर्धारित और सुव्यवस्थित है।

इस कर्म और कारणवाद के सिद्धान्त के साथ ही पुनर्जन्म अथवा जीव के देहान्तरगमन का बहुमान्य सिद्धान्त जुड़ा है। जैसे कर्म किये गये हैं, उनका फल भोगने के लिए दूसरा जन्म अवश्यमेव लेना पड़ता है। यह तथ्य बीज रूप में वेदों में मिलता है।

वेदों का महत्व—आज प्रायः सभी देशों के विद्वान् यह मान गये हैं कि वेद सम्पूर्ण ज्ञान जगत् का प्राचीनतम लेखबद्ध ग्रंथ है, जिस संस्कृति का ऋग्वेद में वर्णन मिलता है, वह बहुत ऊंचे स्तर की है। यह विश्वास भी दृढ़ हो चला है कि विश्व-प्रेम और विश्व-शान्ति की स्थापना का उद्देश्य वैदिक संस्कृति अपनाने से ही पूर्ण होगा। यह वैदिक संस्कृति ही घोषित कर सकती है :—

ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

—यजु० ४०।१.

हे मानव! इस विशाल परिवर्तनशील विश्व में जो कुछ गतिविधि है, उस सब पर परमेश्वर का नियन्त्रण है। इस वरदान का त्याग की भावना से उपयोग कर। किसी अन्य के भाग को भोगने का लोभ न रख।

आदरणीय श्री पोप पाल के शब्दों भी, जो वेटिकन सिटी में २५ सितम्बर

१९६७ को छपे एक लेख से लिये गये हैं, भारत के अध्यात्मवाद को बहुत सराह गया है।

'India is a spiritual country. It has in its nature a sense c the Christian virtues.

If there was any country in which the beatitudes of the Sermo of the Mount could ever become a reality for the masses, that countr was India. Purity of the heart, peace, mercy and sweetness are ver dear to Indians.

While the leaders of the West were politicians, in the lands o India, they were mystics and sages. Life runs in contemplation…… These are countries born for the spirit.

श्री जकोलियट नामक प्रसिद्ध विद्वान् अपने 'The Bible in India' नामक ग्रन्थ में अनेक मतों की सृष्ट्युत्पत्ति विषयक कल्पनाओं का उल्लेख करके वैदिक विचार के बारे में निम्न उद्गार प्रकट करते हैं :—

"Astonishing fact ! The Hindu Revelation (veda) is of all revel ations, the only one, whose ideas were in prefect harmony with modern science, as it proclaims the slow and gradual formation o the world."

अर्थात् यह एक बड़ी आश्चर्यजनक बात है। ईश्वरीय धर्म-ग्रन्थों में एकमात्र वेद ही ऐसा है जिसके विचार वर्तमान विज्ञान के साथ पूर्ण साम्य रखते हैं क्योंकि वेद में भी विज्ञान के अनुसार विश्व की क्रमिक रचना का प्रतिपादन है।

अमरीकन महिला ह्वीलर विल्लाक्स (Mrs. Wheeler Willox) कहती है :—

"We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great Vedas, the most remarkable works, containing not only religious ideas in a perfect life, but also facts, which all Science has since proved true. Electricity, Radium, Elect-rons, Airships, all seem to be known to the seers who found the Vedas."

अर्थात् हम लोगों ने भारत के प्राचीन धर्म के विषय में पढ़ा है और सुना है। भारत इन अत्यन्त महत्वपूर्ण वेदों की भूमि है जिसके अन्दर न केवल पूर्ण जीवन के पूर्णत्व के लिए धार्मिक तत्वों का निरूपण है, वरन् उन तथ्यों का भी निर्देश है, जिनको सारे विज्ञान-शास्त्र ने सत्य प्रमाणित किया है। वैदिक ऋषियों को विद्युत्-शक्ति, रेडियम, इलेक्ट्रोन तथा वायुयान इत्यादि सब बातों का ज्ञान था, ऐसा प्रतीत होता है।

फ्रांस के सुविख्यात योगी भी 'महान् भारत' के पृष्ठ ३६३ के अनुसार स्वीकार ते हैं कि वर्तमान विज्ञान केवल उन्हीं सिद्धान्तों को पुनः प्रस्तुत करता है जो वेदों र्णित है।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राली विसन ने भी जिन वेद-मन्त्रों का उद्धरण देकर ीन भारत के जहाजी बेड़े का परिचय दिया है। उनमें से एक स्वयं अपने बल से ने वाला, अन्तरिक्ष में गति करने वाला जहाज है। (Intercourse between dia and the Western World—Page 4)

प्रोफेसर मैक्समूलर अपने Biographical Essays में लिखते हैं :—

"To Swami Dayanand everything contained in the Vedas was t only perfect Truth, but he went one step further in persuading hers that everything worth knowing—even the most recent invenns of modern science were alluded to in the Vedas; Stean engine, ectricity, Telegraphy and Wireless, Marconogram were shown to ve been known at least in the germs to the poets of the Vedas."

अर्थात् श्री स्वामी दयानन्द जी, जो कुछ भी वेदों में है, उसे न केवल पूर्ण त्य समझते प्रत्युत दूसरों को विश्वस्त करने के लिए वे एक पग और आगे बढ़ते । ऋषि कहते हैं कि वेदों में जानने योग्य हर वस्तु का वर्णन है। यहाँ तक कि ति आधुनिक आविष्कारों जैसे वाष्पकल, विद्युत्, टेलीग्राफी, वायरलेस (बिना तार ा तार) मारकोनोग्राम का भी प्रतिपादन वेदों में किया गया है। कम से कम बीज प में तो अवश्य उपर्युक्त वस्तुओं का ज्ञान वेदों के कवियों को रहा होगा।

योगी श्री अरविन्द ईश्वरीय ज्ञान वेद प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ७८-७९ पर कहते हैं।

वेदों में सृष्टि-विधा-तत्व का भी कुछ कम आविर्भाव नहीं है.........आधुनिक दार्थ-विज्ञान की सत्यता भी वैदिक मन्त्रों में प्रकटित है।

आचार्य सत्यव्रत जो सामश्रमी, कलकत्ता संस्कृत कालेज में वैदिक साहित्य के ाध्यापक थे। पाश्चात्य तथा प्राच्य वैदिक विद्वानों में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। न्होंने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी (जिसे सारे योरोप में संस्कृत साहित्य के प्रचार ा श्रेय प्राप्त है) के कई ग्रंथों का सम्पादन किया। आपने अपनी "त्रयी चतुष्टय" (प्रीफेस ७-६) नामक ग्रंथ में वेदों के भाष्यकारों के सम्बन्ध में अपनी सम्मति इस कार लिखी है :

When the त्रयी संग्रह was being compiled, the impression grew ipon me that the real meaning of many mantras did not come out n Sayana's commentary, and the desire became strong in me to ublish the interpretation of (Yaska) and other old expositors of the 'edas. At a time when photography, phonography, gaslight, tele-

graph, telephone, Railway and baloons had not been introduced into the country, how could our people understand any verses referring to these things ? Our opinion is that, in vedic times, our country had made extra-ordinary progress. In those days, the science of Geology, Astronomy and Chemistry were called आधिदैविक विद्या and those of Physiology, Psychology and Theology अध्यात्म विद्या

Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entierly lost, there are sufficient indications in vedic works of those sciences having been widely known in those days.

अर्थात् 'त्रयी-संग्रह' पुस्तक का जब संकलन हो रहा था, उस समय मुझे आभास हुआ कि सायण भाष्य में बहुत से मन्त्रों के यथार्थ भाव प्रकट नहीं हो सके। इसलिए मुझमें यह इच्छा प्रबल हुई कि यास्क तथा अन्य प्राचीन भाष्यकारों के भावार्थ भी प्रकाशित करूं। उस समय जब कि फोटोग्राफी फोनोग्राफी, गैस लाइट, टेलीग्राफ, टेलीफोन, रेलवे और वायुयानों का भारत में प्रचार नहीं था, जिन मन्त्रों में इन वस्तुओं के संकेत हों, भारत के वेदभाष्यकर्ता उनके यथार्थ रहस्यों को किस प्रकार समझ सकते थे ? हमारी सम्मति है कि वैदिक काल में हमारे देश ने विशेष रूप से प्रगति कर ली थी। उस समय भूगर्भ विद्या ज्यौतिष और रसायन विद्या को आधिदैविक विद्या कहा जाता था और शरीर विद्या, मनोविज्ञान तथा ब्रह्म विद्या को अध्यात्म विद्या।

उस समय के वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त हो गये हैं, तब भी वेदों में उनविज्ञानों के सम्बन्ध के पर्याप्त निर्देश मिलते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल में उन विज्ञानों का पर्याप्त प्रचार था।

अतएव इन उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदों में निहित समस्त ज्ञान की शुभ देन हमें स्वयं ईश्वर से प्राप्त हुई। विज्ञान का भला हो जिसके द्वारा आधुनिक काल में उस ज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश पड़ा। वैज्ञानिक साधनों का तो शायद आज भी अनुसन्धान नहीं हो पाया है। वेद भारतीयों के पवित्र ग्रन्थ हैं जो निश्चित रूप से विश्व की प्राचीनतम काव्य रचनाएँ हैं।*

इन वेदों में स्पष्टतः सिन्धु नदी, पंजाब, कश्मीर, गान्धार आदि का वर्णन है। इनमें न तो तिब्बत का, न कैसपियन का और न उत्तर मेरु का ही उल्लेख है

---

*The vedas are the Hindu sacred writings, which are positively the oldest literary composition in the world.

—Walls: Sex and Sex worship. Page 8.

जहाँ से कि आर्य आये बतलाये गये। इस प्रसंग में महाकवि प्रसाद की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:।

कहीं से हम आये थे नहीं,
प्रकृति का रहा पालना यहीं,
वही, हम दिव्य आर्य सन्तान।

श्री जयशंकर प्रसाद की 'हिमालय' कविता से विदित होता है कि आर्य भारत के ही निवासी थे, समस्त विश्व को ज्ञान देने वाले भी भारतीय ही थे।

आर्य का अर्थ—'आर्य' शब्द विदेशी नहीं भारतीय है। आर्य शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ, पूज्य, उदारचरित, धर्मशील तथा पुनीत। इसी अर्थ को मान कर गीता में भगवान् ने अर्जुन के धनुष फेंक कर युद्ध न करने के निश्चय को **'अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं'** का नाम दिया कि क्षत्रिय होकर रण से भागना धर्म-विरुद्ध है, यह श्रेष्ठ जनों को शोभा नहीं देता।

आर्य का यही श्रेष्ठ अर्थ अब तो मैक्समूलर तथा बाशम जैसे पाश्चात्य आधुनिक विद्वानों ने भी मान लिया है। World Encyclopedeia में भी भूल सुधार कर आर्य का अर्थ noble दे दिया है किन्तु. कितने होंगे जिन्होंने यह शुद्धि पढ़ ली होगी। बहुतेरे भारतीय भी पुरानी रट लगाकर आर्य को जातिवाचक मान रहे हैं।

यह आर्य शब्द जातिवाचक नहीं अपितु नैतिक एवं सांस्कृतिक अर्थ का बोधक है। आर्य नाम की जाति कभी थी ही नहीं परन्तु यदि किसी जाति को आर्य नाम से वैशिष्ट्य प्रदान किया जाय तो वैदिक (भारतीय) जाति ही एकमात्र वह विशुद्ध जाति है। ऋग्वेद में भी आर्य शब्द का उल्लेख तीन स्थानों पर (अ) १—१०३—३ (ब) ६—२५—२ तथा (स) १०—६५—११ आया है। यहाँ भी कहीं जातिवाचक अर्थ नहीं प्रयुक्त हुआ है।

उधर F.E. Pargitar* जैसे विद्वानों ने भी सिद्ध कर दिया है कि आर्य अपने मूलस्थान भारत से ही बाहर संसार के अन्य भागों में गये थे, वही सब सभ्यताओं के आरम्भ करने वाले हैं। इस संदर्भ में कवि प्रसाद की पंक्ति द्रष्टव्य है 'जगे हम लगे जगाने विश्व'। भारत देश को माता के नाम से संबोधित किया गया है।

इधर हम इतिहास की पुस्तकों में पढ़ते चले आये हैं कि आर्य जाति के लोग भारत से बाहर किसी देश में वास करते थे। वे भारतीय हिन्दू-पारसी काकेशीय, ग्रीक आदि जातियों के पूर्वज थे। अनुमानिक २५०० से ६५०० ई० पूर्व के भीतर उन्होंने विभिन्न दलों में उत्तर-पश्चिम सीमान्त से भारत में प्रवेश किया था। उससे पहले भारत में कोल, भील, द्रविड़ आदि जातियों के पूर्वज लोग निवास करते थे। परन्तु इसका कोई पुष्ट साक्ष्य नहीं मिलता। इस प्रकार समस्त वैदिक या भारतीय

---

*C. H. Kulkarni in his Ancient Indian History & Culture P. 36.

जाति आज वस्तुतः आत्मविस्मृत है। हममें आज कितने हैं जो कि अपने देश भारत के वास्तविक इतिहास को जानते हैं। स्वदेश की प्राचीन संस्कृति और भावप्रवाह के साथ हमारा सम्बन्ध क्रमशः क्षीण तथा विच्छिन्न हो जाने के कारण हम अपने समस्त जातीय गौरव और जात्याभिमान को प्रायः खो चुके हैं। इसका कारण यह है कि अंग्रेजों द्वारा ब्रिटिश-काल में भारत का जो इतिहास लिखा गया है उसको पढ़ने से यह धारणा होती है कि आदि काल से ही भारत-विजय आरम्भ हो गया था। क्रमशः आने वाली एक जाति के बाद दूसरी जाति भारतीयों को पराजित करके इस देश में अपना राज्य स्थापित करती रही। यह उनमें से किसी की भी मातृभूमि नहीं रही है। अंग्रेजों का भारत-विजय भी उसी का एक आधुनिक अनुच्छेद या परिणाम था।

आर्य बाहर से नहीं आये—प्रमाण—आधुनिक पाश्चात्य मत के अनुसार भारत के इतिहास का आरम्भ अनुमानतः ३१० ई० पूर्व अर्थात् दिग्विजयी सिकन्दर के भारत आक्रमण से होता है। इससे पूर्व का जो कुछ ज्ञान है उसे वास्तविक इतिहास का नाम नहीं दिया गया।

(१) सिकन्दर की मृत्यु के बाद उनके सेनापति सैल्यूकस के राजदूत मैग-स्थनीज लगभग ३६४ ई० पूर्व मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार में रहे। उन्होंने भारत का जो वर्णन किया है, उसके विषय में सभी सहमत हैं कि उनका वर्णन पक्षपातरहित था, क्योंकि वे उच्चपदस्थ निरपेक्ष पूर्ण जानकार तथा प्रतिभाशाली राजदूत थे। वे लिखते हैं—भारत एक विराट देश है। उसमें विभिन्न जाति के लोग निवास करते हैं। इनमें एक भी व्यक्ति मूलतः विदेशी वंशोत्पन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त यहाँ कभी विदेशियों का कोई उपनिवेश स्थापित नहीं हुआ और न भारत ने कभी विदेश के किसी देश में जाकर अपना उपनिवेश स्थापित किया।

(२) श्री एलफिस्टन लिखते हैं कि भारतीय हिन्दुओं के पूर्वज कभी अपने आधुनिक निवासस्थान के अतिरिक्त किसी दूसरे देश में थे—ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं। वेद तथा मनुस्मृति में हिन्दू जाति के अन्यत्र निवास। भूमि का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता।

(३) डा० कीथ वेद और भारत के विषय में एक सुविख्यात गवेषक माने जाते हैं। वे लिखते हैं—'इस विषय के जो दो प्रमाण उपलब्ध हैं उनमें से कोई भी सिद्धान्त निकालने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। परन्तु यह निश्चय है कि वैदिक भारतीय किस प्रकार भारत में प्रवेश हुए इसके निर्धारण में ऋग्वेद से कोई सहायता नहीं मिलती। आर्य अभियान का ऋग्वेद में कोई आभास भी नहीं है।*

*Cambridge History of India.

आर्यों का आदि निवास-स्थान निश्चय ही भारत है ! ये निश्चय ही भारतीय । आर्यों ने बाहर से आकर इस देश पर विजय नहीं प्राप्त की । वे सदा से भारत-ासी हैं और भारतीय कहलाने में सदा गर्व का अनुभव करते हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य अभियान की कहानी कपोल कल्पित है और सौ ाल के अन्दर की गढ़ी हुई है । इसके पीछे गम्भीर राजनैतिक दुरभिसन्धि छिपी है—ऐसा सन्देह होता है । भारतीय मूलतः स्वदेशवासी हैं वे आर्य अभियान दल के ंशज नहीं । इस आर्य अभियान की कहानी को पिछले सौ सालों से इतना रटा ाया कि हम स्वयं इसे ही सत्य मान बैठे ।

एक कथन के अनुसार शूद्र लोग निश्चयपूर्वक भारत के अधिवासी हैं। े पूर्वकाल में दास थे । अमरीका के अंग्रेज और पुर्तगीज आदि जातियों ने अफ्रीका-ासियों को दास बना रक्खा था । इनके बंशज भी बहुत दिनों तक दास ही थे । इस उदाहरण को देखकर गवेषकों का मन सहस्रों वर्ष पीछे जा पहुँचा और कल्पना करने लगा कि भारत में भी वही कहानी दुहरायी गयी होगी । पुरातत्ववादियों ने स्वप्न देखा कि भारत काली आँखों वाले आदिवासियों से ठसाठस भरा है । उसके बाद श्वेतकाय आर्य लोग किसी देश से यहाँ आये थे । कुछ विद्वानों के मतानुसार यह लोग तिब्बत से तथा दूसरों के मतानुसार मध्य एशिया से आये । कुछ दिन पहले यह प्रमाणित करने की चेष्टा भी की गयी कि ये लोग पहले स्विट्ज़रलैण्ड में एक झील के किनारे निवास करते थे । कुछ लोग कहते हैं कि ये लोग उत्तर मेरु में रहते थे । हमारे शास्त्रों में एक भी बात नहीं जिससे प्रमाणित हो कि आर्यजन कभी बाहर से भारत में आये थे । प्राचीन भारत के भीतर तो अफगानिस्तान भी रहा । इसी बात की पुष्टि श्री चिदम्बर कुलकर्णी ने भी अपनी पुस्तक Ancient Indian History & Culture के पृष्ठ ३५ पर की है। अतः आर्य आरम्भ में भारत से बाहर किसी एक स्थान पर रहते थे, इस सिद्धान्त में अब कोई सार नहीं रह गया है । वे निस्सन्देह भारत के ही निवासी हैं ।*

वेदांग

वेदों का प्रत्येक शब्द उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि उच्चारण भेदों से बंधा है । अतः उनको उनके उच्चारण—ध्वनि में शुद्धता की अपेक्षा थी । परिणामतः आवश्यक हो गया था कि सहायक रचनाएं की जायें ।

---

*Therefore there is no sense in the theory that the Aryans lived originally in one single home outside India. They were undoubtedly the natives of India.

शिक्षा—इसमें उच्चारण तथा स्वर-विज्ञान की शिक्षा मिलती थी। वेदों पाठ की विधियाँ भी अनेक थीं। इन्हीं विधियों के कारण पीढ़ियों तक अपनी अद्‌ स्मरण शक्ति के बल पर गुरु-शिष्य वेद-मन्त्रों को सुरक्षित रख सकने में समर्थ सके। ए० एल० बाशम जैसे पाश्चात्य विद्वान् वेदपाठी ब्राह्मणों की चमत्कारि स्मरण-शक्ति पर दाँतों तले उंगली दबा लेते हैं।

छन्द—वैदिक मन्त्र छन्दबद्ध हैं। हमारे वेदों की छान्दसी सृष्टि ही सह वर्षों से कण्ठ से कण्ठ में संचारण करती हुई प्रत्येक शब्द प्रत्येक ध्वनि को अक्षय र सकी है। प्रत्येक छन्द का प्रभाव अपनी विशेषता रखता है। शिक्षा तथा छन्द मिलक उन देवताओं को, जिनके लिए मन्त्रोच्चारण होता है, आकाश में आवाहन करने बड़ी सहायता देते हैं। इस बीसवीं शती के आरम्भ से ही फ्रांस में हुए परीक्षणों सिद्ध हो चुका है कि भिन्न-भिन्न ध्वनियों से भिन्न-भिन्न रंग रूप की आकृति बनती हैं।

निरुक्त—इस शास्त्र की आवश्यकता वेद के शब्दों की व्युत्पत्ति करने के लि रही क्योंकि वेद के कठिन शब्दों का अक्षरशः अर्थ का बोध करना अनिवार्य था इसलिए यह और भी आवश्यक हो गया, क्योंकि वेद के शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं अतः यह देखना होता है कि किस स्थान में कौन सा अर्थ उपयुक्त रहता है।

व्याकरण—प्रत्येक भाषा को उसके यथार्थ रूप में समझने के लिए उसके व्याकरण का ज्ञान सहायक होता है। वेद के व्याकरण तो अनेक हैं, किन्तु पाणिनि का व्याकरण मुख्य माना जाता है।

ज्योतिष—यज्ञों की सफलता के लिए नक्षत्रों के योग के समय का ज्ञान अत्यावश्यक था। अतः ज्योतिष शास्त्र की रचना की गयी जिसमें सभी ग्रह-नक्षत्रों के ज्ञान का समावेश है।

कल्पसूत्र—इसमें कर्मकाण्ड का विस्तार है जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में संहिताओं के प्रयोग की विधियाँ हैं उसी प्रकार कल्पसूत्रों में इन्हीं ग्रन्थों की पुनः व्याख्या की गयी है। इनके अन्य उपविभाग हैं जैसे—

(अ) श्रौतसूत्र—वैदिक यज्ञों को यथोचित रूप से सम्पादन में तथा विधि विधान जानने में सहायक होते हैं।

(आ) गृह्यसूत्र—गार्हस्थ्य जीवन में गर्भाधान से अन्त्येष्टि क्रिया तक के सभी संस्कारों के कराने की पूरी विधि बताते हैं।

(इ) धर्मसूत्र—इसमें नीति-नियमों का वर्णन है। मनु आदि स्मृतियों का बीज रूप इसमें ही पाया जाता है। चारों वर्णाश्रमों की सुदृढ़ नींव भी इन धर्मग्रन्थों में पड़ी जिसने कालान्तर में भारतीय संस्कृति के विशाल भवन का रूप धारण किया।

(ई) शुल्वसूत्र—यज्ञमण्डप आदि तथा हवनकुण्डों के निर्माण की विद्या भी आवश्यक थी। इनमें उन सबका वर्णन है।

उपवेद

उपवेद चार हैं—आयुर्वेद धनुर्वेद गन्धर्ववेद तथा अर्थवेद।

आयुर्वेद—भारतीय लोकजीवन को महत्त्व देते थे। वे इसके प्रत्येक क्षण में आनन्द लेते थे। आयु दीर्घ कैसे हो और स्वास्थ्य कैसे सुरक्षित रहे इसी के लिए इस उपवेद के रचना की आवश्यकता पड़ी। चरक और सुश्रुत से भी पूर्व अनेक आयुर्वेदाचार्य हो चुके थे।

धनुर्वेद—इसमें शस्त्रास्त्रों की विद्या का वर्णन है। दिव्य अस्त्रों को मन्त्र शक्ति के द्वारा प्रयोग करने की विधि भी इस वेद में दी गयी है।

गन्धर्ववेद—भारतीय संस्कृति में संगीत को बहुत महत्त्व दिया गया है। परमात्मा तक को प्राप्त करने के लिए सामवेद की रचना कर दी। संगीत अपने समीचीन रूप में इष्ट देवताओं के प्रकट करने में सफल मनोरथ होने के उद्देश्य से इस उपवेद की रचना की गयी।

अर्थवेद—प्राचीन वैदिक काल में बलविद्या को तो प्रमुखता दी ही जाती थी, लौकिक विद्याओं की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। इस वेद में स्थापत्य कला के साथ-साथ अन्य कलाओं तथा दण्डनीति का वर्णन है।

उपनिषद्

आर्य यज्ञों के ऊपर उठ कर यह विचार करने लगे कि यह सृष्टि कैसे रची गयी? इसका रचयिता कौन है? आत्मा क्या है? शरीर और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? मरणोपरान्त क्या दशा रहती है? आदि अनेकानेक प्रश्न मानव के अन्तर में उठने लगे। ऐसी जिज्ञासा ने उन्हें गृहस्थ जीवन से ऊपर उठने की प्रेरणा दी। और वे सांसारिक सुख में रत रहकर ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के प्रति उत्सुक हो उठे। अब आध्यात्मिक विषयक प्रश्नों पर विचार होने लगे और यज्ञों से उपराम हो चले। 'प्रेय' से अधिक 'श्रेय' को मानने लगे। यह सब ज्ञान उपनिषदों में भरा पड़ा है।

परिचय—'उप' और 'नि' उपसर्ग वाले सद् धातु से क्विप् प्रत्यय लगाने पर उपनिषद् शब्द बनता है। इसका तात्त्विक अर्थ है—गुरु के समीप बैठकर ज्ञान द्वारा आध्यात्मिक रहस्य ज्ञात करना। वेदों का अन्तिम भाग होने के नाते इन्हें वेदों का अन्त, वेदान्त भी कहते हैं। आद्य शंकराचार्य ने कठोपनिषद् की भूमिका में लिखा है जो विद्या मुमुक्षुओं को ब्रह्म प्राप्त करा देती है, जिससे दुःख का सर्वथा शिथिलीकरण हो जाता है वही अध्यात्म-विद्या उपनिषद् है। इसका मुख्य अर्थ तो ब्रह्मविद्या ही है

गौण अर्थ ब्रह्म-विद्या-प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष है। वेद की प्रत्येक शाखा का विशि उपनिषद् था। इसलिए ११८० उपनिषद् होने चाहिये थे किन्तु अब इनमें से कुछ उपलब्ध हैं। उनमें से निम्नलिखित १० प्रमुख माने जाते है।

ऋग्वेद—ऐतरेय, तैत्तिरीय।

यजुर्वेद—ईश, कठ तथा बृहदारण्यक।

सामवेद—केन तथा छान्दोग्य।

अथर्ववेद—मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न।

विषय—उपनिषद् ज्ञान का भण्डार है, इन्हीं से भारतीय दर्शन निकले हैं। इस कथन को मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रपंचमय संसार के सारे दुःख दारिद्र्य, पाप-ताप मार भगाने के लिए इनका ज्ञान रामबाण है।

ब्राह्मणों और आरण्यकों के कर्मकाण्ड की चर्चा आजकल नाममात्र की है; क्योंकि इनके आधार पर जो यज्ञ है वे या तो बिल्कुल विलुप्त से हो गये हैं अथवा रूपान्तरित हो चुके हैं, परन्तु उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य अपने जीवन में इनकी शिक्षा को व्यवहृत कर स्वयं निरंजन को प्राप्त कर सकता है और समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकता है। उपनिषदों में परमात्मा, आत्मा, सृष्टि, कर्म, धर्म तथा योगादि का जो विवरण दिया हुआ है, वह आज तक ज्यों का त्यों है। उपनिषदों के उपदेश के अनुसार मनुष्य कामादि बहु रिपुओं से दूर रह कर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर तथा विवेक, वैराग्य, शम तथा दमादि साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होकर स्वयं आत्मज्योति पा लेता है और दिव्य तेज से समाज, देश तथा जाति को भी उद्भासित कर देता है। उपनिषद् बताते हैं कि मनुष्य अमृत-पुत्र है। वह संयमी रहकर बड़ी सरलता से अमरता प्राप्त कर सकता है।

उपनिषद् मनुष्य के अधिकारों का विशिष्ट आज्ञापत्र है। उनका उपदेश **'उत्तिष्ठत, जाग्रत् प्राप्य वरान्निबोधत्'** है—उठो, जागो तथा योग्य व्यक्ति के पास पहुँचो और सत्य का अनुभव करना सीखो। सोतों को जगा देने वाला और मुर्दों में जान डालने वाला है। अमरत्व का संचार करके अखण्ड शक्ति प्रदान करता है। उत्साह पूर्ण नया जीवन प्रदान करता है। आज भी यह उपदेश मनुष्य मात्र के लिए उतना ही महत्त्व रखता है जितना आदि काल में रखता था। उपनिषद् ललकार-ललकार कर, मनुष्य को, चाहे वह किसी देश, समय अथवा स्तर पर हो, प्रोत्साहित कर रहे हैं कि वह अपना जन्मसिद्ध दिव्य अधिकार मांगे, जो उसकी अपनी पैत्रिक सम्पत्ति है। विश्व-मानव में ऐक्य की भावना संचरित करने की इनमें भारी शक्ति है। हमें इनसे प्रेरणा मिलती है कि इनसे हम, प्राणिमात्र में एक ही ब्रह्म का दर्शन करें। इस तरह

चाहे जिस दृष्टि से देखें, उपनिषदों का उपदेश अनुपम और अमूल्य है। वे आर्य संस्कृति की पुण्य निधि हैं और भारतीयों के लिए ही नहीं वरन् मानव जाति के लिए गर्व की वस्तु हैं। इस प्रसंग में मैक्समूलर का कथन द्रष्टव्य है : 'उपनिषद् वेदान्त के आदि-स्रोत हैं। यह ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे मानवीय उच्च भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुंची हुई मालूम पड़ती है'। सचमुच उपनिषदों की प्रत्येक वाणी अमर और ओजपूर्ण है जिसके अनुसार आचरण कर कितने ही विद्वान् सिद्ध बन गये, कितने ही योगी हो गये और कितने ही ब्रह्म में विलीन हो गये हैं।

ब्रह्म—उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म वह है जिससे सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसकी सत्ता से जीवित रहते हैं और विनाश के समय जिसमें प्रवेश कर जाते हैं।

ब्रह्म ही शाश्वत तत्त्व है। इस नाना रूपात्मक जगत् के मूल में स्थित वही एक अविनाशी सत्ता है। माण्डूक्य तथा अन्य उपनिषदों में भी ब्रह्म को तुरीय बतलाया गया है, जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से पृथक् है। वह कूटस्थ और अविकारी है। उसका परिचय 'नेति-नेति' शब्द से ही दिया जा सकता है वह तत्त्व शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है, मन और इन्द्रियों से अगम्य और अगोचर है, अनादि तथा अनन्त है, सच्चिदानन्द स्वरूप है।

इस परम तत्त्व की प्राप्ति वाचिक ज्ञान से कदापि नहीं हो सकती। याज्ञवल्क्य इसे आत्मानुभूति की संज्ञा देते हैं, जिसका अर्थ है ब्रह्ममय रूप में सतत विहार करना, आत्मतृप्त, आप्तकाम, आत्माराम होगा। इसमें विचरते हुए मनुष्य को इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ दीखता ही नहीं। प्राणिमात्र में समता का भाव रखने वाला ही सदा ब्रह्म में विचरेगा! इस दशा में द्रष्टा और दृश्य एकरूप हो जाते हैं विश्व इन्द्रियगम्य भौतिक पदार्थ है और ब्रह्म मन तथा इन्द्रियातीत है। इसके लिए अन्तर्मुखी होना पड़ेगा। इसी साधन को योग कहते हैं।

आत्मा—जीव की आन्तरिक चेतना का नाम आत्मा है। आत्मा तत्त्वतः ब्रह्मस्वरूप है ; क्योंकि दोनों चैतन्य शक्ति हैं। ब्रह्म यदि समुद्र है तो आत्मा उसकी तरंग है। रूप दो दीखते हैं, पर तत्त्वतः वे दोनों एक ही हैं।

जगत्—उपनिषदों के अनुसार जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण ब्रह्म ही है। जैसे पेड़-पौदे पृथ्वी से स्वतः ही फूट पड़ते हैं तथा जैसे बाल और नाखून शरीर से निकलते हैं, या यों कहिए कि जैसे मकड़ी अपने अन्दर से निकले हुए जाले को स्वयं ही वापस अन्दर ले लेती है; इसी प्रकार का ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध है। उपनिषदों में इस विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। सांख्य और वेदान्त के ग्रन्थों में इसका विशेष रूप से वर्णन किया गया है। उपनिषदों के अनुसार

जगत् न केवल ब्रह्म से घिरा हुआ है, अपितु स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप है, जैसा कि छा ग्योपनिषद् में कहा गया—'**सर्वं खलु इदं ब्रह्म** ।'

मोक्ष—उपनिषदों का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति है; क्यों आत्मानुभूति में ही अनन्त सुख निहित है, जिसके समक्ष सभी सांसारिक सुख हेय इसी से विश्व में एकता का अनुभव होता है और इसी एकता का अनुभव मनुष्य सर्वोच्च स्थिति में ले जाता है। इससे परमानन्द की जो प्राप्ति होती है, उस अनुमान तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार किया गया है :

सौगुना इस संसार के सुख से होता है गान्धर्वलोक का आनन्द,
सौगुना गान्धर्वलोक के सुख से होता है पितृलोक का आनन्द,
सौगुना पितृलोक के सुख से होता है देवताओं का आनन्द,
(जिन्होंने तपोबल से देवत्व प्राप्त किय
सौगुना ऐसे देवताओं के सुख से होता है उन देवताओं का आनन्द,
जो जन्म से देवता हैं।
सौगुना जन्मजात देवताओं के सुख से होता है देवेन्द्र, इन्द्र का आनन्द,
सौगुना देवेन्द्र के सुख से होता है बृहस्पति का आनन्द,
सौगुना बृहस्पति के सुख से होता है प्रजापति का आनन्द,
सौगुना प्रजापति के सुख से होता है ब्रह्म का आनन्द।

इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता असीम है। यह सारा विश्व ब्रह्म के कणमात्र आन के सहारे स्थित है। यह परमानन्द की परम सम्पत्ति है और सर्वोच्च लक्ष्य है जो ब्रह्म को जान पाता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है, अमरत्व प्राप्त कर लेता है कहा भी है : **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति** । मानसकार तुलसी ने भी इसी भाव इस प्रकार व्यक्त किया है : 'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।' वह तीनों प्रकार तापों से रहित हो जाता है : '**तरति शोकं आत्मवित्** ।' इसी परम पुरुपार्थ की ओ सारा विश्व बढ़ रहा है।

उपनिषदों में नैतिकता—लोगों की यह एक भ्रान्तिपूर्ण धारणा है कि उपनिष केवल मात्रअध्यात्म विषय का निरूपण करते हैं। अतः उनमें नैतिक शिक्षा का अभा है। नैतिक आचरण सभी के लिए समान रूप से उपयोगी है, चाहे वह आध्यत्मि जीवन हो अथवा व्यावहारिक। आन्तरिक विकास की अवस्था में, एक ऐसा सम आता है जबकि नैतिक पूर्णता प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। एक प्रकार यह अपनी प्रकृति का स्वामी बनना ही होता है और व्यक्ति को इस अवस्था गुजरना ही पड़ता है। यदि कोई यह समझता है कि वह इस अवस्था से बिना गुज ही जीवन के दूसरे छोर तक पहुँच सकता है तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल है और व अपनी प्रकृति की पूर्ण दुर्बलता को पूर्ण स्वाधीनता मान बैठता है। जब तक व्यक्ति नैतिक पूर्णता के आदर्श को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक मानसिक अवस्था से अग्र

क पूर्ण और बहुत अधिक अच्छी अवस्था से भी वह आध्यात्मिक जीवन की ओर हीं जा जा सकता। यदि कोई व्यक्ति इस रास्ते को छोटा करने की कोशिश करता और अपनी बाह्य प्रकृति की कमजोरियों पर विजय प्राप्त किये बिना ही अपनी आन्तरिक स्वाधीनता को प्राप्त करना चाहता है तो वह अपने आपको धोखा देता है। यह सच है कि सच्चा आध्यात्मिक जीवन, पूर्ण स्वतन्त्रता उच्चतम उपलब्धियों से हीं ऊँची है। किन्तु इस जीवन में प्रवेश करने से पूर्ण व्यक्ति को सहजभाव में ही स वस्तु के अनुसार अपने जीवन को बना लेना होता है, जिसे मानव जाति अत्यधिक च्च, सुन्दर, पूर्ण, निस्स्वार्थ, व्यापक एवं श्रेष्ठ कहती है।

और सच बात तो यह है कि नैतिकता के लिए अध्यात्मिकता अनिवार्य है। जो भौतिकवादी हैं, जो निर्विषय तत्त्व और आनन्द को कल्पना की वस्तु मानते हैं, वे नैतिकता की बात करते हैं और उसका आंशिक आचरण भी करते हैं, परन्तु उसकी भी नैतिकता का आधार अनिश्चित है ; क्योंकि भौतिक सुख-सम्पदा पाने के लिए नैतिकता का पालन अनिवार्य नहीं है। कुछ लोग जो अध्यात्म के अज्ञात और प्रच्छन्न प्रभाव के कारण सभी लोगों को सुखी बनाने की कामना करते और जनता जनार्दन कहकर उसको बाहरी सुख-सम्पदाओं से सम्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं और यह सोचते हैं कि उनके इस प्रयत्न से और नैतिकता का पालन करने से अवश्य ही हम परमात्मा के धाम में मृत्यु के बाद पहुँच जायेंगे। ऐसे लोगों की नैतिकता में कुछ अधिक बल रहता है, परन्तु सत्य का सही निरूपण नहीं जानने के कारण ये मोक्ष के आनन्द को जीवन-काल में ही नहीं पा सकते। सम्भावनात्मक विश्वास पर आधारित नैतिकता में अनिवार्य पालन की भावना उत्पन्न नहीं होती और पालन करने की क्षमता देने में तो वह असमर्थ रहती है। वास्तविक अध्यात्म का अनुभव केवल शुद्ध चेतन आत्मा द्वारा ही हो सकता है। ज्यों-ज्यों कोई व्यक्ति अध्यात्म की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों उसे प्रत्यक्ष रूप से पता चलता-जाता है कि सदाचार का पालन आत्मानुभव कराने के पक्ष में सहायता दे रहा है और उसी ही मात्रा में सदाचार अथवा नैतिकता के पालन में उसकी शक्ति भी बढ़ती चली जाती है तथा नैतिकता का पालन उसके लिए अनिवार्य सा हो उठता है। अतः नैतिकता के लिए अध्यात्म अनिवार्य शर्त है और यह अध्यात्म बुद्धि के द्वारा कल्पित अध्यात्म नहीं वरन् जीवन्त आत्मज्ञान से प्रकाशित अध्यात्म है।

इसलिए उपनिषदों में नैतिक पूर्णता पर स्थान-स्थान पर बल दिया गया है किन्तु ये विचार इतने बिखरे हुए हैं कि उपनिषदों का गहन अध्ययन न करने वाले इन्हें सामान्यतया देख नहीं पाते हैं और यह दोष देते हैं कि उपनिषदों में आचार-शास्त्र के निरूपण की कमी है।

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमद । (तै० १-११-१) सत्य बो
धर्म का आचरण करो । स्वाध्याय का कभी त्याग न करो । आचार्य को गुरु-द
देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो । स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करो ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । म
को देवता के रूप में पूजो । पिता को देवता के रूप में पूजो । आचार्य को दे
के रूप में पूजो । अतिथि को देवता के रूप में पूजो ।

दान श्रद्धापूर्वक करो । विचारशील समदर्शी जिस प्रकार का आचरण
उसी प्रकार का तुम भी करो ।

महत्त्व—उपनिषदों पर अब तक जितने भाष्य तथा जितनी वृत्तियाँ
टीकाएँ लिखी गयी हैं, कदाचित् ही किसी दूसरे साहित्य पर इतनी लिखी गयी है
भारत के अनेक दार्शनिक जैसे अद्वैतवादी, द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतव
भेदाभेदवादी सभी ने एक स्वर से उपनिषदों की महिमा गायी है । इन सबो
उपनिषदों की व्याख्या में अपनी मनमानी भले ही की हो, परन्तु इनकी प्रामाणिक
के बारे में सभी एकमत हैं । उपनिषदों के आधार पर ही इन दार्शनिकों ने इ
अपने दर्शनशास्त्रों का प्रतिपादन किया ।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी मुक्तकण्ठ से उपनिषद् के द्रष्टाओं के प्रति अप
आभार व्यक्त किया है । जब पाश्चात्य जगत् सभ्यता से दूर था तब इन द्रष्टाओं
प्रतिभा अपनी चरम सीमा पर थी । यही कारण है कि विदेशी विद्वान् उपनिषदों
चमत्कारिकता, सरलता, सुकुमारता, सुन्दरता, मृदुता एवं मंजुलता पर मुग्ध ह
आसक्त हैं । अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में उ
निषदों के अनुवाद किये तथा जो टीकाएँ लिखी हैं उनसे उपनिषदों की महि
और गरिमा संसार भर में फैली है । विश्वविख्यात जर्मन विद्वान् शोपेनहावर
लिखा है : समस्त विश्व में कोई भी ऐसा स्वाध्याय ग्रंथ नहीं है जो उपनिषदों
समान उपयोगी और उन्नति के पथ की ओर ले जाने वाला हो, वे उच्चतम बुद्धि
उपज हैं । आगे या पीछे यह उपनिषद् ही एक दिन जनता का धर्म होगा ।

जर्मनी में कील विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डायसन लिखते हैं : उप
का दर्शनतत्त्व संसार भर में अद्वितीय है ।

अध्याय ४

श्रीमद्भगवद्गीता

भगवान् श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में अपूर्व कला, अनुपम राजनीति, अपौरुषेय वीरता, अद्भुत चमत्कार, गम्भीर रहस्यवादिता, अद्वितीय योगशक्ति आदि सर्वांगीण रूप से विकसित दृष्टिगत होते हैं और यही कारण है कि उनकी श्रीमद्भगवद्गीता विश्व की सर्वोत्तम पुस्तक है। भगवान् का व्यक्तित्व जिस प्रकार सर्वांगीण विकास को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार उनकी गीता भी योगों के सर्वांगीथ एवं सम्पूर्ण विकास पर प्रकाश डालती है। योगेश्वर ही गीता की शिक्षा दे सकता था। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण सारे विश्व की जनता के जगद्गुरु तथा आकर्षण के सनातन केन्द्र हैं।

उनकी भगवद्गीता समस्त विश्व एवं सभी सम्प्रदायों में आदर की दृष्टि से देखी जाने वाली आकार में लघु होते हुए भी एक महान् ग्रंथ है। विचारों एवं भावनाओं में असीम, असाधारण तथा अमूल्य रत्न है। भारत एक अध्यात्मिक देश है और भगवद्गीता इस देश का रहस्यमय सार्वभौमिक ग्रंथ है, महाभारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है।

गीता हिन्दू धर्मशास्त्र का एक अद्भुत रत्न है। यह विश्वमानव के प्रति एक सन्देश है। गीता समन्वय योग का प्रतिपादन करती है। यह संसार के सभी धार्मिक साहित्य में अपना अमूल्य स्थान रखती है।

इसमें श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है। श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी थे और जब अर्जुन युद्धस्थल में उतरते ही किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये तब उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने कुछ उपदेश दिये थे, जिसे गीता कहते हैं। इन उपदेशों में सम्पूर्ण उपनिषदों का सार संचित है। जैसा कि कहा गया है सभी उपनिषद् गाय हैं, अर्जुन बछड़ा है। इसी के लिए गीतारूपी अमृत भगवान् श्रीकृष्ण ने दुहा, जिसको पीने वाले सभी विद्वान् लोग हैं।

अपने को भ्रमजाल से मुक्त करने के लिए अर्जुन ने श्रीकृष्ण से एक व
निश्चित्य का अनुरोध किया ! भगवान् को उपनिषदों का निचोड़ निकाल कर देन
पड़ा ! डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में गीता उपनिषदों के परस्पर विरोधी विचारों
का समन्वय करके उनमें सामंजस्य लाती है ।

इस प्रकार गीता उपनिषदों की केवल पुनरावृत्ति ही नहीं करती वरन, विकास
पथ पर उनसे आगे बढ़ जाती है । ब्राह्मण ग्रंथों ने कर्मकाण्ड अथवा यज्ञादि पर
योगाभ्यासियों ने तप पर वल दे रक्खा था ; पर गीता ने मध्यम मार्ग खोज निकाला
जिसके अनुसार जिसका आहार, विहार, चेष्टाएँ, निद्रा और जागरण सुनियन्त्रित है,
उसी का योग दुःख को हर सकता है । इसी कारण यह कहा जाता है कि गीता को
सन्मुख रखकर सब कार्य करने चाहिए ; दूसरे शास्त्रों की आवश्यकता नहीं है । अर्थात्
यदि हम गीता के अनुसार अपना जीवन ढाल लें तो हमें अन्य शास्त्रों से क्या लेना ?

गीता में दिये गये आत्मा के अमरत्व अनासक्ति और परमात्मा के स्वरूप
में एकीभाव होने के सन्देश से सतत प्रेरणा लेते रहना चाहिए । एकता के सिद्धान्त
पर ही अनासक्ति योग आधारित है । भगवान् कहते हैं, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई
भी वस्तु नहीं है ।

इसी अनासक्ति से सच्चे त्याग का जन्म होता है । गीता का जर्मन भाषा
में पहला अनुवाद १८०२ ई० में हुआ । विदेशी विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से श्री मद्-
भगवद्गीता की सराहना की है ।

श्री जे० ए० फर्कुहर : जगत् के सम्पूर्ण साहित्य में चाहे सार्वजनिक लाभ की
दृष्टि से देखा जाय, चाहे व्यावहारिक प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय, भगवद्-
गीता के जोड़ का अन्य कोई भी काव्य नहीं है । अध्ययन के लिए इससे अधिक
आकर्षक वस्तु अन्यत्र कहाँ उपलब्ध हो सकता है ?

श्री रिचर्ड गार्वे : भारतवर्ष के धार्मिक साहित्य का कोई अन्य ग्रंथ भगवद्
गीता के साथ समान स्थान प्राप्त करने के योग्य नहीं है ।

सन १७८५ ई० में चार्ल्स विलकिस ने भगवद्गीता का एक अंग्रेजी अनुवाद
प्रकाशित किया जिसकी प्रस्तावना भारत के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेटिंग्स ने
लिखी थी । उसने कहा था कि भगवद्गीता के तरह के ग्रथ तव भी वने रहेंगे जव
भारत में अंग्रेजी उपनिवेश का कहीं नाम-निशान भी न रहेगा और इसके जिन स्रोतों
से धन और शक्ति प्राप्त हुई थी, उसकी याद भी शेष न रहेगी ।*

---

*When Warren Hastings was writing an introduction to the first English translation of the Bhagwadgita, he said, writings like this will survive when the British empire lost its domination over India, when the source of its wealth and prosperity are lost to rememberance, this book and writings like this will survive.

और आगे चलकर वह कहता है कि किसी भी जाति की उन्नति के शिखर पर आरूढ़ करने के लिए गीता का उपदेश अद्वितीय कार्य करता है। एमर्सन को गीता पढ़ाने वाले महात्मा थोरे का कथन है :

प्राचीन युग की सभी स्मरणीय वस्तुओं में भगवद्गीता से श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नहीं है ! ....भगवद्गीता में इतना उत्तम और सर्वव्यापी ज्ञान है कि उसके लिखने वाले देवता को हुए अगणित वर्ष हो जाने पर भी उसके समान दूसरा एक भी ग्रंथ अभी तक नहीं लिखा गया है।......गीता के साथ तुलना करने पर जगत् का आधुनिक समस्त ज्ञान मुझे तुच्छ लगता है।......मैं नित्य प्रातःकाल अपने हृदय और बुद्धि को गीतारूपी पवित्र जल में स्नान कराता हूँ।

सर जान उडरोफ : आधुनिक काल में सज्जनगण तत्परता के साथ भारतीय साहित्य के सर्वोत्कृष्ट रत्न गीता का प्रचार कर रहे हैं। यदि यह प्रगति इसी प्रकार रही तो आगामी सन्तान वेदान्त के सिद्धान्तों के प्रति अधिक रुचि प्रकट कर उनका पालन करेगी।

श्री एफ० टी० बुक्स—श्रीमद्भगवद्गीता भारत के विभिन्न मतों को मिलाने वाली रज्जु तथा राष्ट्रीय जीवन की अमूल्य सम्पत्ति है। यह भावी विश्व का सर्वोत्कृष्ट धर्मग्रंथ है। भारतवर्ष के प्रकाशपूर्ण अतीत की परम देन मनुष्य जाति के उज्ज्वल भविष्य का निर्माता बने।

श्री हमबोल्ट तो इसकी सराहना करते अघाते नहीं : गीता विश्व में सब से भव्य एवं पुनीत ग्रंथ है।* एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं महाभारत की यह घटना सर्वाधिक सुन्दर है, इतना ही नहीं बल्कि कदाचित् यह अकेली ही ऐसी दार्श-निक कविता है जिसकी तुलना की कोई वस्तु हमारे सुपरिचित साहित्य में नहीं है।

संसार की कोई भी ऐसी मुख्य भाषा नहीं है जिसमें गीता का अनुवाद न हुआ हो। पूज्य महात्मा गांधी बालगंगाधर तिलक, महामना मदनमोहन मालवीय आदि भी इसकी प्रशंसा करते नहीं थकते।

गीता के अठारह अध्यायों में सात सौ श्लोक हैं। भाषा सरल, पर अर्थ गूढ़ है क्योंकि विषय गम्भीर है। हर प्रकृति का व्यक्ति इससे तृप्त होता है। वह चाहे प्रवृति मार्ग का हो अथवा निवृत्ति मार्ग का। इसके सिद्धान्त सभी देश तथा काल के अनुकूल हैं। वे मानव मात्र के सिद्धान्त हैं।

---

*The Gita is probably the most profound and most sublime work the world can show.

—Humbolt.

विषय

ज्ञानयोग—भगवान् कहते हैं—'**यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति**'—मुझको सब जगह देखो, हर पत्ते, हर डाल में, हर पशु और मनुष्य में मुझे देखो और सबको मुझ में देखो। ऐसी दृष्टि में छोटे-बड़े, चाण्डाल-ब्राह्मण का प्रश्न ही नहीं उठता। वही एक सत्ता सब में है। प्राणीमात्र में समत्व की भावना रखना भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी देन है—

"**समात्वं योग उच्यते।**"

सुख-दुख, सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, शत्रु-मित्र, सफलता-असफलता, इन द्वन्द्व में समान दृष्टि रखना ही गीता सिखाती है। "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" की ऊंची भावन गीता की ही देन है।

निष्काम कर्मयोग—कर्मयोग भारत का अद्वितीय सिद्धान्त है जो जीवन क सभी समस्याओं का समाधान करा देती है। यही दर्शन-शास्त्र और धर्म का आधा है। मनुष्य को केवल कर्म करने का अधिकार है और फल देना प्रभु के हाथ में है जिस फल पर हमारा अधिकार ही नहीं, उसकी इच्छा ही क्यों की जाए? अतः किसी भी कार्य को करते हुए हमें उसके फल की इच्छा ही नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार गीता केवल आदर्शवाद पर ही नहीं, अपितु व्यावहारिक समाधान पर बल देती है, क्योंकि कर्म तो प्रकृतिवश करने ही पड़ते हैं। कर्म के बन्धन से मुक्त बने रहने के लिए उसके कर्तापन की भावना नहीं आनी चाहिए। उस महायन्त्री के हाथों में हम यन्त्र मात्र हैं। उसी की प्रेरणानुसार, उसकी दी हुई शक्ति से किये हुए सारे काम उसी के सादर समर्पित कर देने में ही कल्याण है। इस अनासक्ति पर बल देते हुए महात्मा गांधी ने 'अनासक्ति योग' नामक एक ग्रन्थ की ही रचना कर डाली। सब स्वार्थ छोड़कर लोकहित सारे कार्यो का सम्पादन करना ही गीता का 'लोक-संग्रह' है। विश्वकल्याण को ही प्रमुखता देने से "**सर्वभूतहिते रताः**" को चरितार्थ कर सकेंगे। भगवान् की आज्ञा है, '*जो कार्य करो, जो खाओ, जो हवन करो, जो तप करो, हे अर्जुन! वह सब* मेरे अर्पण कर दो।

भक्तियोग—भक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम को कहते हैं। गीता का ज्ञान कर्मयोग तथा भक्ति-प्रधान है। जहाँ ज्ञानयोग में कुछ सीखने समझने की आवश्यकता है और कर्मयोग में पूर्ण कुशलता को ध्यान में रखना पड़ता है कि कर्म करते हुए आसक्ति के चक्र में न पड़ें। वहां भक्तियोग में कुछ भी नया कार्य नहीं करना होता, केवल प्रभु से 'प्रेम' करना होता है। 'प्रेम' तो हम जन्म से ही करते हैं। यदि उनसे (भगवान् से) नहीं भी किया तो अपने सगे-सम्बन्धियों से वैसा ही करते रहे, किन्तु यह सब करें, प्रभु को बीच में रख कर ही। उनके नाते ही, इस विश्व को उनका ही रूप मान कर उससे प्रेम करें। इसी पथ का अनुसरण कर उनके रचाये जगत् के माध्यम से ही

उसका साक्षात्कार करने में सफल हो जाएंगे। प्रेम का रूप अलौकिक है। इसमें अपने लिए किसी भी वस्तु की माँग नहीं की जाती है। इसमें एकमात्र प्रभु की इच्छा को शिरोधार्य करना होता है। सच्चे प्रेम में केवल देना ही है। सब कार्य प्रभु को लेकर ही होते रहते हैं।

ज्ञानियों और कर्मयोगियों की ओर से जहाँ प्रभु निश्चित हो जाते हैं कि वे अपने ज्ञान अथवा कर्म के बलबूते पर ही संसार से पार हो जाएंगे, वहाँ भक्त का पूर्ण उत्तरदायित्व वे कृपालु स्वयं अपने ऊपर लेते हैं। भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के हाथ में अपने आपको बेच देते हैं। भक्त के रक्षार्थ समय-समय पर अवतरित होते रहते हैं।

राजयोग—योग का अर्थ है—जुड़ना, युक्त होना, जीवात्मा और परमात्मा का जुड़ना। इन दोनों का सचेतन सम्बन्ध स्थापित होना, अहंभावमय अज्ञान से ऊपर उठ कर ज्ञान में प्रतिष्ठित होना, इस बात की उपलब्धि करना कि हम क्षुद्र 'अहं' नहीं हैं, हम अपनी मूल सत्ता में भगवान् के साथ और सब जीवों के साथ एक हैं तथा बाह्य चेतना और कर्म में भी सदा साथ-साथ रूप से अपने हृदय-स्थित भगवान् के साथ युक्त रहना।

अहं और वासना के द्वारा हमारा चित्त विक्षुब्ध और विकृत हो जाता है। इसी अहंभाव के वशीभूत होकर हम इस विश्व की सभी वस्तुओं को अपने से भिन्न और पृथक् समझ कर उन पर अधिकार जमाना चाहते हैं और इसी कारण हमारे चित्त में विक्षोभ उत्पन्न होकर दिव्य आनन्द को विकृत कर देता है। हमारा मन सामान्यतया वेमतलव इधर-उधर घूमता है, विचार कितने ही विषयों में, प्रतिक्षण नाना विषयों में, विपरीत और विरोधी विषयों में दौड़ा करता है। उस समय चिन्तन के अन्दर न तो कोई दिशा होती है, न कोई संगति और न कोई संगठन ही। उस समय वह अपूर्ण अर्धनिर्मित विचारों का स्तूप होता है। इस स्तूप को एक सीमित क्षेत्र के अन्दर और एक सुनिश्चित दिशा में सुसीमित और सुसंगठित करना, अनावश्यक तथा असंगत विषयों का त्याग करना तथा आवश्यक विषयों को श्रेणीबद्ध करना मन को नियन्त्रित करने का अभ्यास है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गीता ने कर्म, भक्ति और ज्ञानयोग, जिन्हें एक साथ त्रिमार्ग कहते हैं, बतलाया है। इन्हें क्रमशः इच्छाशक्ति, हृदय और बुद्धि का योग भी कह सकते हैं, किन्तु मन वायु से अधिक चंचल और दुर्निग्रह कहा गया है और हो सकता है कि उपर्युक्त तीनों ही योग किसी के लिए प्रभावकारी न हो सकें। इस सम्भावना को दृष्टि में रखकर ही गीताकार ने एक अन्य उपाय भी वताया है, वह है राजयोग।

समन्वय—वैसे तो सभी योग एक ही केन्द्र पर जा पहुँचते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि और सामर्थ्य में भिन्नता रहने के कारण जिसको जो मार्ग अनुव

ा है, वह उसी को अपनाता है। इन सभी योगों का समन्वय गीता में किस सुन्दर ते से प्रस्तुत किया है। गीता रचयिता भगवान् के अपने शब्दों में : "बिना किसी शक्ति के मेरे लिए ही कर्म करो। मुझे ही परम पूज्य, श्रद्धेय, सबसे बड़ा मानो। ी ही भक्ति करो।"

ज्ञान की पूर्णता भक्ति के बिना सम्भव ही नहीं है। कर्मयोगी बनने में भी ज्ञान र भक्ति की आवश्यकता है। इधर भक्ति भी ज्ञानरूपी बालक के बिना बांझ स्त्री बराबर रह जाती है और ज्ञान भक्ति के बिना मातृहीन रह जाता है। अतः जीवन सफल बनाने के लिए इन सबके ऊपर राजयोग (यम, नियमादि) की छत्र-छाया हिए।

गीता में शरणागति योग का सर्वोपरि स्थान है। सब कुछ करके उस एक की शरण में जाने से मनुष्य ब्रह्म-स्थिति प्राप्त कर पाता है।

भगवद्गीता की देन

:) विश्व-दर्शन में

परमात्मा— परमात्मा संसार की सभी वस्तुओं में व्यापक रह कर स्थित है। : हाथ, पैर, नेत्र, मुख, सिर उसी के हैं। सब इंद्रियों से रहित होते हुए भी सम्पूर्ण यों की क्रियाओं को जानने वाला है। अपनी योगमाया से सबको धारण करने ा और गुणों को भोगने वाला है। जैसे सूर्य किरण-स्थित सूक्ष्म जल साधारण ज्य नहीं जान सकते, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा अति सूक्ष्म होने से साधारण ष्यों के जानने में नहीं आता। वह परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है और सबकी आत्मा से अत्यन्त समीप होते हुए भी श्रद्धारहित अज्ञानी पुरुषों के लिए उसका ज्ञान त करना कठिन है।

जगत्—गीता के अनुसार यह जगत् "**अनित्यमसुखं**', '**दुखालयमशाश्वत**' है ति् दुःखों की खान तथा नाशवान् है। इस भौतिक जगत् को पारमार्थिक रूप से नहीं माना गया है। इस अनित्य और क्षणभंगुर संसार में भारतीयों की आस्था नहीं है। यह तो प्रभु-प्राप्ति का साधनमात्र है।

यह सम्पूर्ण जगत् उस अविनाशी, अप्रमेय, नित्यस्वरूप परमात्मा से व्याप्त उस परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। वही इसके कण-कण में मान हैं।

भगवान् बतलाते हैं कि यह जगत् उनसे उत्पन्न, उनकी जीवरूपा पराप्रकृति ारण किया जाता है। वह कहते हैं उन सच्चिदानन्द परमात्मा से यह सब जगत् ही परिपूर्ण है जैसे जल से बर्फ और सब भूत उसके अन्तर्गत संकल्प के आधार स्थित है, इसलिए वास्तव में वह उनमें स्थित नहीं है। जैसे आकाश से उत्पन्न

हुआ, सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु सदा ही आकाश में स्थित है, वैसे ही उनके संकल्प द्वारा उत्पन्न होने से सम्पूर्ण भूत उनमें स्थित हैं।

उनका कहना है—"मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपनी योगमाया के एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूं। इसीलिए मेरे को ही तत्त्व से जानना चाहिए।

जीवात्मा—जीवात्मा को भगवान् ने अपना ही सनातन अंश बताया है। जैसे विभागरहित स्थित हुआ महाकाश भी घटों में पृथक्-पृथक् की भांति प्रतीत होता है, वैसे ही सर्वभूतों में एकीरूप से स्थित हुआ परमात्मा भी पृथक्-पृथक् की भांति प्रतीत होता है। आत्मा में परमात्मा के सभी गुण हैं। यह भी सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है, अविनाशी है। इसी से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है। यह अमर है, अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है तथा पुरातन है। शरीर का नाश भले ही हो जाए, पर इसका नाश नहीं हो सकता। इस आत्मा को शस्त्रादि काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती।

इस आत्मतत्व को बड़ा गहन बताते हुए भगवान् कहते हैं कि तभी तो कोई महापुरुष इस आत्मा को आश्चर्यवत् देखता है, कोई दूसरा आश्चर्य की तरह इसके तत्व को कहता है, कोई अन्य इस आत्मा को आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इस आत्मा को नहीं जानता।

(ख) विश्व-धर्म में—

संसार भर के सब धर्म अपनी-अपनी डफली बजाते हैं और केवल उसे ही सच्चा बताते हैं। गीता में भगवान् कहते हैं कि 'किसी मार्ग से जाएं सब उसी के पास पहुँचते हैं, जो मुझे जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूं। इस रहस्य को जानकर ही बुद्धिमान् मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार ही बरतते हैं।

हमें सब रूपों में उस एक प्रभु के ही दर्शन करने चाहिए, तभी वे हमारे लिए और हम उनके लिए अदृश्य नहीं रहेंगे, क्योंकि वे दृढ़ता से आश्वासन देते हैं—"यद्यपि मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूं, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय ही, परन्तु जो भक्त मुझे प्रेम से भजते हैं वे मेरे में और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूं।" जैसे सूक्ष्म रूप से अग्नि, सब जगह व्यापक होता हुआ भी, साधनों द्वारा प्रकट करने से प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही सब जगह स्थित हुआ परमेश्वर भी भक्ति से भजने वाले के ही अन्तःकरण में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है।

श्रीकृष्ण ने प्रतिदिन व्यवहारार्थ सुन्दर मार्ग दिखाया है : "तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो हवन करते हो, जो भी दान करते हो और जैसा भी तप करते हो, वे सब मेरे ही अर्पण कर दो।"

इस प्रकार गीता का धर्म संसार से भाग जाने को या संसार में रहकर काम न करने को नहीं कहता; बल्कि मानव-मात्र को स्वार्थ के त्याग पर बल देते हुए प्रभु और प्रभुजनों के लिए कर्म करने को कहता है। यदि हम दूसरों के लिए जीना प्रारम्भ कर दें तो यही संसार स्वर्ग बन जाएगा।

(ग) विश्व-संस्कृति में—

विश्व-मानव के प्रति सबसे पहले मानवता का आदर्श इस प्रकार रखा है कि मनुष्य किसी सांसारिक व्यक्ति या पदार्थ से उद्विग्न न हो, न स्वयं किसी की उद्विग्नता का कारण बने, न किसी से भय माने और न किसी दूसरे के भय का कारण बने। ईश्वर-दृष्टि पैदा कर ले। पर-निन्दा की अपेक्षा यह भाव बनाये रखे कि प्रभु उसके अपने विषय में क्या निर्णय करेंगे। उसका कोई अपना विचार या कर्म ऐसा तो नहीं जिसके लिए प्रभु के सामने होने से संकोच होगा। फिर तो उस दशा में न तो कोई शत्रु दिखेगा, न मित्र। सबमें एक तत्त्व ही दिखाई देगा, जिससे उसके व्यवहार में भी एकता आ जाएगी तथा स्वसुख-त्याग की भावना दृढ़ होती जाएगी। ऐसी धारणा यदि स्थिर होती चली गयी तो दुःखालय कहलाने वाला संसार सुख का साधन बन जाएगा। इसी आदर्श ने भारतीय संस्कृति को विश्व भर में ऊँचा स्थान दिलाये रखा है।

सभी मनुष्यों की बुद्धि का स्तर सामान नहीं हो सकता। अतः बुद्धिमान् लोगों को यह आशा करना व्यर्थ है कि सब उन जैसा व्यवहार करें। जो जैसा कर रहा उसमें से उसकी श्रद्धा को न डिगाएं, अन्यथा होगा कि वहाँ से श्रद्धा तो उखड़ जाएगी, पर जहाँ वे चाहेंगे वह जम न सकेगी। इससे प्रकट होता है कि गीता धर्म-परिवर्तन का अनुमोदन नहीं करती। यदि ऐसे मार्ग पर पूर्ण सिद्धि इस जन्म में कठिन दीख पड़े तो भी निराश होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि जो कुछ भी यहाँ कर पाया है, वह कदापि व्यर्थ नहीं जाएगा। यही संस्कार उसे ऐसा शरीर दिलवाएंगे जिससे वह आगे बढ़ सकेगा।

मरणोपरांत जीवन

आत्मा की अमरता और मृत्यु के पश्चात् की स्थिति के दो महान् सत्य है। अमरता से तो गीता का प्रारम्भ होता है। शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। देखना यह होगा कि यहाँ हर घड़ी प्रभु की याद बनी रहे तभी तो अन्त समय स्वभावतः वही सबसे प्रबल प्रवृत्ति के नाते शारीरिक दुर्बलता रहने पर भी उभरेगी जिससे अन्त की शुभ मति के अनुसार सद्गति हो जाएगी।

गीता मरणोपरांत जीवन की स्थिति को मानती है और जीव के परलोक-गमन का भी समर्थन करती है।

उपसंहार

इसी ज्ञान को अर्जुन को मित्र या बन्धु के रूप में नहीं, मानव जाति के एक प्रतिनिधि के रूप में, पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं दिया था और यह आज भी सर्वत्र, सदैव तथा सर्वथा चरितार्थ करने की आवश्यकता है और इसमें ही परम सुख की निधि निहित है।

व्यक्ति-व्यक्ति में एकात्म भाव को प्रस्तुत कर जाति, धर्म, वर्ण, धन आदि के कारण समाज में फैले हुए विभेदों को मिटाकर आज भी गीता विश्व में फैली हुई समस्याओं का समुचित समाधान प्रस्तुत करती है।

सच्ची संस्कृति का सार जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर आधारित है। इसमें भारतीय संस्कृति की पूर्ण झलक मिलती है। इच्छाओं का त्याग और आंतरिक शान्ति भारतीय संस्कृति की विशेष देन है। भारतीय संस्कृति पर आत्मा की अमरता और मनुष्य के ईश्वरत्व की गहरी छाप है। गीता में भारतीय संस्कृति की इस विचारधारा की झलक पदे-पदे मिलती है।

—o—

अध्याय ५

रामायण महाभारत युग

वेदकाल के पट-परिवर्तन के साथ रामायण के रूप में जो कवि-कृति हमा समक्ष आती है, उसे जन-मानस ने आदि काव्य के रूप में स्वीकृति दी है और उसं रचयिता को आदि कवि की संज्ञा से विभूषित किया है।

तत्कालीन युग में अश्वमेधादि से उत्पन्न महाकोलाहल के बीच एक तटस्थ विरक्त महर्षि की असीम करुणा निरीह क्रौंच के क्रन्दन से उमड़ कर एक अमर काव्य का रूप ले लेती है। यह निश्चित ही भारत के इतिहास की एक आश्चर्यजनक महा घटना है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि करुणाप्रवण महर्षि वाल्मीकि के हृदय में जन कल्याण की भावना भी द्विगुणित वेग से प्रवाहमान् होगी, जिस कारण उन्होंने जन साधारण को उच्च स्तरीय ज्ञान-कथा के सरल माध्यम से देने का स्वतः प्रयास किया।

महाकाव्य—जन-साधारण वेदों और उपनिषदों के आध्यात्मिक आदर्श को समझने में असमर्थ है। इसलिए महर्षि वाल्मीकि और व्यास ने क्रमशः रामायण औ महाभारत की रचना की। उच्च सिद्धान्तों को इनमें दृष्टान्त और कथा के माध्यम से समझाया गया है। रामायण और महाभारत भारतीय समाज के विधायक के दो महाकाव्य हैं। इनमें महाभारत संसार भर के महाकाव्यों में सबसे बड़ा महाकाव्य है। हर घर में इसकी प्रतिष्ठा है।*

---

*I do not know any work anywhere which has exercised such a continuous and pervasive influence on the mass mind as these two (Epics), dating back to remote antiquity, they are still a living force in the life of the Indian people.

—J. L. Nehru : Discovery of India

रामायण का कथा-सार

वाल्मीकि रामायण आदि महाकाव्य है। रामायण की कथा-वस्तु पुरुषोत्तम राम के चरित्र के चतुर्दिक् बुनी गयी है। यह काव्य के नायक हैं, अतः इनका चरित्र पाठक के समक्ष रहता है। राम अयोध्या-नरेश दशरथ के पुत्र थे। ये चार भाई थे; राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न। राम उनमें सबसे बड़े थे। तत्कालीन प्रथा के अनुसार राम के वयस्क होने पर उनके युवराज बनने का अवसर आया, परन्तु अपनी पत्नी कैकयी के वचनबद्ध होने के कारण राजा दशरथ को विवश होकर राम को चौदह वर्षों के लिए वनवास तथा कैकेयी-पुत्र भरत को राज्य देना पड़ा।

अत्यधिक अनुरोध पर रामचन्द्र जी ने पत्नी सीता एवं अनुज लक्ष्मण को भी संग चलने की अनुमति दे दी। राम के वियोग का कष्ट दशरथ के लिए असह्य हो उठा और वे परलोकवासी हो गये। भाई राम के प्रति अगाध श्रद्धा एवं प्रेम होने के कारण तथा स्वभाव से ही न्यायप्रिय होने के कारण भरत ने सिंहासनारूढ़ होना अस्वीकार कर दिया। वे चौदह वर्षो तक राम की पादुकाएं सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर शासन-व्यवस्था देखते रहे।

श्री राम ने गोदावरी-तट पर पंचवटी नामक स्थान पर कुछ समय तक निवास किया। वहाँ के समीपवर्ती स्थानों में राक्षसों का आतंक छाया हुआ था। वे ऋषि-मुनियों को उनके यज्ञ में विघ्न डालकर अथवा उनकी समाधि भंग कर अनेक प्रकार के उपद्रवों से तंग किया करते थे। श्रीराम ने उनका दमन किया। परिणामतः राक्षसों के राजा महाप्रतापी, लोकपीड़क रावण से उनकी शत्रुता ठन गयी। शत्रुता की भावना को और भी प्रज्वलित करने के उद्देश्य से रावण सीता को अपहरण कर लंका ले गया। फलस्वरूप राम और रावण का घनघोर युद्ध हुआ।

ज्योति के पत्र में लिखा रह गया,
राम रावण का अपराजेय समर।

दोनों पक्ष की सेना हताहत हुई। रावण के अनेकानेक सेनापति मारे गये। अंत में दीर्घकालीन युद्ध के उपरान्त रावण भी मारा गया। लंका का राज्य विभीषण को देकर श्री राम, सीता तथा लक्ष्मण सहित अयोध्या लौट आये। वनवास की अवधि पूर्ण हो चुकी थी। अयोध्या में उनका राजतिलक हुआ। वे प्रजा-वत्सल न्यायप्रिय राजा थे। जन-रुचि और जन-विचारों का आदर करते थे। प्रजा उन्हें प्राणों के समान प्रिय थी। अतः दीर्घकाल तक रावण के अधीन रहने के कारण जब सीता के चरित्र के सम्बन्ध में भी जनता के कुछ विचार राम को ज्ञात हुए तो उन्होंने सीता को तत्काल वन में भेज दिया। वे उस समय गर्भवती थीं। वन में महर्षि वाल्मीकि ने उन्हें

अपने आश्रम में आश्रय दिया। वहीं उनके पुत्र लव-कुश का जन्म हुआ। अपने पिता के समान लव-कुश भी अत्यन्त वीर और तेजस्वी थे। राम ने अश्वमेघ यज्ञ किया तो लव-कुश ने उनका घोड़ा पकड़ लिया और राम से युद्ध किया। अंत में राम ने उन्हें पहचान लिया और सीता एवं लव-कुश को अयोध्या ले आये।

महाभारत की कथा-वस्तु

महाभारत महाकाव्य के महानायक महाभारत के प्रतिष्ठाता भगवान् स्वयं श्रीकृष्ण हैं। द्वापर युग के अन्त में उन्होंने विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए विशेष मूर्ति धारण की थी। भारत की अखण्डता, भारतीय आत्मा की मुक्ति, मानव-समाज के सनातन नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श की विजय और इस महान् आदर्श के आधार पर भारतीय महाजाति का संगठन—यही उनकी समस्त कर्म और चेष्टाओं का लक्ष्य था। भारत में सम्यक् ऐक्य की स्थापना के द्वारा समग्र विश्व में ऐक्य प्रतिष्ठा का पथ प्रशस्त करना उनका आन्तरिक अभिप्राय था, क्योंकि भारतवर्ष सम्पूर्ण मानव जगत् का आध्यात्मिक केन्द्र रहा है। इसमें महामिलन का आदर्श सुप्रतिष्ठित हो जाने पर पृथ्वी के अन्यान्य देशों में भी वही धारा बहने लगती है। इसके लिए उन्होंने शान्ति के मार्ग का ही अनुसन्धान किया था, परन्तु एकत्व-भावना और साम्य का आदर्श, उनकी अखण्ड महाभारत की प्रतिष्ठा की परिकल्पना, उनका आध्यात्मिक नींव पर राष्ट्र और समाज के निर्माण का संकल्प, आसुरी भाव वाले राजनेताओं को अच्छा नहीं लगा। वे उनके शत्रु बन गये।

श्रीकृष्ण ने जब यह अनुभव किया कि उनके आदर्श प्रतिष्ठा में बहुत से कांटे देश और समाज के क्षेत्र में अपनी जड़ जमाये फैले हैं, जिनको जड़ से उखाड़े बिना लक्ष्य की सिद्धि नहीं होगी, धर्मराज्य की स्थापना नहीं होगी, तो उन्होंने सब प्रकार की विद्रोही शक्तियों को ध्वंस करने का निश्चय किया। महाभारत के युद्ध का यही प्रमुख हेतु था। धार्तराष्ट्र और पाण्डवों के साम्राज्य विकास का विवाद तो एक निमित्त मात्र था। समाज को आदर्श की ओर जाने में उनके प्रेमार्द्र हृदय में शोक, भय, ताप, चिन्ता और खेद नाम मात्र को भी उत्पन्न नहीं हुआ। विराट् आदर्श की स्थापना के लिए अपने असंख्य प्रियजनों के प्राणों की बलि देने में भी उन्हें संकोच नहीं हुआ। व्यासदेव तथा पाण्डवों ने, विशेषतः अर्जुन ने, इस कार्य में उनका हाथ बटाया। व्यास के ज्ञान और अर्जुन की शूरता ने श्रीकृष्ण के मस्तिष्क और भुजा का कार्य किया था।

कुरुवंश की एक शाखा के नेता थे अहंकारी दुर्योधन। उन दुर्योधन को केन्द्र बनाकर जब श्रीकृष्ण के आदर्श के स्थापन-पक्ष के विरोधी राजाओं ने अपना संगठन

हो गयी। पाँच पाण्डव ही बच रहे और बच रहे स्त्री, बालक तथा वृद्ध जो युद्ध में सम्मिलित ही नहीं हुए थे। निःक्षत्रिय भारतवर्ष में धर्मराज युधिष्ठिर चक्रवर्ती पद पर प्रतिष्ठित हुए और अखण्ड महाभारत की नींव पड़ी।

महर्षि व्यासदेव ने श्रीकृष्ण के आदर्श और विचारधारा को केन्द्र बना कर, तद्भावभावित कर्मी, ज्ञानी और भक्तों के जीवन को आधार बनाकर तदनुकूल शास्त्र, युक्ति और इतिहास का आश्रय लेकर महाभारत के इस कथानक के माध्यम से तत्कालीन आर्य जाति के आचार, विचार, व्यवहार और धर्म का रहस्य, अर्थशास्त्र, नियामक कामशास्त्र, वर्णाश्रम के सामान्य धर्म और विशेष धर्म, स्त्री-धर्म, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा आदि के पारस्परिक धर्म, राजनीति, सामान्य नीति, कपट नीति, युद्ध-कला, युद्ध समय में नगर आदि की व्यवस्था, विविध कौशल, सृष्टि सौन्दर्य, अध्यात्मक ज्ञान तथा सर्वनियामक परमेश्वर का निरूपण बड़े विशद रूप से किया है। एक जनोक्ति है कि **'यन्न भारते तन्न भारते'**—अर्थात् भारतीय साधना के क्षेत्र में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, ऐसा कोई भी मत और मार्ग नहीं है, ऐसी कोई समस्या और समाधान नहीं है, जिसकी महाभारत ग्रन्थ में पूर्ण निपुणता के साथ व्याख्या और आलोचना न हुई हो।

रामायण तथा महाभारत काल की संस्कृति

कौटुम्बिक स्थिति—रामायण काल में संयुक्त परिवार की प्रणाली थी, जिसमें पिता की आज्ञा शिरोधार्य की जाती थी। महाभारत काल में धृतराष्ट्र दुर्योधन को आज्ञा न दे सके तो यह अपवाद था। परिवार में ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार-पूर्ण स्थान था। वही पिता का उत्तराधिकारी और उत्तर क्रिया करने का पात्र होता था। 'पुं' नामक नरक से बचने और पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए पिता पुत्र की कामना से दीर्घकाल तक तपस्या, अनुष्ठान, पुत्रेष्टि यज्ञ करते थे। प्राचीन भारत में आर्य संस्कृति की उत्कृष्टता का रहस्य उसके पारिवारिक जीवन की श्रेष्ठता है। इसका प्रोज्ज्वल उदाहरण रामायण में चित्रित है। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, पति-पत्नी में, देवर-भौजाई में, सास-बहू में परस्पर स्नेहसिक्त और अनुकरणीय सम्बन्ध होते थे। कुटुम्ब के अनुशासन में तरुणवर्ग, स्वार्थ-त्याग, निश्छल प्रेम और सेवा-भावना जैसे आदर्श गुणों को धारण करता था। यदि रामायण तथा महाभारत का अध्ययन हमारे घरों में श्रद्धा-प्रेम से निरन्तर होता रहे तो घरों पर बैठे स्वर्ग का सुख प्राप्त हो सकता है।

स्त्रियों की स्थिति—कन्यावस्था में उनका लालन-पालन एवं प्रेम से किया जाता था। परिवार में अविवाहित कन्याओं को मांगलिक और उनकी उपस्थिति को शुभ शकुन माना जाता था। रामायण-महाभारत के प्रमुख स्त्री-पात्रों की मर्यादा

से यह स्पष्ट है कि विवाह के पूर्व उन्हें अपने घरों में समुचित शिक्षा मिल चुकी थी। क्षत्रिय कुमारियाँ राजधर्म, पौराणिक साहित्य, ललित-कला तथा युद्ध-कला से परिचित होती थीं। वे अपने पति के साथ युद्ध-स्थल में भी जाया करती थीं। कैकेयी ने युद्ध में रथ की धुरी टूट जाने पर अपनी भुजा के प्रयोग से अपने पति दशरथ की आड़े समय में सहायता की थी।

विवाह के पश्चात् वधू रूप में पति-गृह में प्रवेश करती थी, जहाँ उसे पति-प्रेम और सास-श्वसुर का हार्दिक स्नेह प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता था। अपने मधुर व्यवहार में वधू उन्हें बाध्य कर देती थी कि वे उसे आंख की पुतली बनाकर रखें। पतिव्रता धर्म का आदर्श सर्वोपरि था। स्त्री के लिए पति ही देवता, पति ही प्रभु है। वह अपने अस्तित्व को पति के व्यक्तित्व में मिटा देने में ही सुख मानती थी।

यद्यपि वैधव्य स्त्रियों के लिए घोरतम विपत्ति थी तथापि विधवाएं अनादर का पात्र नहीं थीं। दशरथ की विधवा रानियां तथा कुन्ती आदि ने बाद में सम्मान-पूर्ण जीवन व्यतीत किया। निष्कर्ष यह है कि स्त्रियों की समाज में प्रतिष्ठा थी। यह माना जाता था कि जहाँ स्त्रियों का आदर-सत्कार होता है वहाँ देवता वास करते हैं।

आर्थिक स्थिति—कृषि देश का मुख्य उद्योग था। सिंचाई के साधनों में प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त कृत्रिम उपायों का संकेत मिलता है। वैसे सामयिक वर्षा उपज के लिए लाभकारी थी। खेती के लिए औजार के रूप में हल, कुदाल आदि प्रयुक्त होते थे। गो-पालन के अतिरिक्त हाथियों और घोड़ों की अच्छी नसलें उत्पन्न करने का एक व्यवसाय था। पशु-पालन द्वारा दुग्ध, दुग्ध-पदार्थो तथा हाथी दांत का व्यवसाय होता था। लोहा, तांबा, पीतल, काँसा, चांदी, सोना, सीसा और टिन जैसे खनिज पदार्थों का उल्लेख पाया जाता है। इससे बनी वस्तुएं दैनिक उपयोग में आती थीं। वस्त्रोपयोग भी प्रचलित था।

कुसुमों के रंग से कपड़े रंगे जाते थे। व्यापार की स्थिति बड़ी ही समृद्ध थी। समुद्र-पार विदेशी व्यापार के भी प्रमाण मिलते हैं। कम्बोज आदि देशों को सोना चांदी, हीरा, माणिक, चावल, मिर्च, रेशमी वस्त्र तथा लाख आदि वस्तुओं का निर्यात होता था। राज्य की सहायता से सूती, ऊनी तथा रेशमी कपड़ों का उद्योग उन्नति पर था। शिल्प के ऊंचे स्तर का प्रमाण पाण्डवों के राजमहल के फर्श देते थे जिनको दुर्योधन ने भ्रमवश जल समझ लिया था। जल, थल तथा नभ, इन तीनों मार्गों से ही यातायात होता था। रथ, पोत तथा यान यातायात के साधन थे। इस आर्थिक

सुव्यवस्था का रहस्य समाज में धन का सन्तुलित विभाजन था, जिसमें आर्यों की वर्ण-व्यवस्था विशेष रूप से सहायक थी।

राजनीतिक जीवन—राजाओं का यह मुख्य धर्म माना जा था कि प्रजा की रक्षा अपनी सन्तान समझ कर करें। पहली बात जो भरत के वन में मिलने पर राम ने पूछी वह यही थी कि 'प्रजा तो सुखी है? तालाबों में पानी है? सैनिकों को वेतन तो बराबर मिलता रहता है? जंगली जानवरों से तो प्रजा सुरक्षित है? राजा निरंकुश नहीं होते थे। वे प्रजा की भावनाओं का पूर्णतया आदर करते थे। राम को युवराज-पद देने से पहले प्रजा की सम्मति ली गयी थी। कुल-पुरोहित वशिष्ठ जी की आज्ञा सदैव शिरोधार्य की जाती थी। राजा जनक ने अनावृष्टि होने पर स्वयं हल चलाया था। कृषि, पशु-पालन तथा शिल्प, इन तीनों की उन्नति की चिन्ता राजा को रहती थी। राजा को परामर्श देने के लिए एक परिषद् होती थी। कर-प्रणाली ऐसी थी कि प्रजा को कर का भार अनुभव न हो। जैसे सूर्य के समुद्र, सरोवरों और तालाबों में से पानी सोखने का आभास नहीं होता, पर वर्षा के रूप में जल खूब बरसता है तब सबको पता लग जाता है। इसी प्रकार राजा सार्वजनिक कार्यों के लिए कर रूप में प्राप्त धन को प्रचुर मात्रा में लौटाते थे। जब तक संसार है राम-राज्य आदर्श रूप में ही रहेगा।

राम-राज्य—उनकी प्रजा स्वतन्त्र होने पर भी सनाथ थी। प्रजा की तुष्टि के लिए राजा राम ने सती साम्राज्ञी सीता को त्याग दिया। शासक ने धर्म-भावना इतनी बना रखी थी कि लोग पाप से डरते थे। वहाँ एक ही आन्दोलन चलता था। "मन की दासता से मुक्त रहो।" अतः कारागार रिक्त थे। न्यायालय थे, पर वाद के लिए कोई नहीं जाता था। प्रजा पर पड़ी विपत्ति का कारण राजा अपने को मानते थे।

विजय प्राप्ति पर लंका का राज्य विभीषण को दे दिया और बालि का राज्य सुग्रीव को। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने जरासन्ध की कैद से सैकड़ों राजाओं को मुक्त कर उनके राज्य वापस किये। कंस का वध करके राज्य उनके पिता उग्रसेन को ही दिया। युद्ध में धर्म-पालन किया जाता था। रात्रि को युद्ध बन्द रहते थे। निःशस्त्र पलायन करते योद्धा पर वार नहीं करते थे। आजकल की तरह निर्दोष प्रजा पर अन्धाधुन्ध बम नहीं बरसाये जाते थे।

धार्मिक दशा—उस काल की संस्कृति धर्म द्वारा पूर्णतया अनुप्राणित थी। वेदों का प्रभुत्व सर्वव्यापी था तथा आर्य उपयुक्त समय पर सन्ध्योपासना करने में बड़े जागरूक रहते थे। मन्दिरों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। वैदिक

ेवताओं का स्थान त्रिमूर्ति ने ले लिया था, पर इनके भक्तों में कोई विरोध नहीं ा। विष्णु और शिव सर्वत्र छा गये थे, पर ब्रह्मा जिनसे मनुष्य क्या देवताओं की ी उत्पत्ति मानी जाती है, अन्तर्धान ही रहे। उनका केवल एक पुष्कर तीर्थ ही वेख्यात है, लेकिन राम, कृष्ण के रूप में विष्णु सभी मन्दिरों में प्रतिष्ठित थे। भगवान् शिव से भी कोई स्थान खाली न था। उजाड़ हो, बस्ती हो, एक पीपल का वृक्षमात्र दिखाई देता हो, वहाँ शिवलिंग अवश्य मिलेगा।

धर्म-पालन का, जो कि मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, आदर्श ऊँचा रहता था और यह पालन धर्म के लिए होता था, न कि स्वसुख के लिए। धर्मराज युधिष्ठिर ने, नल ने, स्वयं सीता, राम, कुन्ती, द्रौपदी, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र आदि बड़े-बड़े कष्ट धर्म के लिए ही उठाये, पर धर्म से विचलित नहीं हुए। सात्विक और दिव्य जीवन की ओर प्रेरित करने वाली सभी बातें धर्म के अन्तर्गत थीं। रामायण और महा-भारत के चरित्र-चित्रण में धर्म की साकार मूर्तियां, धर्म के ज्वलन्त आदर्श विद्य-मान हैं।

भौतिक क्षेत्र में—रामायण और महाभारत में धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र में तो भारत ने ऊंची उड़ानें ली ही, गीता के द्वारा भारत को जगद्गुरु की पदवी भी मिली। संजय ने योग-बल से हस्तिनापुर में बैठे हुए कुरुक्षेत्र में हो रहे युद्ध का पूरा विवरण धृतराष्ट्र को साथ-साथ देकर सबको चकित कर दिया। भौतिक क्षेत्र में भी जो आदर्श स्थापित किये गये उन्होंने भारत के महत्त्व को बढ़ा दिया, जैसे शास्त्र-विद्या में राजा दशरथ का शब्द-भेदी बाण से पानी भरते हुए श्रवणकुमार को मार देना, अर्जुन का बाणों से—(१) स्वयंवर में मछली को बेधना, (२) पृथ्वी से जल निकालकर शरशय्या पर पड़े भीष्म की प्यास बुझाना, द्रोणाचार्य का शस्त्र-विद्या द्वारा कुंए से गेंद निकालना, युवा अभिमन्यु का चक्रव्यूह में अकेले प्रवेश करना, लव-कुश का युद्ध में भगवान् राम तक को अचम्भे में डाल देना, अभियान्त्रिकता में नल-नील का समुद्र पर पुल बनाना जिसके अवशेष अभी तक दिखायी देते हैं तथा श्री राम का पुष्पक विमान में अयोध्या लौटना, शारीरिक बल में चक्षुहीन धृतराष्ट्र का लोहे के भीम को चकनाचूर करना आदि-आदि आदर्श कहाँ तक गिनाये जा सकते हैं? वे विश्व-इतिहास में अद्वितीय ही रहेंगे।

रामायण तथा महाभारत का महत्त्व

मिशेलेट ने वाल्मीकि रामायण के विषय में लिखते हुए १८६४ ई० में कहा था: 'जो भी बहुत काम करने से अथवा चिन्तन करने से थक गया हो

अध्याय ६

स्मृति तथा पुराण

श्रुति और स्मृति धर्म के शाश्वत प्रमाण हैं। श्रुति द्वारा अनुभूतियों व स्मरण में रखना 'स्मृति' है। श्रुति अपौरुषेय वाणी है जबकि स्मृति श्रुति का आश्र लेकर चलती है। प्रत्यक्ष अनुभूति को श्रुति करते हैं। इन अनुभूतियों की पुनरावृ स्मृतियों का रूप लेती है। श्रुतियों के अनन्त स्मृतियों की महत्ता हैं। स्मृतियां श्रुति की अनुगामिनी हैं। श्रुतियों के बाद उनकी प्रामाणिकता है। वैदिक कर्मकांड व स्पष्टीकरण ही स्मृतियों का ध्येय है। स्मृतियां धर्मशास्त्र मानी जाती हैं। इन निर्देश से वैदिक समाज का पारिवारिक और राष्ट्रीय जीवन शासित होता है साधारणतया देखा जाये तो वेदों के बाद स्मृतियां ही हैं जो वैदिक धर्म का सांगोपां विवेचन प्रस्तुत करती हैं। मनुष्य अपना निखिल जीवन किस तरह बिताए, इसव समाधान इनमें वर्णित है। वर्णाश्रम धर्म तथा अन्यान्य क्रिया-कलाप, विधि-निषे आदि स्मृतियों में ही प्रतिपादित है। चित्तशुद्धि के उपाय तद्द्वारा चतुर्विध पुरुषा की प्राप्ति स्मृतियों के विशिष्ट विषय हैं।

देश, काल और सामयिक परिस्थितियों के अनुसार स्मृतियां बदलती रहती हैं अतः ऋषि-मुनियों ने भी तदनुकूल नयी-नयी स्मृतियों का प्रणयन किया। उन्हों समयानुसार सामाजिक नियमों में कुछ संशोधन-परिवर्तन करके उन्हें तत्कालीन समा के अनुरूप बना दिया। वे इतना ध्यान में अवश्य रखते थे कि वेद की मर्यादा क उल्लंघन न हो। इन विधि-प्रेणताओं में मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर के ना अग्रगण्य हैं। ये तीनों महर्षि भारतीय समाज के प्रवर्तक और नियामक माने जाते हैं इनके नाम पर ही स्मृतियों का भी नाम है। मनुस्मृति या मानव-धर्मशास्त्र याज्ञवल्क्य स्मृति और पराशर स्मृति।

मनुस्मृति सबसे बड़ा नीतिशास्त्र है। अन्य संहिताकारों ने अधिकतर उन्हीं के सिद्धान्तों का समर्थन किया है।

मनु, याज्ञवल्क्य, शंखलिखित और पराशर की स्मृतियां क्रमशः सत्य, त्रेता,

द्वापर और कलियुग के अनुरूप कही जाती हैं। सब स्मृतियों का ध्येय मोक्ष है।

विशेषतया मनुस्मृति में सृष्टिक्रम की सुन्दर व्याख्या है और उस क्रम की आधारशिला जिस दिव्य नियम पर आधारित है उसको कार्यान्वित करने को वर्णाश्रम के सामान्य तथा विशेष धर्मों का विशद विवरण है। क्योंकि तदनुरूप नियम ही भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति द्वारा सामाजिक संस्थाओं में सुन्दर गठन ला सकता है कारण कि निज शक्ति तथा क्षमता के अनुसार व्यक्ति के क्रमिक विकास द्वारा ही आध्यात्मिक विश्वव्यापकता सम्भव है। इन धर्मों में इन्द्रिय-संयम मन-वचन-कर्म में समानता अपरिग्रह, अक्रोध, सहिष्णुता तथा मनोजय आदि गुणों का समावेश है।

वर्ण-धर्म

मानव समाज को वर्ण-धर्म की आवश्यकता :—मानव समाज में मनुष्य को अपनी परिस्थितियों के साथ समझौता करना पड़ता है। अपने अपने विकास के अनुसार उस जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रहकर अपने धर्म का पालन करना होता है। भारत की स्मृतियों ने गुण और स्वभाव के अनुसार ही विकास के आधार पर मनुष्य के विभिन धर्म निर्धारित किये हैं, मानव जाति एक ही सूत्र में पिरोई हुई है, अतः एक का सुख दूसरे पर निर्भर रहता है। त्रिगुणात्मक जगत् में प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति अपने में विशेष एवं परस्पर भिन्न हैं। समाज को प्रत्येक व्यक्ति के गुण के उपयोग की आवश्यकता है। कोई भी दो व्यक्ति एक ही जैसे विचारों के हो नहीं सकते। पश्चिमी देशों में प्लेटो के समय से ही समाज का विभाजन इस प्रकार चला जा रहा है। दार्शनिक तथा ज्ञानी-पुरुष, वीर, रक्षक, व्यापार में रुचि रखने वाले वणिक् और श्रमिक, इससे मनुष्यों के गुणों और उनकी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार सामाजिक जीवन की सुन्दर व्यवस्था रहती है। निज स्वभाव से नियत किए हुए स्वधर्मानुसार कर्म को करता हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। यह सामाजिक विभाजन का उद्देश्य परस्पर प्रेम सम्बन्ध स्थिर रखना है। चारों ओर सुख शान्ति फैले इस उद्देश्य से इस यज्ञ में हर मनुष्य को अपनी ओर से स्वयं को ठीक समझते हुए अपने व्यक्तित्व को विकसित करते हुए अपनी सेवा की आहुति अर्पित करनी है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि प्रकृति के गुण और स्वभाव के अनुसार ही विकास के आधार पर वर्ण व्यवस्था की गयी।

भारतीय वर्ण-व्यवस्था का लक्ष्य :—आदि-मानव संस्कृति अथवा आर्य संस्कृति का केन्द्र शक्ति का दिव्यत्व ही है—ईश्वर ही परम प्राप्तव्य है। ईश्वरोदित शास्त्र आचार, विचार के ग्रंथ हैं, उनमें उद्घोषित धर्म ही परम विधेय कर्तव्य है।

इस संस्कृति में चतुर्विध पुरषार्थ की व्यवस्था है। धर्म प्रधान साधन है, और 'मोक्ष' प्रधान साध्य। इनके बीच में 'अर्थ' जीवन का आवश्यक व्यवहार ऐसा रहे कि धर्म के विरुद्ध न हो और काम अथवा 'विषय-भोग' ऐसा हो कि वह मोक्ष के विरुद्ध न हो और उस की प्राप्ति में विघ्न न डाले। इस प्रकार का जीवनयापन किस भाँति किया जा सकता है इसका विधि-विधान स्मृतियां बतलाती हैं।

चतुर्वर्ण की उत्पत्ति— ऋग्वेद के पुरुप सूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र विराट् स्वरूप के क्रमशः मुख, बाहु, जांध और चरणों से उत्पन्न हुए। दूसरे शब्दों में समाज का मस्तिष्क ब्राह्मण है, जिनको बौद्धिक कार्य के लिए उपयुक्त माना गया। यह सब सत्त्वगुण प्रधान, विचारवान, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक, पुरोहित और मन्त्री होते थे। क्षत्रिय समाज का शारीरिक बल है, क्योंकि इनमें रजोगुण की प्रधानता थी अतएव यह सब कर्मठ, राज्याधिकारी, शूरवीर सैनिक तथा लोक नेता रहे। देश पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं से इनको ही टक्कर लेनी पड़ती थी। देश-रक्षा का पूर्ण भर इनके कन्धों पर होता था शेष सभी वर्ण देश की उन्नति के लिए अपना कार्य निश्चित होकर इनकी सुरक्षा में करते थे। जनता के पालन-पोषण का तथा देश की आर्थिक उन्नति का भार रज, तम, मिश्रित गुण वाले वैश्यों पर रहता था। ये देश की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए कृषि, पशुपालन व्यापार द्वारा वित्त-सम्पादन करते थे। ये धातुओं के गुणों के मर्मज्ञ तथा रत्नों के परीक्षक होते थे।

उपर्युक्त तीनों को सेवार्थ जन-बल प्रदान करने वाले तम-गुण प्रधान शूद्र कहलाते थे। सारा समाज इन की सेवा का आधार लेकर खड़ा रह सकता है इस कारण इनको चरणों से उत्पन्न मानते हैं। ये समाज की नींव ही माने जाते थे।

इस प्रकार मस्तिष्क बल, शारीरिक-बल और धन-बल तीनों को पृथक्-पृथक् रख कर किसी एक में केंद्रित न किया जाय, एक ही बल विकृत होकर सभी प्रकार के उपद्रवों का मूल बन जाता है। जहाँ सभी एकत्रित हो जायें तो वहाँ दुरुपयोग होगा ही जैसे कि इसरायल में पोप और इसलाम में खलीफा में राजसत्ता में धर्म सत्ता जोड़ देने से समस्याएं शताब्दियों तक रहीं।

पारस्परिक समानता—यह सभी वर्ण परस्पर सहयोगी और उपयोगी हैं। कार्य कोई भी छोटा नहीं होता—तभी तो एक कार्यकर्ता लघु, दूसरा महान् का प्रश्न ही नहीं उठता। उधर गीता ने कहा—

"शुनि चैव श्वपाके च" अर्थात् कुत्ते और चंडाल में भी मेरे ही दर्शन करो।"
समदर्शिता की कितनी ऊंची उड़ान है। समाज के सुख-दुःख में सभीवर्ग

परस्पर भागीदार हैं। उसके उत्थान और पतन का उत्तरदायित्व सभी पर जाता है। कोई वरिष्ठ नहीं, कनिष्ठ नहीं।

श्री चिदम्बर कुलकर्णी के शब्दों में—"यह इसी वर्ण व्यवस्था का प्रताप है जो आज तक भारतीय जाति जीवित है।" इसी तथ्य की पुष्टि उन्होंने अपनी पुस्तक Ancient Indian History & Culture के पृष्ठ ६२ पर सिडनीलो का उद्धरण देते हुए की है*।

कोलम्बया के डा० अलफान्सो तो इस के गुण गाते थकते नहीं है।**

आश्रम धर्म—वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक संगठन था। आश्रम-व्यवस्था द्वारा बाद में स्मृति ने वे आदर्श स्थापित किये, जिन में व्यक्तिगत जीवन का क्रमिक विकास निहित है। चारों आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, आध्यात्मिक उत्कर्ष के सोपान हैं। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सकता है, क्योंकि सामाजिक संगठन और व्यक्तिगत संगठन अन्योन्याश्रित है। प्राचीन भारतीय व्यक्ति समाज के संगठन का सुदृढ़ आधार था।

उन दिनों चारों आश्रमों को क्रम से पार करने की प्रथा थी। प्रकृति के नियमानुसार विकास की गति क्रमिक है, एकबारगी नहीं। इस क्रम से शनैः शनैः प्रौढ़ता आती है। अपरिपक्वावस्था में एक को छोड़कर दूसरा आश्रम ग्रहण करना

---

*There is no doubt that the caste-system is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian Society has been braced up for centuries against the shocks of politics and the cateclysisms of nature. It provided every man with his place, his career, his occupation, his circle of friends. It makes him member of a corporate body...The caste system is to the Hindu, his club, his trade union and his philanthropic society.

—Sidney Low : 'Vision of India.' :

**The Hindu caste-system is a clear cut division, in which each person knows his place and duty. It removed confusion and made for harmony. One accepted one's station and vocation, and cheerfully went on, with one's life. And one of the advantages of this system was that knowledge could be passed on direct from father to son, and whether it was a science or craft and Yoga Shastra or Kama Shastra, what the ancient sages knew was preserved and preserved well.

—Dr. Alfanso of Columbia : "India of Yogis."

सर्वथा अनुचित है। इस नियम में कुछ अपवाद भी है। जैसे शुकदेव जन्मजात संन्यासी थे। आदि गुरु शंकराचार्य जी ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व ही संन्यास ले लिया था।

ब्रह्मचर्याश्रम में जीवन-यात्रा की नींव दृढ़ करके गृहस्थाश्रम में धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त करके चौथे संन्यासाश्रम में मोक्ष तक का मार्ग तय हो जाता है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम प्रवृत्ति मार्ग और वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम निवृत्ति मार्ग के नाम से अभिहित हैं। पहले दोनों में कर्मशील जीवन तथा दूसरे दोनों में सर्व-कर्म-परित्याग को महत्ता देनी पड़ती है, क्योंकि आर्य संस्कृति का साध्य निःस्वार्थिता है? विषय भोग नहीं। संसार के दुःखमिश्रित भोगों में आसक्ति न रखकर जीवन को त्यागमय बनाना महत्व की बात है। सम्राट राज्य का त्याग कर वन चले जाते थे। जबसे भारत त्याग की महिमा को भुलाकर पाश्चात्यों के अनुकरण से "धर्म छोड़ केवल अर्थ काम" को अपनाने लगा है, तभी से अर्थ और अधिकार के उन्माद में भारतीय नैतिक जीवन पतित हो चला। हमारे आश्रम धर्म में तो प्रारम्भ से ही त्याग की शिक्षा दी जाती थी।

ब्रह्मचर्याश्रम में धनी, निर्धन अथवा राजगृह का बालक या सामान्य जन का बालक सब के लिए एक ही प्रकार की व्यवस्था थी। भगवान् कृष्ण और सुदामा गुरु संदीपन के पास साथ-साथ विद्या ग्रहण करते थे। वहाँ नियमतः ही समस्त विलास-सामग्रियों का एन्द्रिय सुख-भोगों का त्याग और मन तथा इन्द्रियों का संयम रखना पड़ता था।

गुरुकुल में प्रवेश, उपनयन अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार के साथ ही प्रारम्भ होता था और १२ वर्ष तक वेदों के अध्ययन की समाप्ति पर दीक्षान्त भाषण देकर गुरु उसे घर भेजते थे। वह उपदेश कुछ इस प्रकार से रहता था "सत्यं वद"। 'धर्मं चर' 'मातृ देवो भव" "पितृ देवो भव"। "आचार्य देवो भव" "अतिथि देवो भव"।

'तुम सत्य बोलो' अर्थात् 'धर्म का आचरण करो'। 'अपनी माता को परमात्मा का स्वरूप मानो'। 'अपने पिता को परमात्मा का स्वरूप मानो'। गुरु को देव स्वरुप मानो, अतिथि को देव स्वरूप मानो।'

वर्तमान काल की बदली हुई परिस्थितियों में प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को पूर्ण-रूप से अपनाना भले ही संभव न हो, नैतिक और चारित्रिक गठन सम्बन्धी सद् शिक्षाओं को आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में किसी न किसी रूप में स्थान देना ही चाहिए इसी से देश का भविष्य उज्ज्वल होगा।

गृहस्थ—दूसरी अवस्था गृहस्थाश्रम है। अध्ययनादि समाप्त कर लेने तथा गृहस्थ के बोझ उठाने के लिए सक्षम हो जाने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। विवाह एक पवित्र कार्य माना गया। पत्नी पति की सहधर्मिणी अर्धांगिनी मानी गई। पति कोई भी धार्मिक काम उसके सहयोग के बिना नहीं कर सकता। यहाँ उसे भोगों में रहकर त्यागी बनना पड़ता है। धनोपार्जन अपने लिए नहीं, परिवार, समाज विश्व के और भगवान् के लिए करता है। पुत्रोत्पादन करके पितृऋण उतारता है। वह संयमी और जितेन्द्रिय होता है। सारे समाज का सेवक होता है तभी तो गृहस्थाश्रम सब आश्रमों से श्रेष्ठ माना जाता है। राजा जनकादि ने इस आश्रम की शोभा बनाए रखी थी।

वानप्रस्थ—गृहस्थ के बाद की पचास से ७५ वर्ष की अवस्था (उस समय मनुष्य की औसत आयु सौ वर्ष मानी जाती थी) वानप्रस्थ है। जैसे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए ब्रह्मचर्य की अवस्था एक तरह का पूर्वाभ्यास है, वैसे ही संन्यास जीवन में प्रवेश के निमित्त वानप्रस्थ की अवस्था भी पूर्वाभ्यास है। गृहस्थोचित सभी कार्यों से मुक्त होकर वह वन के लिए प्रस्थान करे या शहर के बाहर एकान्त में रहे इसके लिए स्वतन्त्रता थी। पत्नी चाहे तो साथ रह सकती थी।

संन्यासी—वानप्रस्थ के उपरान्त संन्यासाश्रम है—एक संन्यासी के लिए न कोई अधिकार है, न स्वत्व, न कोई अपना, न पराया, न कोई जाति, न उपाधि। उसमें सम-दृष्टि और संतुलित मन है। वह सर्वथा जीवन्मुक्त है तभी तो निष्काम होकर लोक-हितार्थ जब वह किसी धर्म कार्य करने का निश्चय कर लेता है तो सिद्धि उसके पीछे पीछे भागती है। शंकराचार्य जी ने तीस साल की अल्पायु में वेदों और गीता पर भाष्य की रचना का समय भी निकाल लिया और उन यातायात की कठिनाइयों में भारत भर में केरल से कश्मीर तक भ्रमण करके चारों धामों की नींव भी रख देने में समर्थ हो सके।

१ "पुराणात् पुराणं इति" वेद के अर्थ को पूर्ण करने से पुराण नाम पढ़ा। वेदार्थ की पूर्ति पुराणों में सिद्ध है। द्वापर के अन्त में श्री व्यासदेव जी ने देखा कि अनादि वेदार्थ बहुत विस्तृत और अव्यवस्थित हो गया था। उन्होंने उस सम्पूर्ण ज्ञान का संकलन किया और महाभारत तथा अठारह पुराणों के रूप में लिखा। पुराणों में अनेक स्थल ज्यों के त्यों वेदों के द्रष्टाओं के अनुसार रख लिये गये। इस प्रकार पुराणों की रचना महर्षि वेदव्यास जी ने की है। परन्तु उनका समस्त वर्णन, पूरे उपदेश तथा घटनाएं अनादि है। इस प्रकार पुराणों की वाणी तो व्यास-कृत है, किंतु उनमें वर्णित विषय तथा पूर्व ज्ञानादि-पूर्व ऐतिहासिक काल का है।

वेदों में समस्त ज्ञान सूत्र रूप से है श्रवण-पद्धति में ऐसा रूप ही सहायक हो सकता था। पुराणों ने उसी ज्ञान को स्पष्ट एवं विस्तृत किया है। अतः भारतीय ज्ञान, भारतीय दर्शन, भारतीय कला, भारतीय समाज-व्यवस्था सबके आधार पुराण हैं। आधुनिक विद्वानों को भी इनके लिये पुराणों की ही शरण लेनी पड़ी।

पुराण १८ हैं जिनके नाम यह हैं—

ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन, मत्स्य, विष्णु, भागवत, गरुड़, पद्म, नारदीय, वाराह, ब्रह्म, कूर्म, लिंग, शिव, स्कद और अग्नि। इनके अतिरिक्त अठारह ही उपपुराण हैं।

वैष्णवों में अधिक प्रचलित श्रीमद्भागवत है। अमरकोष तथा पुराणों में इनके पाँच लक्षण बताये गये हैं—

१. सर्ग अर्थात् सृष्टि-रचना
२. प्रतिसर्ग अर्थात् लय और पुनः सृष्टि
३. वंश अर्थात् देवताओं की वंशावलि
४. मन्वन्तर अर्थात् मनु के काल का विभाग
५. वंशानुचरित अर्थात् राजाओं की वंशावली

यह तो विषय प्रायः सब में हैं ही, इनके अतिरिक्त ऋषि-मुनियों के जीवन चरित्र, सारे तीर्थों का वर्णन, जीवन को सुखमय बनाने के साधनों का पूर्ण परिचय, भगवान् के नाना स्वरूपों तथा अवतारों की कथाएं, जीवन को उत्कृष्ट तथा सफल बनाने के लिये आवश्यक ज्ञान का विशाल भंडार, विष्णु, शिव, देवी की भक्ति के सुन्दर विवेचन, उनकी मूर्तियों के निर्माण और प्राण-प्रतिष्ठा तथा पूजन-विधि-विधानादि सब पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। लौकिक विषयों की भी उपेक्षा नहीं की गयी। भूगोल, इतिहास, ज्यौतिष शास्त्र, राजनीति, व्याकरण, रत्न विज्ञान तथा आयुर्वेद की रोचक तथा सुन्दर शिक्षाओं का भी समावेय इनमें किया गया है।

यह विषय प्रायः सभी में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त जिस देवता विशेष के नाम पर जिस पुराण की रचना हुई उसमें उसी देवता की महिमा तथा चरित्र-चित्रण विशेष रूप से दिया है।

यद्यपि ये पुराण एक ही व्यक्ति द्वारा अर्थात् श्री वेदव्यास जी द्वारा लिखे गये हैं फिर भी एक पुराण में उस देवता विशेष की सर्वश्रेष्ठता बतलाने के लिये उसे अन्य देवताओं से श्रेष्ठतम बतलाया गया है। कभी कभी इस पर आपत्ति भी उठाई जाती है कि पुराणों में परस्पर विरोध पाया जाता है, किन्तु इस आपत्ति में कोई आधार नहीं। भारतीय सदा से एक ही सत्ता को विभिन्न रूपों में पूजते आये हैं। अतः यदि इनमें कहीं-कहीं किसी देवता की विशेष प्रमुखता बतायी है तो यह

मूलतः परम सत्ता की ही विशेषता थी उसका उल्लेख भक्तों में श्रद्धा को दृढ़ करने के लिये किया गया है। उस देवता को ही सर्वस्व मानने से भक्त जन उसमें अनन्य भाव रखने में समर्थ हो सकते हैं।

पुराणों में कुछ धारणाओं का ऐसा वर्णन किया गया है जो आज के बौद्धिक मानव को सहज स्वीकार नहीं हो सकता। यदि हम उन वर्णनों में थोड़ा गहराई में जांय और पुराणों की रचना के उद्देश्य की पृष्ठभूमि को समझकर उन पर विचार करें तो हमें उनमें कोई भी अत्युक्ति या अनैसर्गिकता नहीं मिलेगी। जब मनुष्य की बुद्धि इतर तीनों युगों के मनुष्य की बुद्धि के समान सक्षम न रही और त्रिकालदर्शी व्यासजी ने देखा कि आजकल का मानव वेद और उपनिषदों के अणु से भी अधिक सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है तो उन्होंने मानव मात्र कल्याण की भावना से प्रेरित होकर वेदों और उपनिषदों के गम्भीर तत्त्वों को प्रतीकात्मक रूप में समझाने के लिये ही पुराणों की रचना की जिनसे प्रेरणा लेकर वे विदेशी आक्रमणों तथा अत्याचारों से पीड़ित होने पर स्वधर्म की रक्षा कर पाने में समर्थ हो सके।

अवतार—भारत भूमि सदा से ही धर्मभूमि रही है। वैदिक, शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिकता पर आधारित अवतारवाद की परम्परा युग-युग से ईश्वर के प्रति श्रद्धा, विश्वास तथा प्रेम भरती रही है।

अवतार का अर्थ—अवतार का अर्थ है—'अवतरित होना'—'उतरना'—सर्वव्यापक परमात्मा का किसी भी शक्ति के रूप में अवतीर्ण होना। प्रश्न उठता है कि अवतार लेने की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि परमात्मा संकल्प मात्र से जो करना चाहें कर सकते हैं। ठीक है, पर अग्नि जैसे सर्वव्यापी होते हुए भी तब तक किसी चीज को भस्म नहीं कर सकती, जब तक उसे काष्ठ में से प्रगट नहीं कर लिया जाता। ठीक उसी प्रकार जब सृष्टिकर्ता को समय समय पर अपने इस बगीचे को संभालना, सुधारना तथा संवारना पड़ता है तब वे विशेष प्राणियों के रूप में अवतार लिया करते हैं।

भगवान् के अवतारों की संख्या चौबीस बतलायी गयी है जिनमें दस मुख्य हैं:—

मत्स्य—सृष्टि के आरम्भ में सत् युग में संसार जब जलमय था, उस समय जल-जीव का अवतार ही विकास सिद्धान्त के अनुरूप हो सकता था। अतः प्रथमावतार मत्स्यावतार है। प्रलय काल में मनु को बचाकर भगवान् ने संसार को यह दिखा दिया कि जो उनका अभिन्न भक्त है, वह सदा सुरक्षित है।

कूर्म—जब जल से पृथ्वी निकली तब जल और स्थल दोनों में रहने वाले प्राणियों के दर्शन हुए। इस समय कच्छपावतार हुआ, क्योंकि कच्छप जल और

पृथ्वी दोनों में रह सकता है। यहां मन्दराचल पर्वत को अपनी पीठ पर धारण करके प्रभु यह स्पष्ट बतलाते हैं कि सदा सहायता करने वाले भगवान् भक्तों के कार्य स्वयं सिद्ध करते हैं।

वराह—जब पृथ्वी के अधिकांश भाग का दर्शन होने लगा भगवान् का वराह अवतार हुआ क्योंकि वराह जल और स्थल दोनों का प्रेमी है। यहां यह दर्शाया है कि स्मरण किये जाने पर भगवान् तुरन्त सहायक होते हैं।

नृसिंह—पशुता का ह्रास तथा मानवता का विकास शुरू हुआ। तब मानव और पशु के समन्वित रूप में नृसिंहावतार हुआ। यहाँ भक्त प्रह्लाद की पुकार पर खम्भ में से प्रगट हो कर यह शिक्षा दी कि भगवान् को कहीं पर जाना नहीं पड़ता, वह सर्वव्यापक हैं, कण-कण में व्यापक हैं। जहां चाहो, दर्शन हो सकते हैं। दुष्टों का नाश और भक्तों की रक्षा करते आये हैं। इस अवतार में भक्त के अटल विश्वास की महिमा दिखायी है।

वामन—त्रेता युग में जब मानवता आगे बढ़ी, किन्तु पूर्ण विकसित नहीं हुई तब लघु देहधारी वामन भगवान् का अवतार हुआ। जब भौतिकवाद की पराकाष्ठा होती है तब अध्यात्मवाद का उदय होता है। असुर राजा बलि के सारे वैभव को आध्यात्मिक मापदण्ड से नापने के लिये वामनावतार हुआ। 'मैं' और 'मेरा' की भेंट चढ़ाकर बलि ने आत्मसमर्पण की महिमा सिद्ध की।

परशुराम— इसके बाद परशुराम के रूप में भगवान् ने पूरे मानव का शरीर धारण किया, किन्तु तत्कालीन लोकपीड़कों के दमन के लिये परशु का प्रयोग भी खूब हुआ। भाव है कि जो शक्ति के मद में अंधे होकर पूज्य ऋषि-मुनियों का अपमान करते हैं, उनका विनाश अवश्यंभावी है।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम—मानव और मानवता का पूर्ण विकास श्रीरामावतार में स्पष्ट दीख पड़ता है। भगवान् राम ने रावण की राक्षसी प्रवृत्तियों का अन्त किया। अयोध्या में राम-राज्य के रूप में धर्म और नीति की स्थापना की। साथ ही राजतिलक और वनवास मे समत्व भाव रखने का, पित्राज्ञा-पालन का, भ्रातृ-स्नेह का, प्रजारक्षण आदि मर्यादाओं की रक्षा के आदर्श स्थापित किये।

पूर्णावतार श्री कृष्ण—द्वापर के अन्त में श्री राम जी द्वारा स्थापित धर्म नीति के आधार पर निर्मित मानव-मर्यादा जब तमोगुणी लोगों के द्वारा तिरस्कृत हुई, तब राजनीतिज्ञों के परम गुरु षोडश-कला सम्पूर्ण भगवान् श्री कृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने मानव के समक्ष ब्रज में प्रेम-रस को बरसा कर, कंस के अत्याचारों का अन्त कर, सहपाठी दीन-हीन मित्र सुदामा से मैत्री निभाकर, राजनीति में विशारद बन के, गीतोपदेश द्वारा अनासक्ति योग का महत्त्व बताया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में दक्षता प्रमाणित करके उन्होंने संसार को चकित कर दिया।

बुद्ध—कलियुग के आरम्भ में अहिंसा के द्वारा पूर्ण शान्ति स्थापित करने के
ये बुद्धावतार हुआ।

कल्कि—यह अवतार कलियुग के अन्त में आसुरी प्रवृत्तियों का नाश करने
लिये होगा। पुनः नवीन सत्य युग की रचना के लिये इस युग की क्रूरताओं का
र्वनाश अवश्य ही होकर रहेगा।

इस प्रकार दशावतारों के क्रम में सृष्टि की प्रक्रिया और विकासवाद के
द्धान्त की अनुरूपता का सच्चा प्रभाव है।

उपर्युक्त कथन से संकेत लेते हुए विस्तार के लिये पुराणों का स्वाध्याय
पेक्षित है।

महत्व—कर्मकाण्ड और ज्ञान की महिमा का सुन्दर वर्णन वेदों की संहिताओं
था ब्राह्मण ग्रंथों एवं उपनिषदों में क्रमशः किया गया है। पर त्रिकालदर्शी व्यासजी
कलियुग के जीवों पर दया कर पुराणों में भक्ति का रहस्य प्रकट किया। वे जानते थे
क आज जनता के लिए यज्ञ और ज्ञान शक्ति से बाहर की बात हो जायेगी। और हुआ
ी ठीक वैसे ही। केवल इन पुराणों के आधार पर ही जनता अपनी दर्द भरी पुकार
ीधे अपने रचयिता के पास उस संकट में पहुंचा पायी जब राष्ट्र और धर्म संकट में
ड़े थे और इन पुराणों से ही प्रोत्साहन लेकर आज तक संस्कृति की रक्षा करने में
क्षम रही और हम राष्ट्रीय स्वाधीनता लेने तक जीवित रह सके।

हिन्दुओं के धार्मिक तथा तदतिरिक्त साहित्य में पुराणों का एक विशेष स्थान
। वेदों के बाद इन पुराणों की मान्यता है। इनका बाह्य रूप और अन्तः स्वरूप
ाय: रामायण, महाभारत और स्मृतियों के समान है। इन पुराणों को समष्टि रूप
े प्राचीन एवं मध्यकालीन परिस्थिति का उसकी धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक,
ैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्कृति का लोकसम्मत विश्वकोश ही समझना
ाहिये। आज भी जितना पुराणों का प्रचार है उतना और किसी धर्म ग्रंथ का नहीं।
भारतीयों में आजकल अपने धर्म के प्रति और उसके द्वारा प्रतिपादित आचार-विचार,
र्मिक कृत्य आदि के प्रति जो आस्था पायी जाती है उसका भी श्रेय पुराणों को
ी है।

अध्याय ७

षड्-दर्शन तथा वेदान्त की शाखाएँ

विचार स्वातन्त्र्य—प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि के अनुसार ही विचार कर सक
है। बच्चे की बुद्धि और विद्वान् की बुद्धि समान नहीं हो सकती। इसी प्रकार
न्यायाधीश तथा एक बधिक के विचार अपराध के संबन्ध में एक जैसे नहीं हो सक
विचार का क्षेत्र एक बौद्धिक क्षेत्र है। वहाँ तो स्वतंत्रता होनी ही चाहिये। विश्व
भारत ही ऐसा देश है, जहाँ अति प्राचीन काल से विचार-स्वातन्त्र्य मनुष्य को प्र
था। इस देश में विचारों पर कभी बन्धन नहीं लगा था। यहाँ विचारों के सम्बन्ध
मानव कभी असहिष्णु नहीं बना। सामाजिक नियमों में, जीवन के प्रत्येक कार्य में
का कठोर नियन्त्रण होने पर भी विचार-स्वातन्त्र्य के कारण भारत में इतने द
शास्त्र और मतमतान्तर विस्तृत हो सके। विश्व में भारत अपने दर्शन शास्त्र
लिये अब भी श्रद्धा एवं आदर का भाजन है। भारत विश्व-गुरु था और अब भी है
तपःपूत ऋषियों के सूक्ष्म ज्ञान की विशाल सम्पत्ति के कारण।

षड्-दर्शन—हिन्दू धर्म साहित्य का बौद्धिक पक्ष दर्शन-साहित्य में निदर्शित है
दार्शनिक वाङ्मय का अध्ययन और मनन विद्वानों के लिये ही सम्भव है। जिनमें मेध
योग्यता प्रतिभा और तर्क शक्ति हो, दर्शन शास्त्र उनके ही समक्ष अपना स्वरूप प्रक
कर सकता है। पुराण, इतिहास और आगम जनसाधारण के लिये भी बोधगम्य एवं उप
योगी है। दर्शन शास्त्र केवल विद्वानों की चीज है, पुराणादि विषय भावनापरक है
जबकि दर्शन शास्त्र बुद्धि-परक।

भारतीय दर्शन कुल छह हैं जिन्हें षड्-दर्शन कहा जाता है। सभी वैदिक सिद्धा
पर आधारित हैं। सबका ध्येय मोक्ष है, किन्तु उनकी चिन्तन परम्परा पृथक है।

दर्शन शास्त्र

अर्थ—'दर्शन' 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिनके द्वारा देखा जाये...
वस्तु का तात्त्विक स्वरूप जाना जाये। पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के उद्देश्य से हम
ऋषि जिन नित्य, सत्य सिद्धान्तों को अपने चिन्तन द्वारा खोज निकालने में सफ

हुए उनको दर्शन का नाम दिया गया। इनमें मनुष्य मात्र के जीवन को स्थायी शांति और परम सुख प्राप्त कराने की शक्ति है। भारतीय दर्शन मानव मात्र को स्वार्थ पंक से निकाल कर परमार्थ चिन्तन की ओर उन्मुख करता है। वह भौतिक सुख को हेय समझकर आध्यात्मिक उन्नति पर बल देता है। भारतीय दर्शन के ये षट्शास्त्र क दूसरे के पूरक हैं।

वैशेषिक

वैशेषिक और न्याय का जोड़ा है। हो सकता है कि वैशेषिक पहले लिखा या हो। इसका निर्माण करने वाले महर्षि कणाद हैं। वैशेषिक का अर्थ है पदार्थों के भेदों का बोध'। इसका मुख्य विषय सात पदार्थों का निरूपण है। पदार्थ ा अर्थ है 'नाम धारण करने वाली कोई भी वस्तु'। असंख्य परमाणुओं से बने जगत् के सब पदार्थ नित्य हैं जो इन सातों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

१. द्रव्य २. गुण ३. कर्म ४. सामान्य

५. विशेप ६. समवाय और ७. अभाव

१. द्रव्य—वह वस्तु जो गुण और कर्म का आश्रय हो। कुल द्रव्य ७ हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, काल, दिक्, मन और आत्मा।

२. गुण—चौबीस हैं। यथा—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार।

३. कर्म—उत्पेक्षण, अवक्षेपण, आकुँचन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म हैं।

४. सामान्य—किसी वस्तु की जाति अथवा प्रकार, जैसे—वृक्ष में वृक्षत्व मनुष्य में मनुष्यत्व।

५. विशेप—विलक्षण प्रतीति 'द्रव्यों' में भेद का निर्णायक।

६. समवाय—घनिष्ठ सम्बन्ध जो पृथक् न हो सके। जैसे गुण और गुणी का सम्बन्ध।

७. अभाव—इसके चार प्रकार हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

सृष्टि की उत्पत्ति—परमाणुओं से होती है। प्रत्येक परमाणु वैसे तो निश्चल है, परन्तु व्यक्ति के पुण्य, पाप के फलस्वरूप इनमें हलचल उठती है। तभी वे सृष्टि के कारण बन जाते हैं।

ईश्वर की सत्ता तो इसे स्वीकार है, परन्तु उसे संसार का उपादान कारण नहीं माना, वह केवल निमित्त कारण है। वह कुम्हार की तरह जैसी मिट्टी

मिले वैसा बर्तन बना देता है। कच्चा माल जिसे वह रूप देता है हमारे कर्मों का फल रहता है।

यह दर्शन यथार्थवादी विचारधारा को मानकर चलता है। इसके अनुसार मुक्ति केवल दुःखों से छुटकारा पाने की अवस्था है।

न्याय

यह शास्त्र किसी भी तथ्य को स्वीकार करने से पहिले उसे तर्क की कसौटी पर कस लेता है। अतः वैदिक धर्म का यथार्थ स्वरूप जानने के लिये इस शास्त्र का ज्ञान अत्यावश्यक हो जाता है। तभी वैदिक सिद्धान्तों की विरोधियों से रक्षा करने में इस शास्त्र का बहुत हाथ रहा।

अर्थ—न्याय का अर्थ है—'प्रमाणों के आधार पर किसी चीज के तत्त्व की परीक्षा करना।

इसके निर्माता ऋषि गौतम थे।

लक्ष्य—अन्तिम लक्ष्य इसका भी मुक्ति ही है जो प्रमाण आदि सोलह पदार्थ के जान लेने से होती है।

वैशेपिक की तरह इसमें भी मुक्ति केवल दुःख के नाश तक सीमित है।

ईश्वर—इसमें भी ईश्वर को निमित्त कारण माना जाता है। कार्यों की उत्पत्ति से उनके परम कारण ईश्वर की सत्ता का अनुमान किया जाता है। अतः इसका रचयिता होना ही चाहिये। इस तरह अनुमान से ईश्वर की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार प्रमाण के अन्य तीन प्रकारों की 'प्रत्यक्ष' 'उपमान' और 'शब्द' से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

आत्मा—नित्य और सत्य है। यह इच्छा, द्वेप, सुख, दुःख, ज्ञान और प्रयत्न, इन छह लक्षणों वाला है। ज्ञान आत्मा का गुण है। आत्मा का सुख-दुःख आदि अनुभव मन के संयोग से होता है और इनसे वियोग का नाम मोक्ष है।

जगत्—इसकी उत्पत्ति अणुओं से होती है। इसका निमित्त स्रष्टा ईश्वर है।

न्याय और वैशेपिक के स्वाध्याय से बुद्धि तीक्ष्ण होती है।

सांख्य

बीज रूप में इस दर्शन का उल्लेख उपनिषदों में हुआ किन्तु इसके प्रथम आचार्य कपिल मुनि हैं।

सांख्य और योग का जोड़ा है। पहले में सिद्धान्त और दूसरे में प्रयोग होता है।

मुख्य तत्त्व—प्रकृति और पुरुष, दो मुख्य तत्त्वों को मानकर चलता है, ईश्वर की सत्ता को यह दर्शन नहीं मानता।

पुरुष—प्रकृति के संयोग से पुरुष को जीवात्मा कहते हैं। वैसे पुरुष चेनन और अनेक हैं। यह पुरुष शरीर, इन्द्रियों और मन से पृथक् रहता है यह बुद्धि और अहंकार से भी भिन्न है। यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। यह नित्य और सर्वव्यापक है। तीनों गुणों सत्त्व, रज, तम से ऊपर है। अतः इस पुरुष में कभी कोई विकार नहीं आता। जैसे लाल फूल किसी बिलौरी टुकड़े के समीप रखने से वह बिलौर लाल न होने पर भी लाल दीखने लग जाता है, उसी प्रकार प्रकृति के गुणों को पुरुष में भास पड़ता प्रतीत होता है किन्तु होता नहीं। यह अकर्ता तथा अभोक्ता ही रहता है। प्रकृति के साथ इसका मन के द्वारा संयोग होने से तीनों—दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से विवेक के द्वारा छुटकारा पाना ही उद्देश्य रहता है।

प्रकृति—सांख्य में संसार के सारे पदार्थों का कारण इसे ही माना जाता है। इसी रस्सी की सत्त्व, रज तमादि गुण की तीन लड़िया हैं। कोई भी चीज स्वतः बिना बीज कारण के अचानक उत्पन्न नहीं हो सकती। कारण अव्यक्त रूप में भले ही हो पर रहता है, अवश्य। इसी को सत्कार्यवाद कहते हैं। कोई भी चीज नई पैदा नहीं होती, केवल रूप में परिवर्तन आ जाता है। प्रकृति स्वयं जड़ है, परन्तु पुरुष के समीप आकर उसके प्रकाश से सब कुछ करने लग जाती है, जैसे चुम्बक के पास जाने पर लोहे की कोई भी चीज स्वतः उस चुम्बक के पास सरक जाती है।

इस प्रकार पुरुष सहित कुल तत्त्व २५ हो गये। इसी संख्या के कारण इसे सांख्य पुकारा जाता है। इन सब महाभूतों के अलग-अलग गुण हैं।

आकाश में केवल एक गुण—शब्द।

वायु में दो गुण—शब्द, स्पर्श।

तेज में तीन गुण—शब्द, स्पर्श, रूप।

जल में चार गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस।

पृथ्वी में पांच गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

कठोपनिषद् में एक रोचक कथा में सुन्दर वर्णन इस प्रकार किया गया है—

वाहरी वस्तुओं तथा विषयों का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है। अतः इन्द्रियां, विषयों से अधिक सूक्ष्म हैं।

मन, इन्द्रियों का स्वामी होने के कारण, उनसे ऊंचा और सूक्ष्म है। जब तक यह मन साथ न दे तो इन्द्रियां, विषयों के साथ सम्पर्क रहने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं।

मन से सूक्ष्म अहंकार है।

बुद्धि अहंकार से भी ऊंची है जो निर्णायक की भांति अच्छे-बुरे की परख कर पाती है।

महत्-तत्त्व बुद्धि से ऊंचा और सूक्ष्म है जो बुद्धि को निर्णय करने की शक्ति प्रदान करता है।

महत् तत्त्व से अधिक श्रेष्ठ मूल प्रकृति (अव्यक्त) है जिससे श्रेष्ठतर वह पुरुष है, जिससे बढ़कर संसार में भी कोई सूक्ष्मतर श्रेष्ठ वस्तु नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि—
विषयों से श्रेष्ठ इन्द्रियां है।
इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है।
मन से श्रेष्ठ अहंकार है।
अहंकार से श्रेष्ठ बुद्धि है।
बुद्धि से श्रेष्ठ महत् तत्त्व है।
महत् तत्त्व से श्रेष्ठ मूल प्रकृति (अव्यक्त) है।
अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुष है।
और पुरुष से परे कुछ नहीं।

यह पुरुष सदा निर्दोष, निर्विकार रहता है। प्रकृति उसको प्रसन्न करने के लिए नाचती रहती है। अन्ततोगत्वा जब यह जान जाती है कि पुरुष उसे भांप चुका है तो स्वतः शान्त हो जाती है। संसार में अकेली प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। जैसे कहा जात है लंगड़े चैतन्य पुरुष को अंधी जड़ प्रकृति उठाये फिर रही है।

मुक्ति—पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध-विच्छेद का नाम है—मुक्ति। यह बंधन प्रकृति में रहता है। पुरुष तो असंग, द्रष्टा, अकर्ता, अभोक्ता और बंधनों से सदा मुक्त है। वह सदैव एकरस रहने वाला सत् पदार्थ है, परन्तु अविवेक के कारण प्रकृति

के संसर्ग से प्रकृतिजनित दुःख का प्रतिबिम्ब जो इसमें पड़ता दीखता है, उसी से दुःख की प्रतीति होती है जिसे विवेक द्वारा हटाना पड़ता है। जब पुरुष अपनी इस असंग, स्वतन्त्र अथवा कैवल्य दशा को प्राप्त कर लेता है, तो जीवन्मुक्त हो जाता है। आजकल योग और वेदान्त अधिक प्रचलित हैं, संख्यादि दर्शन सैद्धान्तिक ज्ञान की वस्तु बनकर रह गए हैं।

योग

योग विद्या प्राचीन है। इसे राजयोग या अष्टांग योग भी कहते हैं। इसका वर्णन वेदों की संहिता तथा आरण्यकों और उपनिषदों में बीज रूप में आता है। महाभारत, आगम तथा पुराणों ने भी इसके महत्त्व पर तथा इसके नियमों की प्रयोग-विधि पर बल दिया है। खूबी यह है कि षट्शास्त्रों में इसे ही आज तक वेदान्त के साथ-साथ अपनाया जा रहा है। इस योग विद्या का अभ्यास करने वाले योगी अब भी भारत में बहुत हैं—पाश्चात्यों ने भी इसे अपना रखा है क्योंकि योग मनुष्य-मात्र की निधि है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वालों को यह योग बहुत अच्छा लगता है। इसमें चित्त की चंचल अवस्था के संयम के बाद व्यक्ति द्वारा साक्षात् ईश्वर से सम्पर्क स्थापित करने की व्यावहारिक विधि का वर्णन होता है।

रचना—योग की क्रमबद्ध रचना सबसे प्रथम महर्षि पतंजलि ने की। तत्पश्चात् जितने ग्रन्थ इस पर लिखे गए, उतने और किसी दर्शन पर नहीं रचे गए। हाँ, इसका विवेचन विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी इस योग की क्रियाओं का सुन्दर वर्णन है।

परिभाषा—महर्षि पतंजलि इसकी परिभाषा यों देते हैं—"**योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः**" जिसका अर्थ होता है 'चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियों पर पूर्णतया अपना अधिकार जमाना।' यहाँ चित्त के अन्दर मन, बुद्धि तथा अहंकार तीनों का समावेश है। इस चित्त की उत्पत्ति सत्वगुण-युक्त प्रकृति से होती है, तभी तो प्रकृति की जड़ता और परिवर्तनशीलता इसमें रहती है।

योग की क्रियाओं का आधार सांख्य-दर्शन की प्रकृति और पुरुष पर है। इसमें प्रेरणा तो सांख्य से ही ली गयी, पर अपनी ओर से उसमें ईश्वर को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

उद्देश्य और प्रक्रिया—योग क्रियाओं का ध्येय, प्रकृतिजनित चित्त की वृत्तियों से, पुरुष की चेतना के सम्बन्ध का विच्छेद करके मोक्ष प्राप्त करना रहता है। यह चित्त ही प्रकृति का क्रिया मूल है। अतः चित्त पर प्रयोग करना मानो प्रकृति पर प्रयोग करना है। अतः चित्त से स्वतन्त्र होना प्रकृति से छुटकारा

पाने में निहित है। जीव की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के लिये मनोवैज्ञानिक ढंग से मन पर विजय प्राप्त करने के लिए यौगिक क्रियाओं द्वारा चित्त की वृत्तियों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

वृत्तियां—चित्त के जिस परिवर्तन से किसी भी वस्तु के स्वरूप का जो ज्ञान होता है उसे वृत्ति कहा जाता है। वृत्तियाँ चित्त-रूपी तालाब की हलचलें हैं। कुल वृत्तियाँ पांच होती हैं :—

१. प्रमाण, २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. निद्रा, ५. स्मृति।

प्रमाण—वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। यह प्रमाण तीन प्रकार का होता है :—

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और उस पर आधारित हेतुजन्य ज्ञान को अनुमान, आप्त वाक्य से प्राप्त ज्ञान को 'शब्द' कहते हैं।

विपर्यय—अयथार्थ ज्ञान को कहते हैं।

विकल्प—वस्तु की वास्तविकता से शून्य संशययुक्त ज्ञान को विकल्प कहते हैं।

निद्रा—तमोगुण प्रधान वृत्ति का नाम है।

स्मृति—अपने अनुभव में आये हुए विषयों का ज्यों का त्यों बिना किसी अन्तर के याद आने को स्मृति कहा जाता है।

अवस्थाएं—चित्त में इन पांच अवस्थाओं का भास होता है :—

मूढ़ावस्था—इसमें तमोगुण की प्रधानता रहने के कारण चित्त विवेकहीन और मोहग्रसित रहता है।

क्षिप्तावस्था—इसमें रजोगुण की प्रधानता के कारण मन अस्थिर रहता है।

विक्षिप्तावस्था—इस अवस्था में सत्त्वगुण की लेशमात्र सत्ता के कारण गुणों की ओर मन भागता है।

एकाग्रावस्था—सत्त्वगुण की अधिकता के कारण बाहरी पदार्थों से हटकर चित्त एक स्थान पर जमने लगता है।

निरुद्धावस्था—सब वृत्तियों के निरोध हो जाने का नाम है। इसी को योगावस्था कहते हैं।

विघ्न—एकाग्रता प्राप्ति में जो विघ्न-बाधा डालते हैं, उनको 'क्लेश' की संज्ञा दी जाती है। ये भी पांच हैं।

१. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष, ५. अभिनिवेश

अविद्या—अज्ञानवश किसी वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप से बिल्कुल उल्टा

समझना। जैसे शरीर को ही आत्मा मान बैठना, सांसारिक सुखों को सत्य मान लेना, नित्य को अनित्य आदि। यही अविद्या सारे दुःखों की जड़ है।

अस्मिता—यह अहंभाव की जड़ है। यही स्वार्थपरक कार्य कराती है।

राग—तथाकथित सुखदायक वस्तुओं में आसक्ति को राग कहते हैं।

द्वेष—राग से बिल्कुल उल्टी भावना को, जिसमें दूसरे के अहित-चिन्तन की प्रधानता रहती है, द्वेष कहलाता है।

अभिनिवेश—शरीर में आसक्ति तथा शरीर से चिपके रहने का नाम है। तभी तो इससे मृत्यु द्वारा नाश हो जाने का भय बना रहता है।

लक्ष्य-प्राप्ति का साधन—प्रकृति के तीनों गुणों से ऊपर उठने के लिये विवेक द्वारा वैराग्य और अभ्यास की आवश्यकता रहती है। सारे संसार के भोग्य पदार्थों की लेशमात्र भी इच्छा न रह जाने को वैराग्य कहते हैं। अभ्यास उस सतत प्रयत्न को कहते हैं, जिसमें मनुष्य निरन्तर तत्त्व चिन्तन में लीन रहने लगता है। इस विवेक प्राप्ति के लिये आठ अंग बताये गये हैं। प्रथम पाँच बाहरी साधन हैं, शेष तीन आन्तरिक।

१. **यम**— दूसरों के साथ व्यवहार में पांच प्रकार के संयम को कहते हैं।

अहिंसा—किसी भी प्राणी का किसी भी प्रकार से अहित न करना, न ऐसा सोचना।

सत्य—मनसा-वाचा कर्मणा, जैसे जानना वैसे ही प्रकट करना।

अस्तेय—जो वस्तु अपनी नहीं, उसके लेने की किंचित् मात्र भी इच्छा न रखना।

ब्रह्मचर्य—सभी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में रख कर उनका प्रयोग करना। उनका स्वामी बने रहना।

अपरिग्रह—सांसारिक पदार्थों के संग्रह की भावना को मन में न लाना।

२. **नियम**—अपने उद्धार के लिये निम्नलिखित पाँचों का नित्य प्रति अभ्यास करना।

शौच—शरीर, मन, मकान, वातावरण को सर्व प्रकारेण अन्दर बाहर से साफ रखना। यह मानकर कि ईश्वर प्राप्ति से पहले कोई चीज़ है तो वह सफाई ही है। जैसा कि अंग्रेजी में एक कहावत है—Cleanliness is next to Godliness.

सन्तोष—गीता के "**यथालाभसन्तुष्टः**" की शिक्षा को चरितार्थ करना जितना कम में जीवन पालन हो सके उसी में तृप्ति का आनन्द लेना।

तप—द्वन्द्वों को सहने की शक्ति का नाम है—सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख, आदि सहने की शक्ति का अभ्यास निरन्तर करना।

स्वाध्याय—मोक्ष-प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर कराने में जो साहित्य सहायता दे, उसी में तल्लीनता का अभ्यास करना।

ईश्वर-प्रणिधान– गीता की '**यत्करोषि यदश्नासि**' वाली आज्ञा का अक्षरश पालन अथवा उस परमात्मा की दी हुई शक्ति से जो भी किया जाय, वह उसके ही अर्पण कर देना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है।

३. **आसन**—चित्त की शन्ति के लिये सुखपूर्वक स्थिर बैठे रहने के क्रिया का नाम है।

४. **प्राणायाम**—श्वास तथा प्रश्वास की गति को रोकने का नाम है। जिसके द्वारा मन को स्थिर करने में बहुत सहायता मिलती है।

५. **प्रत्याहार**—इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर न जाने देना प्रत्याहार कहलाता है।

६. **धारणा**—प्राणायाम और प्रत्याहार द्वारा किसी वस्तु पर चित्त को लगा देने का नाम है।

७. **ध्यान**—धारणा ध्यान का स्वरूप ले लेती है और ध्यान करने वाला ध्येय पदार्थ को एकाकारता से अनुभव करने लगता है।

८. **समाधि**—ध्यान में मग्नावस्था का नाम समाधि है जिसमें उपरोक्त सातों साधनाओं का अलौकिक चरम फल है—जिस से मनुष्य सब क्लेशों से मुक्त होकर आठों प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। परन्तु मनुष्य तो उन में फंसते नहीं।

कैवल्य प्राप्ति—इस योग विद्या के अभ्यास से प्रकृति के बन्धनों से छुट्टी पाना ही मुक्ति है। इसे योग की परिभाषा में कैवल्य-पद की संज्ञा दी जाती है।

अविद्या तथा क्लेशों के नाश हो जाने से पुरुष अपने स्वरूप में विश्राम करता है। यही कैवल्य पद ही योग का अन्तिम लक्ष्य है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा का अर्थ है किसी चीज की विधिपूर्वक परीक्षा करना। उचित भी यही रहता है कि किसी भी चीज को अपनाने से पूर्व उसका सर्व प्रकारेण विश्लेषण कर लिया जाये। तब भारतीयों को अंधानुकरण नहीं आता था, यही कारण है कि उन्होंने वेद वाक्यों तक की प्रमाणों के आधार पर विवेचना कर दी।

आधार और प्रवर्तक—इसमें वैदिक कर्म-काण्ड का ही वर्णन है, जिसका ज्ञान मीमांसा के बिना हो नहीं सकता। इसमें वेद के ब्राह्मण भाग को ही प्रमुखता दी गयी है। इस भाग में यज्ञों की प्रक्रिया का सुन्दर वर्णन है तथा अनुष्ठानों का विवेचन भी किया गया है। यह दर्शन बतलाता है कि कौन-सा यज्ञ किस प्रकार विधिवत्

करना चाहिये। ऋषि जैमिनी इस दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। क्योंकि मीमांसा सम्बन्धी प्राचीन विचारों को शास्त्रीय रूप उन्होंने ही दिया। इस दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें सभी वेदों के विधि-वाक्यों में विरोधाभास का सुन्दर समाधान प्रस्तुत हुआ है।

जगत्—यहाँ इसे प्रवाह रूप से नित्य माना गया है। जैसे नदी सदैव बहती ही रहती है, केवल जल बदल-बदल कर आता रहता है। इसी प्रकार इस संसार में व्यक्ति नष्ट होकर बदलते रहते हैं। जगत् सत्य है और सृष्टि का नाश नहीं होता।

आत्मा—को व्यापक मानते हुए भी प्रत्येक शरीर में भिन्न है, ऐसा मानते हैं। यहाँ यह कर्ता भी है, भोक्ता भी है।

मोक्ष—हवनादि यज्ञों से स्वर्ग-प्राप्ति पर बल दिया गया है। इन यज्ञों से ही फल की प्राप्ति हो जाती है। अतः यह दर्शन केवल मन्त्रों के देवताओं को ही मान्यता प्रदान करता है।

संसार के साथ आत्मा का सम्बन्ध छूट जाने से स्वर्ग प्राप्ति को मोक्ष मानते है। इन्द्रियों के द्वारा शरीर जो बाह्य पदार्थों के चक्कर में फस जाता है। बस इनके बन्धन से मुक्त हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों को विधिपूर्वक करने में ही स्वर्ग के सुख की प्राप्ति मानते हैं।

वेदान्त दर्शन

सुओं को इन में भेद बुद्धि रखना अनुचित है। इन्द्रियों की दृष्टि से जगत् नाना रूप है तथा बाह्य है, सत्य सा भी प्रतीत होता है और परमात्मा से भिन्न भी दीखता है परन्तु आगमप्रमाणित सूक्ष्म बुद्धि के अनुमान से यह प्रतीत होता है कि जगत् और जीव, दोनों ब्रह्म का अंश है और नितान्त पृथक् नहीं हो सकते जैसे स्वप्नावस्था में स्वप्न सत्य दिखाई देता है वैसे ही जो वस्तु जिस समय बुद्धिगोचर होती है वह स्वप्न सी ही दिखाई पड़ती है। व्यावहारिक जगत् में रहता हुआ मनुष्य व्यावहारिक प्रपंच से ऊपर की सत्ता का ज्ञान नहीं पा सकता, परन्तु इस से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि बुद्धिगम्य ज्ञान से गहरी कोई वस्तु नहीं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के निष्पक्ष विवेचन से हम एक ऐसी सत्ता का अनुमान कर सकते हैं जो विश्वव्यापी है, अखण्ड है, चैतन्य मात्र है, चाहे उसे ब्रह्म कहो, चाहे जीव या जगत् अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, आदि दर्शनों के प्रवर्तकों ने इन दृष्टिकोणों में से किसी एक पर बल देकर भाष्यों को रचा है। इन प्रवर्तकों में शंकर, रामानुज तथा मध्व मुख्य हैं। इन सबका ध्येय एक तत्त्व का साक्षात्कार करता है जबकि दार्शनिक विचार पद्धतियाँ पृथक्-पृथक् हैं।

शंकराचार्य का संक्षिप्त जीवन चरित्र

(सन् ७८८—८२० ई०)

भारत की दशा—आठवीं शताब्दी ई० के अन्तिम चतुर्थ भाग में धर्म और दर्शन की अवस्था शोचनीय थी। कुछ इतिहासकारों ने उस समय प्रचलित मतों की संख्या ७२ तक बताई है। अतएव स्पष्ट है कि विचार-विमर्श में पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न होता रहता होगा। परिणामतः असत्य का बोलबाला हो रहा था। आदर्श भूमि भारत की दशा शोचनीय हो रही थी।

ऐसे समय में केरल प्रदेश में माता सुभद्रा को शंकर के रूप में एकमात्र सन्तान मिली। इस असाधारण बालक के तीन साल के हो जाने पर पिता श्री शिवगुरुजी का स्वर्गवास हो गया। इन्हें एक वर्ष के भीतर ही मातृभाषा का शुद्ध ज्ञान हो गया था और दो वर्षों में विदुषी माता से सुने पुराणों को कंठस्थ कर लिया। पांचवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार हो गया और ७ साल की आयु तक गुरु गृह में रह कर चारों वेद, वेदांग तथा दर्शनशास्त्र की शिक्षा समाप्त कर ली। अब भला संसार का पथ-प्रदर्शक घर की चार-दीवारी में कैसे बंद रहता? वृद्धा माता के साथ नदी में स्नान करते समय जब मगर-मच्छ ने इनकी टांग पकड़ी, तब वे डूबते हुए भी शांत बने रहे। इन्होंने तभी माता से संन्यास की आज्ञा मांग ली, जो पुत्र की जीवन-रक्षा के लिये मां ने दे दी। लेकिन इस शर्त पर कि उनकी मृत्यु पर दर्शन देने पहुंच जायेंगे। वहां से नर्मदा तट पर आकर

स्वामी गोविन्द भगवत्पाद से आठ वर्ष की अवस्था में संन्यास ग्रहण किया । शीघ्र ही यह सर्वगुण सम्पन्न योगसिद्ध हो गये ।

काशी पहुंचकर 'प्रस्थान-त्रयी' के प्रथम भाग 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखा और १६ वर्ष की वय तक प्रस्थान-त्रयी के अन्य दो भाग उपनिषद् और गीता के भाष्य पूर्ण किए । शेष १६ वर्षों में सम्पूर्ण भारत में घूम-घूम कर विरोधी तार्किकों को शास्त्रार्थों में पराजित करके श्रुति-सम्मत-धर्म की स्थापना की । उस समय पूरे देश में बौद्ध मत का प्राबल्य था, जो उनके प्रभाव से लुप्तप्राय हो गया । चावलों की भूसी की अग्नि में जलने बैठे हुए कुमारिल भट्ट को उनके द्वारा दिया हुआ वेदोद्धार का आश्वासन सत्य सिद्ध हुआ ।

शंकराचार्य में व्यावहारिक ज्ञान तथा प्रशासनिक क्षमता अपूर्व कोटि की थी । अतः उन्होंने ब्राह्मण मठवाद की नींव वैदिक धर्म और संस्कृति के प्रचारार्थ रखी ।

श्री शंकराचार्यजी द्वारा स्थापित चार प्रधान पीठ

ज्योतिष्पीठ—बद्रीनाथ से १९ मील पहले जोशीमठ में श्री शंकराचार्यजी का ज्योतिष्पीठ है ।

गोवर्धन पीठ—श्री जगन्नाथपुरी में, श्री जगन्नाथ मन्दिर (स्वर्ग द्वार) से समुद्र की ओर श्री शंकराचार्यजी द्वारा स्थापित गोवर्धनपीठ है ।

शारदापीठ—द्वारका में श्री द्वारकाधीश जी के मन्दिर के प्राकार के भीतर शारदापीठ है ।

शृंगेरी पीठ—दक्षिणी रेलवे की बंगलोर-पूना लाइन पर बिरूर स्टेशन से साठ मील दूर तुंगा नदी के किनारे शृंगेरी मठ है ।

आपने ३२ वर्ष में इस लोक की यात्रा को समाप्त किया ।

वैदिक धर्म के उद्धार के लिये उनका प्रयत्न अद्वितीय रहा और सिद्धान्त-प्रणाली से बहुत दार्शनिकों ने प्रेरणा ली । इनके, और इनके अनेक शिष्यों के, अनेक ग्रंथ हैं । श्री शंकराचार्यजी के अद्वैतवाद का देश एवं विदेश पर व्यापक प्रभाव पड़ा । अद्वैतवादी होते हुए भी शंकर ने मुख्य देवताओं की स्तुति के लिये स्तोत्रों की रचना की ।

भगिनी निवेदिता (एक अंग्रेजी महिला) का कथन है :—

"पश्चिम संसारवासी शंकराचार्य जैसे व्यक्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते । उन्होंने केवल कुछ वर्षों के दौरान १० महान् धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना की, जिनमें से चार आज भी अपनी महिमा में अक्षुण्ण रहे हैं । उन्होंने संस्कृत का इतना दुरूह ज्ञान अर्जित किया और पृथक् दर्शन की नींव डाली । वे भारत के ज्ञानमंडल पर इतने उज्ज्वल नक्षत्र बन करके चमके कि १२०० वर्षों की अवधि बीतने पर भी

सुधों को इन में भेद बुद्धि रखना अनुचित है। इन्द्रियों की दृष्टि से जगत् नाना रूप है तथा बाह्य है, सत्य सा भी प्रतीत होता है और परमात्मा से भिन्न भी दीखता है परन्तु आगमप्रमाणित सूक्ष्म बुद्धि के अनुमान से यह प्रतीत होता है कि जगत् और जीव, दोनों ब्रह्म का अंश है और नितान्त पृथक् नहीं हो सकते जैसे स्वप्नावस्था में स्वप्न सत्य दिखाई देता है वैसे ही जो वस्तु जिस समय बुद्धिगोचर होती है वह स्वप्न सी ही दिखाई पड़ती है। व्यावहारिक जगत् में रहता हुआ मनुष्य व्यावहारिक प्रपंच से ऊपर की सत्ता का ज्ञान नहीं पा सकता, परन्तु इस से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि बुद्धिगम्य ज्ञान से गहरी कोई वस्तु नहीं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के निष्पक्ष विवेचन से हम एक ऐसी सत्ता का अनुमान कर सकते हैं जो विश्वव्यापी है, अखण्ड है, चैतन्य मात्र है, चाहे उसे ब्रह्म कहो, चाहे जीव या जगत् अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, आदि दर्शनों के प्रवर्तकों ने इन दृष्टिकोणों में से किसी एक पर बल देकर भाष्यों को रचा है। इन प्रवर्तकों में शंकर, रामानुज तथा मध्व मुख्य हैं। इन सबका ध्येय एक तत्त्व का साक्षात्कार करता है जबकि दार्शनिक विचार पद्धतियाँ पृथक्-पृथक् हैं।

शंकराचार्य का संक्षिप्त जीवन चरित्र
(सन् ७८८—८२० ई०)

भारत की दशा—आठवीं शताब्दी ई० के अन्तिम चतुर्थ भाग में धर्म और दर्शन की अवस्था शोचनीय थी। कुछ इतिहासकारों ने उस समय प्रचलित मतों की संख्या ७२ तक बताई है। अतएव स्पष्ट है कि विचार-विमर्श में पारस्परिक मनोमालिन्य उत्पन्न होता रहता होगा। परिणामतः असत्य का बोलबाला हो रहा था। आदर्श भूमि भारत की दशा शोचनीय हो रही थी।

ऐसे समय में केरल प्रदेश में माता सुभद्रा को शंकर के रूप में एकमात्र सन्तान मिली। इस असाधारण बालक के तीन साल के हो जाने पर पिता श्री शिवगुरुजी का स्वर्गवास हो गया। इन्हें एक वर्ष के भीतर ही मातृभाषा का शुद्ध ज्ञान हो गया था और दो वर्षों में विदुषी माता से सुने पुराणों को कंठस्थ कर लिया। पांचवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार हो गया और ७ साल की आयु तक गुरु गृह में रह कर चारों वेद, वेदांग तथा दर्शनशास्त्र की शिक्षा समाप्त कर ली। अब भला संसार का पथ-प्रदर्शक घर की चार-दीवारी में कैसे बंद रहता? वृद्धा माता के साथ नदी में स्नान करते समय जब मगर-मच्छ ने इनकी टांग पकड़ी, तब वे डूबते हुए भी शांत बने रहे। इन्होंने तभी माता से संन्यास की आज्ञा मांग ली, जो पुत्र की जीवन-रक्षा के लिये मां ने दे दी। लेकिन इस शर्त पर कि उनकी मृत्यु पर दर्शन देने पहुंच जायेंगे। वहां से नर्मदा तट पर आकर

स्वामी गोविन्द भगवत्पाद से आठ वर्ष की अवस्था में संन्यास ग्रहण किया । शीघ्र ही यह सर्वगुण सम्पन्न योगसिद्ध हो गये ।

काशी पहुंचकर 'प्रस्थान-त्रयी' के प्रथम भाग 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखा और १६ वर्ष की वय तक प्रस्थान-त्रयी के अन्य दो भाग उपनिषद् और गीता के भाष्य पूर्ण किए । शेष १६ वर्षों में सम्पूर्ण भारत में घूम-घूम कर विरोधी तार्किकों को शास्त्रार्थों में पराजित करके श्रुति-सम्मत-धर्म की स्थापना की । उस समय पूरे देश में बौद्ध मत का प्राबल्य था, जो उनके प्रभाव से लुप्तप्राय हो गया । चावलों की भूसी की अग्नि में जलने बैठे हुए कुमारिल भट्ट को उनके द्वारा दिया हुआ वेदोद्धार का आश्वासन सत्य सिद्ध हुआ ।

शंकराचार्य में व्यावहारिक ज्ञान तथा प्रशासनिक क्षमता अपूर्व कोटि की थी । अत: उन्होंने ब्राह्मण मठवाद की नींव वैदिक धर्म और संस्कृति के प्रचारार्थ रखी ।

श्री शंकराचार्यजी द्वारा स्थापित चार प्रधान पीठ

ज्योतिष्पीठ—बद्रीनाथ से १९ मील पहले जोशीमठ में श्री शंकराचार्यजी का ज्योतिष्पीठ है ।

गोवर्धन पीठ—श्री जगन्नाथपुरी में, श्री जगन्नाथ मन्दिर (स्वर्ग द्वार) से समुद्र की ओर श्री शंकराचार्यजी द्वारा स्थापित गोवर्धनपीठ है ।

शारदापीठ—द्वारका में श्री द्वारकाधीश जी के मन्दिर के प्राकार के भीतर शारदापीठ है ।

शृंगेरी पीठ—दक्षिणी रेलवे की बंगलोर-पूना लाइन पर बिरूर स्टेशन से साठ मील दूर तुंगा नदी के किनारे शृंगेरी मठ है ।

आपने ३२ वर्ष में इस लोक की यात्रा को समाप्त किया ।

वैदिक धर्म के उद्धार के लिये उनका प्रयत्न अद्वितीय रहा और सिद्धान्त-प्रणाली से बहुत दार्शनिकों ने प्रेरणा ली । इनके, और इनके अनेक शिष्यों के, अनेक ग्रंथ हैं । श्री शंकराचार्यजी के अद्वैतवाद का देश एवं विदेश पर व्यापक प्रभाव पड़ा । अद्वैतवादी होते हुए भी शंकर ने मुख्य देवताओं की स्तुति के लिये स्तोत्रों की रचना की ।

भगिनी निवेदिता (एक अंग्रेजी महिला) का कथन है :—

"पश्चिम संसारवासी शंकराचार्य जैसे व्यक्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते । उन्होंने केवल कुछ वर्षों के दौरान १० महान् धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना की, जिनमें से चार आज भी अपनी महिमा में अक्षुण्ण रहे हैं । उन्होंने संस्कृत का इतना प्रगाढ़ ज्ञान अर्जित किया और पृथक् दर्शन की नींव डाली । वे भारत के ज्ञानमंडल पर इतने उज्ज्वल नक्षत्र बन करके चमके कि १२०० वर्षों की अवधि बीतने पर भी

उनकी उच्च स्थिति अक्षय है......इन सारी प्रतिभाओं को एक ही व्यक्ति में पाने की कल्पना कौन कर सकता था ?"

अद्वैतवाद

श्री शंकराचार्य के दादा गुरु श्री गौड़पादाचार्य ने अपनी मांडूक्य-कारिका में अद्वैतवाद की भूमिका बांधी। शंकराचार्य जी ने इसके रूप को संवारा और परिवर्धित किया।

विषय—शंकर का अद्वैतवाद ब्रह्म की परम सत्ता को मानता है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही ज्ञान है। नाना रूपात्मक जगत् में एकता का अनुभव करना ही मानव ज्ञान की चरम सीमा है। प्राणिमात्र में उसी परम तत्त्व ब्रह्म की सत्ता के दर्शन करना ध्येय रहता है। सारा जगत् ब्रह्ममय है और ब्रह्म सत् चित्-आनन्द रूप है। जगत् की व्यावहारिक सत्ता को तो अद्वैतवाद मानता है, पर उसकी पारमार्थिक सत्ता को नहीं मानता। वह तो केवल अज्ञान के कारण दिखाई पड़ता है। अज्ञान ही सांसारिक कष्टों का कारण बनता है। ज्ञान होते ही परम आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

परम-तत्त्व इंद्रियों के क्षेत्र से बाहर है। देश, काल, वस्तु से परिच्छिन्न होने के कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान की पहुंच से परे है। यह अनुभव की चीज है। बुद्धिगम्य है ही नहीं। आदिगुरु श्री शंकराचार्य जी ने इस अनुभूति के लिये साधन-चतुष्टय की आवश्यकता बतलाई है। साधन-चतुष्टय में विवेक, वैराग्य, षड्सम्पत्ति, (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) तथा मुमुक्षत्व का समावेश रहता है। इतनी सतत साधना के पश्चात् जिज्ञासु ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणों में बैठ श्रुतियों का श्रवण करता है, फिर उनका मनन करके निदिध्यासन विधि से परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार करता है। उसे अर्थात् जीव को ब्रह्म के साथ एकात्मभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यही पराविद्या है। यही सत्यज्ञान है।

ब्रह्म का स्वरूप—ब्रह्म ही केवल सत्य है, ब्रह्म महाकाश है। यही एक सदा रहने वाला तत्त्व है। ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विशेष तथा अकर्ता है। इस नाना रूपात्मक जगत् के मूल में विद्यमान वह शाश्वत सत्ता वाला पदार्थ ब्रह्म ही है। वह सर्वव्यापक है। जैसे तिलों में तेल और दही में घी छिपा रहता है उसी प्रकार यह सब प्राणियों के हृदय में छिपा रहता है। सारा जगत् इसी ब्रह्म में स्थित है। वह जगत् का संचालन करने वाला है। जीव और प्रकृति इसी की विकृतियां हैं। वह इन दोनों का स्वामी है। सारा विश्व ही उसका रूप है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और वृहत् से भी वृहत् है। उसका परिचय 'नेति' शब्द से ही दिया जा सकता है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है। वह अनादि और अनन्त है। इस दर्शन ने भेद में अभेद को ढूंढ लिया है। प्राणिमात्र को एक ही समझना इसका ऊँचा आदर्श

है। सारा संसार ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म है आनन्दमय। ज्ञानी के लिये आनन्द के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

माया—अद्वैतवाद में 'माया' शब्द के कई अर्थ हैं। जिनमें से कतिपय नीचे दिये जा रहे हैं।

१. परमकारण-भूत ब्रह्म से जगत् की रचना की विधि,
२. जगत् की स्वप्नरूप व्यावहारिक सत्ता,
३. जगत् का ब्रह्म से अवर्णनीय सम्बन्ध ;
४. ब्रह्म की शक्ति जिस से जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय होता है।
५. ब्रह्म की दृष्टि से जगत् की असत्ता।

माया सत्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होने पर लुप्त हो जाती है। वैसे इस में इतनी शक्ति है कि इसके अभाव से असत्य भी सत्य प्रतीत होने लगता है। यह विलक्षण है। यह सब पर व्यापती है। जीव और ब्रह्म में जो भेद दीखता है, वह इसी माया के कारण से है।

ईश्वर—माया से प्रतिबिम्बित ब्रह्म-स्वरूप ही ईश्वर है। सृष्टि की सूक्ष्म क्रियावस्था में ईश्वर ही हिरण्यगर्भ रूप में परिणत होता है और स्थूल जगत् की रचना करने से 'विराट् स्वरूप' कहलाता है। यह जीव की सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाओं का समष्टि रूप है। ईश्वर मेघाकाश है।

जगत्—ब्रह्म का यह रूप माया से सम्मत है। रज्जु को देखकर जैसे अज्ञान-वश सर्प का भ्रम होता है, वैसे ही हम जगत् को सत्य मान रहे हैं, ब्रह्म-ज्ञान होने से यह भ्रान्ति नष्ट हो जाती है, इस जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण ब्रह्म ही है। जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से जाल तानती है और फिर उसे अपने ही शरीर में समेट लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म से यह सृष्टि पैदा होकर वापस उसी में लीन हो जाती है।

सृष्टि क्रम—सबसे पहले आकाश होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि पैदा होती है और फिर अग्नि से जल की उत्पत्ति और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। लय होने का क्रम ठीक इससे उल्टा रहता है।

आत्मा—आत्मा का तत्त्व बड़ा गहन है। आत्मा घटाकाश है। उसको जानना साधारण बात नहीं। यह न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है और न इसमें अवस्था के कारण कभी विकार ही पैदा होता है। यह सदा एक-सा रहता है। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन पाँचों विषयों के ग्रहण करने वाली इन्द्रियों से, संकल्प-विकल्प-रूप मन से, विवेचना करने वाली बुद्धि से और जीवों की स्थिति के कारण-भूत प्राणों से सर्वथा भिन्न रहता है। यह जगत् की सारी चीजों में व्याप्त रहता है। यह सदा रहने वाली वस्तु है। इस संसार की सत्ता मानने के लिये आत्मा

का होना आवश्यक है। इसलिये आत्मा की सिद्धि संसार को मानने के लिये स्वत ही हो जाती है। इसी आत्मा से नश्वर संसार में प्राणिमात्र जीवित रहते हैं।

जीव—जीव ब्रह्म से अभिन्न है। सापेक्षिक रूप से सत्य है। जब तक अज्ञान के कारण मन, बुद्धि, इन्द्रियों से तादात्म्य भावापन्न है, तभी तक इसका पृथक अस्तित्व है। जब अविद्या का नाश होता है, जीव पानी के बुलबुले की तरह अपने मूल स्रोत ब्रह्म में समा जाता है। जीव जलाकाश है।

मोक्ष तथा उसका साधन—जब आत्मा समस्त अज्ञान के कारण पैदा हुए प्रपंच से रहित हो, प्रकाश के उदय होने पर ब्रह्म में लीन होकर आनन्दमय हो जाता है तो वह स्वयं साक्षात् ब्रह्म ही हो जाता है। बस, इसी अवस्था की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। यह केवल दुःख की निवृत्ति नहीं है वरन् परमानन्द की प्राप्ति है, यह कही बाहर से नहीं आती, न इसके लिए कहीं जाना पड़ता है, इसका तो अपने आप में ज्ञान के उदय होने पर पूर्ण भास स्वयं हो जाता है, परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है। यही मुक्तावस्था है। इसके बाद कर्म भले ही होते प्रतीत हों, वह किसी अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से नहीं किये जाते, प्रत्युत निष्काम भाव से लोक-संग्रह के निमित्त होते रहते हैं केवल भगवान् की उपासना के रूप में। जब कर्मबन्धन न रहा तो फिर आवागमन का क्रम स्वतः कट जाता है। क्योंकि तब न आसक्ति रहती है, न कर्तापन का अभिमान। जैसे एक जादूगर आम के वृक्ष में तत्काल आम्रफल लगा देता है और दर्शक उन आमों को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी मिथ्या समझता है, और इस सारे प्रपंच से उदासीन रहता है। देहाभिमान न रह जाने से कोई उसके लिये आकर्षण रह ही नहीं जाता। वह आत्मतृप्त तथा आप्तकाम हो जाता है। जब अभाव किसी प्रकार का रहता ही नहीं तो कर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार शरीर रहते भी उसके इस शरीर का अन्त हो जाता है। यह सब क्रिया आत्मानुभव की वस्तु है। वेदान्त का पूर्ण ज्ञान कथन से या पुस्तकें पढ़ लेने से नहीं होता है।

शंकर का अद्वैतवाद जो श्रुति, युक्ति और अनुभूति पर आधारित है, अपने में अनुपम और अद्वितीय है। श्री शंकराचार्य बड़े मेधावी, मनस्वी और विद्वान् थे। अपनी तर्क-शैली से उन्होंने बौद्धमत की कई मिथ्या धारणाओं का खण्डन करके स्वधर्म का स्थापन किया है।

श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद से विराट् मानवता ने शान्ति, समृद्धि और सान्त्वना प्राप्त की है। आज के दुःखी विश्व के लिये यह ज्ञान भंडार रामबाण का काम कर सकता है। **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को उदय करने में जगत्मात्र का कल्याण निहित है। शंकर का दर्शन भारतीय विचारधारा पर तो छा ही गया था, साथ ही पाश्चात्य विद्वान् तथा सूफी संत भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

अखिल मानव-समाज इनका अति कृतज्ञ है, नतमस्तक है। यदि शंकर न आते तो आज वैदिक धर्म दिखाई न देता। उन्होंने अकेले सब विरोधी तत्त्वों से लोहा लिया। उन्होंने विजय पाई, अपने शुद्ध ज्ञान और आस्तिकता के बल बूते पर। वे सुधारक, दार्शनिक, तार्किक, कर्मयोगी और महापंडित थे। वे यदि अधिक समय जीवित रह जाते, तो आध्यात्मिक एकता राजनीतिक सामूहिक चेतना में बदल जाती।

विशिष्टाद्वैतवाद

प्रवर्तक—श्री रामानुजाचार्य (१०१७-११३७)—इनकी जीवनी यथास्थान अन्यत्र दी गई है। श्रीरामानुजाचार्य ने आलवार सन्तों द्वारा प्रवाहित भक्ति की मन्दाकिनी से प्रेरणा ली। पंचरात्र आगम-शास्त्रों को वेदतुल्य मान्यता देकर वैष्णव धर्म की पक्की नींव रखी। तब से वैष्णव धर्म के दर्शन का विकास ही होता रहा।

ब्रह्म—सगुण एवं सविशेष है। सर्वान्तिर्यामी है। उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण है, 'चित्-अचित्-विशिष्ट' समग्र तत्त्व ही ब्रह्म है। ब्रह्म के चेतन अंश से (जीव) अचित् से जड़ (प्रकृति) की उत्पति मानी जाती है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है। वे सकल जीवों के हितकारी हैं।

जीव—ब्रह्म का ही अंश है। चेतन है, अणुरूप है। अपूर्ण है। ज्ञान का आश्रय है और नित्य, देहादि से भी भिन्न है, कर्ता है, भोक्ता है।

जगत्—नारायण का शरीर है। अचित् है, सत्य है।

लक्ष्य—प्रपत्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति ही लक्ष्य है।

मोक्ष—जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्म के सदृश हो जाता है न कि ब्रह्म रूप।

साधन—प्रपत्ति या शरणागति का मुख्य अंश ही सर्वोत्तम साधन है। उपासना से अज्ञान का नाश होता है। यह सब के लिये प्राप्य है।

मत—इस मत के मानने वाले श्री रामानुज सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय नामों से जाने जाते हैं।

द्वैतवाद

प्रवर्तक—श्री मध्वाचार्य—इनके अनुसार जीव और ब्रह्म नित्य पृथक् सत्ताएं हैं। दास (जीवात्मा) कैसे स्वामी (परमात्मा) के समान हो सकता है?

ब्रह्म—पूर्ण स्वतंत्र है। परमतत्त्व ब्रह्म भगवान् विष्णु हैं, जो सृष्टि के रचयिता पालयिता और संहर्ता है। लक्ष्मी, भगवान् की शक्ति हैं। परमात्मा जीवों को उनके पूर्व-कर्मानुसार, इस जन्म में भी कर्मों में लगाते हैं।

जीव—ब्रह्म से सदा पृथक् है और प्रकृति से भी भिन्न है तथा परतन्त्र है। जीव एक दूसरे से नाना भिन्न है। जीव अनेक हैं। वे सब अणु हैं।

जगत्—विकारी और परिवर्तनशील होने पर भी मिथ्या नहीं है। ब्रह्म इसका निमित्त कारण है और प्रकृति उपादन कारण। संसार जीवों से भरा हुआ है।

साधन—भक्ति (कीर्तन, नृत्य), ध्यान तथा त्याग के द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष—जीव सामीप्य मुक्ति प्राप्त करके भगवान् की सेवा का अधिकारी बनता है। सभी जीव स्वाभाविक सहजानन्द की अनुभूति करते हैं। यही मोक्ष की अवस्था है। मुक्ति के अनन्तर जीव ईश्वर के स्वरूप नहीं हो जाते केवल ईश्वर के निरन्तर सेवा के अधिकारी होते हैं।

सार रूप में द्वैतवाद में मुख्य तथ्य ये हैं:—

(क) विष्णु ही परम सत्तावान् हैं।

(ख) जगत् सत्य है।

(ग) जीव ब्रह्म से भिन्न तथा दास है। जीव अनेक हैं। ये साधारण तथा श्रेष्ठ श्रेणियों में है।

(घ) भगवत्-साक्षात्कार ही मोक्ष है।

(ङ) मोक्ष का साधन भक्ति है।

द्वैताद्वैतवाद

प्रवर्तक—श्री निम्बार्काचार्य—ब्रह्म सब का नियन्ता है। जीव भोक्ता है, जगत् भोग्य है। ब्रह्म सगुण भी है, निर्गुण भी है। ब्रह्म को ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण माना है।

ब्रह्म—सर्वोच्च सत्ता है। यह अद्वितीय है। यह अपने वास्तविक रूप में असीम और अनन्त है। अपने दूसरे रूप में जगत् का स्वामी ईश्वर बन जाता है। तीसरे रूप में जीव बनकर चौथे में जगत् बन जाता है। चारों परस्पर भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। श्री निम्बार्काचार्य जी ने ब्रह्म की तुलना भगवान् श्री कृष्ण से की है। राधा उनकी नित्य सहचरी है। ब्रह्म सकल सृष्टि का निर्माता होकर भी उससे अनासक्त रहता है।

जीव—जीवात्मा परब्रह्म परमात्मा का एक अंश है। लेकिन इससे अभिन्न भी है जैसे तरंगबुदबुदादि जलाशय से भिन्न है, किन्तु जल में मिलकर पुनः जल का रूप धारण कर लेने से अभिन्न भी है। जीव अणु है और अनेक है। जीव ज्ञानस्वरूप है। यह ज्ञान है और ज्ञानी भी है। जैसे सूर्य प्रकाश है और प्रकाश देने वाला भी। प्रलय काल में सभी जीव सूक्ष्म अवस्था में ब्रह्म में समा जाते हैं। यह सभी अवस्थाओं में आनन्दमय है।

जगत्—सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ने अपने संकल्प से ही जगत् की रचना कर डाली, जैसे मकड़ी बिना किसी बाहरी पदार्थ के अपना जाल अपने आप बुन लेती है। इस प्रकार जगत् का व्यवहार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है, स्वतन्त्र नहीं है। यह संसार भ्रममात्र नहीं है, परमात्मा की सूक्ष्म शक्तियों का परिणाम है। अतः यह असत्य नहीं माना जाता। जीव की भांति यह संसार ब्रह्म से भिन्न भी है, और अभिन्न भी।

साधन—भक्ति का साधन प्रपत्ति अर्थात् आत्म-समर्पण एवं नाम-स्मरण है। भक्त ज्ञानी पुरुष ईश्वरेच्छा से संसार में जीता रहता है। श्री राधाकृष्ण की युगल-मूर्ति में ब्रह्म की पूजा होती है जो एक होते हुए भी लीला के लिए दो रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ भक्ति ऐश्वर्य-प्रधान न होकर माधुर्य-प्रधान है।

मोक्ष—जीव और ब्रह्म का चिर-ऐक्य ही मोक्ष है। मोक्ष के उपरान्त जीव की अपनी व्यष्टि सत्ता बनी रहती है। यही द्वैताद्वैत है।

शुद्धाद्वैतवाद

प्रवर्तक—श्री वल्लभाचार्य—इनके द्वारा प्रचारित दिव्य-जीवन का मार्ग पुष्टि-मार्ग कहलाता है। आदि गुरु श्री शंकराचार्य जी के मायावाद में विश्वास नहीं करते। उनके कथनानुसार ब्रह्म को माया जैसी किसी सहायक वस्तु की आवश्यकता नहीं है। इनके मत में सम्पूर्ण जगत् और जीव-समुदाय सत्य हैं, और ईश्वर के सूक्ष्म अंश हैं। ईश्वर इस जीव-समुदाय और जगत् का स्रष्टा और संहर्ता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जीवन में कम से कम एक वार श्रीनाथद्वारा का दर्शन करना अपना पुण्य कर्तव्य समझता है।

ब्रह्म—श्रीकृष्ण स्वयं ही है। वे सच्चिदानन्द, रसपूर्ण पुरुषोत्तम हैं। वे सर्व-शक्तिमान्, सनातन, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक हैं।

जीव—जीव ईश्वर का अंश है, जैसे अग्नि से स्फुलिंग फूटते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण ब्रह्म से जीवों का उद्भव होता है। दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। जीव अणु है, कर्ता है और भोक्ता है।

जगत्—ब्रह्म का ही स्वरूप है। प्रभुमय है। यह सत्य है और ब्रह्म में ही समाहित है।

साधन—मनुष्य का अन्तःकरण पापों के कारण मलिन है। उनके परिष्कार के लिए प्रभु की कृपा पुष्टि-पोषण की परम आवश्यकता है। इसी भक्तिमार्ग के द्वारा जीवात्मा परमात्मा का सान्निध्य (मोक्ष) प्राप्त करता है।

ये लोग संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। भगवान् की लीला का गान कथा-कीर्तन श्रवण, जप तथा अष्टयाम पूजा करते हैं। इनमें प्रेमा-भक्ति का विकास होता है जिससे वे ईश्वर के दिव्य-तत्त्वों के मर्मज्ञ हो जाते हैं, और अन्त में उन्हीं को प्राप्त करते हैं।

मोक्ष—भक्तों को मुक्ति नहीं चाहिये। ये प्रभु की निरन्तर सेवा को ही मोक्ष मानते हैं। श्रीकृष्ण के धाम (गोलोक) में निवास करना, इनकी लीलाओं का अनुकरण करना, जड़ या चेतन किसी भी रूप में उनका सान्निध्य लाभ करना, इत्यादि इनका चरम-लक्ष्य होता है। गोपियाँ अपने में भी श्रीकृष्ण का दर्शन करती हैं, यही पराभक्ति है।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद

प्रवर्तक—श्री चैतन्य महाप्रभु। श्रीरामानुज और श्रीमध्वाचार्य के विचारों से प्रभावित थे। यह सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय की ही एक शाखा है, जिसमें कुछ नई विशेषताएं हैं। इन्होंने परमात्मा, आत्मा, माया या प्रकृति सभी को माना है जीव और जगत् परमेश्वर से भिन्न होकर भी परमेश्वर में आश्रित हैं। न तो उनसे पृथक् हैं न ही अभिन्न। इनमें अनिर्वचनीय या अचिन्त्य भेद और अभेद हैं, अतः इस दर्शन का नामकरण अचिन्त्यभेदाभेद पड़ा।

ब्रह्म--सच्चिदानन्द स्वरूप है। श्रीविष्णु के रूप में वे इस जगत् के नियामक हैं। वह माया के प्रभाव से मुक्त होने के कारण निर्गुण हैं, किन्तु सर्वशक्तिमान् होने के कारण सगुण हैं। वे जगत् के निमित्त तथा उपादान कारण हैं। परमपिता परमेश्वर श्रीकृष्ण ज्ञानियों के लिए ब्रह्म, योगियों के लिए परमात्मा और भक्तों के लिए ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् हैं।

जीव—अणु है। जीवात्मा का परमात्मा से वही सम्बन्ध है, जो अग्नि की दाहिका शक्ति का अग्नि से। इस प्रकार दोनों परस्पर भिन्न भी हैं, अभिन्न भी हैं। जीव माया से प्रभावित होने के कारण पारमार्थिक स्वरूप को भूला रहता है। गुरु एवं ईश्वर की कृपा से माया का प्रभाव न्यून होता है। जीव नित्य है।

जगत्—ईश्वर ने महत्तत्त्व से सृष्टि की रचना की। जगत् के अन्य रूपों को रचने का कार्य ब्रह्मा को दिया गया। जगत् परमेश्वर की शक्तियों की अभिव्यक्ति है। उनके इशारे पर माया सब काम करती है। जगत् न सत्य है, न असत्य है, अचिन्त्य है।

साधन—प्रभु का स्मरण कीर्तन ही भक्ति है। संसार में व्यस्त रहते हुए भी प्रभु-स्मरण होता रहना चाहिए। नाम-महिमा पर विशेष बल दिया गया है। श्रीकृष्ण-प्रेम में अनुरक्ति ही, मनुष्य को शोक, मोह से मुक्त करके, परम सुखी बनाती है। श्रद्धा वांछनीय है। भगवान् की भांति ही गुरु के प्रति भी श्रद्धा पर बल दिया गया है।

लक्ष्य—जीवात्मा का अपने परमात्मा-स्वरूप को जानना ही परम लक्ष्य है। श्रीकृष्ण-दासत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है।

उपसंहार—जनसाधारण के लिए जीव और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार करना सरल नहीं था। अधिकारी-भेद एवं रुचि-भेद के कारण इन सोपानों (वादों) की आवश्यकता पड़ी। ये सब वाद एक ही परम लक्ष्य के सोपान हैं। इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। वेद तथा प्रस्थान-त्रयी सबको मान्य हैं।

वस्तुतः तत्त्व एक ही है। उसी ब्रह्म तत्त्व की श्री मध्वाचार्य जी ने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के आधार पर, श्रीरामानुजाचार्य जी ने बौद्धिक-ज्ञान के आधार पर और श्री शंकराचार्यजी ने अनुभूति-जन्य ज्ञान के आधार पर समझाने का प्रयास किया है।

दर्शन तथा सम्प्रदाय तालिका

	न्याय	वैशेषिक	सांख्य	योग	मीमांसा	वेदान्त
	अद्वैत	विशिष्टाद्वैत	द्वैत	द्वैताद्वैत	शुद्धाद्वैत	अचिन्त्यभेदाभेद
आचार्य	श्री शंकराचार्य	श्री रामानुजाचार्य	श्री मध्वाचार्य	श्री निम्बार्काचार्य	श्री वल्लभाचार्य	श्री चैतन्य महाप्रभु
सम्प्रदाय		श्री वैष्णव	ब्रह्म	सनकादिक	रुद्र	
ब्रह्म का स्वरूप	निर्गुण, शुद्ध, बुद्ध, नित्य-मुक्त एकरस	सगुण, सविशेष	सगुण	सगुण तथा निर्गुण	सगुण	सगुण
जीव का स्वरूप	मुक्त होने पर ब्रह्म रूप	चेतन, अणु, अनेक	परतंत्र, सदा पृथक् प्रकृति से भिन्न	अणु, ज्ञानस्वरूप, ब्रह्म से पृथक् होने पर भिन्न पर चैतन्य होने पर अभिन्न	ईश्वर का अंश सत्य, अणु, कर्ता, भोक्ता	नित्य, कृष्णदास अणु
जगत्	मिथ्या, असत्य	ब्रह्म के समान सत्य, अचित् मायावी नहीं	सत्य	सत्य, ब्रह्म से भिन्न व अभिन्न	सत्य, प्रभु का स्वरूप	न सत्य, न असत्य, अचिन्त्य
माया	स्वीकृत, ब्रह्म की शक्ति, न सत्य न असत्य,					

	न्याय	वैशेषिक	सांख्य	योग	मीमांसा	वेदान्त
मोक्ष	ब्रह्मलीनता, ब्रह्म सायुज्य जीवत्व का परित्याग, ब्रह्मत्व में निष्ठा, जीव ब्रह्म का ऐक्य।	सारूप्य, जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त हो कर तत्सदृश होना,	सामीप्य, सेवा के अधिकारी	चिर मिलन	गोलोक में सान्निध्य निरन्तर सेवा ही मोक्ष	दासत्व-प्राप्ति को ही मोक्ष
साधना	चिन्तन, मनन, ज्ञान	नाम-स्मरण आत्मसमर्पण	कीर्तन, नृत्य	नाम-स्मरण स्वकीया भाव	सेवा, सख्य	श्रवण कीर्तन परकीयाभाव
भगवत्प्रतीक	निराकार	नारायण	कृष्ण	राधाकृष्ण	राधाकृष्ण	कृष्ण वैसे तो एक तत्व राधा तत्व की विशेषता
भाषा	संस्कृत	संस्कृत	संस्कृत	संस्कृत	ब्रजभाषा	बंगला
केन्द्र	उत्तर—जोशीमठ, पूर्व—जगन्नाथपुरी, दक्षिण—शृंगेरीमठ पश्चिम—द्वारिका	आयोध्या	वृन्दावन	द्वारिका	श्रीनाथद्वारा	नवद्वीप, वृन्दावन

अध्याय ८

धार्मिक सुधारवादी आंदोलनों का युग

आदि काल में यज्ञ पद्धति की प्रथा थी। अग्नि आदि देवताओं की प्रसन्नता ए स्वर्ग-प्राप्ति के लिये, अनावृष्टि के प्रकोप को दूर करने के लिए, पुत्र-प्राप्ति आदि कामनाओं की पूर्ति के हेतु, यज्ञ प्रधानता पा चुके थे। पर अब यह प्रथा सरल न र कर जटिल हो चली थी। हर चीज की अति बुरी होती है, साथ ही क्रिया और प्रति क्रिया का भी क्रम चलता आया है। अतएव जनसाधारण का यज्ञों के प्रवृत्ति मार्ग ऊब जाना स्वाभाविक था। यज्ञों में की गई पशु-बलि की हिंसक प्रवृत्ति की वृद्धि जनता को विरक्ति भी होने लगी थी।

अतः वे चाहते थे निवृत्तिपरक ज्ञान। किन्तु उपनिषदों से प्राप्त हुए ज्ञान याज्ञिक कर्म गौण भले ही थे, परन्तु जिस ब्रह्म-विद्या और ज्ञान पर बल दिया गया वह भी दुर्बोध और जटिल प्रतीत हुआ। उसे केवल बुद्धिजीवी वर्ग ही समझ सकता था। पशु हिंसा की प्रतिक्रिया के रूप में लोगों के हृदयों में दया की प्रबल भावना उमड़ने लगी। समय की ऐसी माँग की पूर्ति के लिये इस पृष्ठभूमि में जैन और बौद्धमत सामने आये।

जैन धर्म

कहने को तो महावीर वर्धमान जैनमत के संस्थापक कहे जाते हैं, पर तथ्य यह है कि वे अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर थे। जैन धर्मावलम्बी तो अपने वर्ग को सृष्टि के साथ ही निर्मित मानते है। इनके अनुसार राजर्षि ऋषभ प्रथम तीर्थंकर थे। आर्य धर्म में ऋषभ देव का ऊँचा स्थान है।

महावीर वर्धमान के २५० वर्ष पहले २३वें तीर्थंकर श्रीमहात्मा पार्श्व हुए। आप भी ३०वें वर्ष में राजपाट को त्याग कर वन में तपस्या करने चले गये। तदुपरान्त पूरे ४० वर्ष जैन धर्म का प्रचार करके महात्मा पार्श्व ने पार्थिव शरीर छोड़ा। उन्होंने जीवनपर्यंत इन चार व्रतों पर बहुत बल दिया था :

(१) सत्य और केवल सत्य का व्यवहार।
(२) कायिक, वाचिक, मानसिक हिंसा का पूर्णतया त्याग।
(३) अस्तेय।
(४) अपरिग्रह—अनावश्यक कुछ भी संचित न करना।

वर्धमान महावीर का संक्षिप्त जीवन चरित्र तथा उपदेश

आज से २५९५ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को इक्ष्वाकु वंश के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला देवी को एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई थी, जिसका नाम वर्धमान रखा गया। राजकुमार को यथोचित शिक्षा दिलाई गई। माता के अनुरोध पर विवाह हुआ और कन्या हुई जिसका नाम प्रियदर्शनी रखा गया। माता-पिता के देहान्त होने पर भ्राता के आग्रह से राज-प्रवन्ध में कुछ सहयोग देकर ३० वर्ष की अवस्था में उन्होंने गृह-त्याग कर दिया।

अति उग्र तप करके उन्होंने सिद्धियां प्राप्त कीं। दूसरों के मन की बात जान लेना इनके लिए बच्चों का खेल था। तपस्या जारी रही। छह छह मास निर्जल रहे। महीनों खड़े ही रहे। कहा जाता है कि उन्होंने साढ़े बारह वर्षों में ३४ बार ही आहार किया था। वे सामान्य मनुष्य तो थे नहीं। उनका निश्चय हिमालय की तरह अविचल था। उनके धैर्य और मनोबल को देखकर ही उन्हें 'महावीर' की पदवी मिली। वे सर्वज्ञ और महासिद्ध थे। ५२७ ई० पूर्व ७२वें वर्ष में कैवल्य पद प्राप्त किया।

उपदेश— वर्धमान महावीर ने भूत-दया और अहिंसा के कल्याणमय धर्म का उपदेश प्रारम्भ किया। वड़े-वड़े नरेश इसे सुनकर साधु हो गये। उनके शिष्यों में चारों वर्णों के महापुरुष हुए हैं। श्रीऋषभदेवजी के चार उपदेशों में इन्होंने पाँचवां और जोड़ दिया, जिसमें ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया था।

स्याद्वाद—जैनमत की सबसे विलक्षण देन इसका स्याद्वाद है—"एक ही वस्तु में देश, काल तथा अवस्था भेद से अनेक विरुद्ध या अविरुद्ध धर्मों का होना सम्भव है। अतः एकान्त रीति से अमुक वस्तु का अमुक धर्म है, दूसरा नहीं—यह कहना ठीक नहीं।" इस प्रकार सत्य के अनेक पहलू हैं, तभी तो इसे **'अनेकान्तवाद'** कहा जाता है। इसमें जैन धर्म की अहिंसा भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची। केवल अपनी बात को ही ठीक कहते रहने का आग्रह करना भी हिंसा-तुल्य है। इससे दूसरे के मत का आदर करना आवश्यक हो जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्त की स्थापना करने का श्रेय 'महावीर' को ही है।

संदेश तथा मानव-संस्कृति को देन—समाज में दया, परोपकार अहिंसा तथा जीवन में त्याग, तितिक्षा, तप, संयम, इन्द्रिय-निग्रह यही मनुष्य जाति के लिए उनका

संदेश है। महावीर ने मानव-संस्कृति को अहिंसा, त्याग तथा तप का जो वरदान दिया वह अनेक जातियों के लिए आदर्श रहा है। मनुष्य अपनी दुर्बलता से उसे भले न अपना सके, परन्तु यह स्वतः सिद्ध है कि मानव उन्नति तथा कल्याण, **त्याग, संयम, और अहिंसा में है।**

अहिंसा को जितने व्यापक एवं सार्वभौम रूप में जैन धर्म में ग्रहण किया गया है, उतने व्यापक रूप में दूसरे किसी धर्म में नहीं लिया गया। घोर तपस्या और उससे प्राप्त सिद्धियों के लिए जैन महात्मा सदा विख्यात हैं। १३वें महीने में कपड़े फटकर स्वतः ही उनके शरीर को छोड़ गये। उन्होंने फिर वस्त्र धारण ही न किये। तभी से इस आदि-दिगम्बर के अनुयायी भी दिशाओं को अपना अम्बर (वस्त्र) मानते चले आ रहे हैं। इनसे पहले के २३ तीर्थकरों को मानने वाले श्वेताम्बर कहलाते हैं।

जैन दर्शन—वेदों की प्रमाणिकता में जनमत विश्वास नहीं रखता।

आत्म-तत्त्व—जैन धर्म आत्म-तत्त्व को मानता है।

जगत्—अनादि है। इसका रचयिता कोई नहीं। यह उत्पत्ति और विनाश रहित है। जगत् प्रकृति के नियमों से चल रहा है।

लक्ष्य—जैन मतानुसार मनुष्य का लक्ष्य कैवल्य पद की प्राप्ति है। इसी को वह परम पुरुषार्थ मानते हैं। इसकी प्राप्ति के लिए संसार का त्याग आवश्यक है। जैन महात्माओं के मतानुसार जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है। तपस्या द्वारा आवागमन से छुटकारा पाना मोक्ष है।

सोपान—मोक्ष प्राप्ति के लिए ७ सोपान हैं:

१. **जीव**—आत्मा को कहते हैं।

२. **अजीव**—शरीर।

३. **आस्रव**—अर्थात् कर्म संस्कार—शरीर, वाणी और मन से आस्रव स्फुटित होता है। मिथ्या दर्शन, अवरति तथा प्रमाद के कारण ही आत्मा शरीर में बंधता है।

४. **बन्ध**—कर्म-संस्कार द्वारा आत्मा-शरीर का बंधन ही बंध कहलाता है।

५. **संवर**—वर्तमान कर्म करते हुए कर्मों में अनासक्ति का नाम ही संवर है। संवर मोक्ष का कारण है।

६. **निर्जरा**—पूर्व जन्म के संचित कर्मों से छुटकारा पाने के लिए सतत उद्योग (तपस्या) ही निर्जरा है।

७. **कैवल्य पद (मोक्ष)**—पूर्व संचित कर्मों एवं वर्तमान कर्मों से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

महावीर स्वामी को ऐसा आभास हुआ कि उनके समस्त पूर्व जन्म एवं इस जन्म के ३० वर्ष व्यर्थ गए। उन्होंने शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए १२ अनुप्रेषों पर विचार करना आवश्यक समझा:

१. जगत् के सब पदार्थ नश्वर हैं।
२. आत्मा ही एकमात्र आधार है।
३. यह जगत् अनादि है।
४. आत्मा की सहायता आत्मा ही कर सकता है।
५. आत्मा शुद्ध और शरीर अशुद्ध है।
६. मन, आत्मा से भिन्न है।
७. कर्म बन्धन का मूल कारण कर्मों में आसक्ति है।
८. कर्म से छुटकारा ही परम ध्येय है।
९. कर्म चक्र से निकलने का नाम ही मुक्ति है।
१०. मुक्त आत्मा ही श्रेष्ठ है।
११. मनुष्यता का भास तथा मुमुक्षत्व की कामना ही वरदान है।
१२. त्रिरत्न (सद्-विश्वास, सद्-ज्ञान और सदाचार) की प्राप्ति ही केवल परम अचार है। इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष का मार्ग बना है। सद्-ज्ञान से वस्तुस्थिति का पता चलता है। सद्-विश्वास से उन पर विश्वास होता है। सदाचार से कर्मगति का अवरोध होता है, फलस्वरूप सत्तपस्या से पवित्रता की प्राप्ति होती है।

जैन धर्म में अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया गया। अहिंसा को परम धर्म मानने

३. स्याद्वाद जैन मत का अपना एक स्वतन्त्र मौलिक सिद्धान्त है। इसी के द्वारा विश्व में, राष्ट्र में, समाज में तथा प्राणिमात्र में शान्ति के बीज बोये जा सकते हैं।

४. महावीर स्वामी ने कर्म सिद्धान्त को अति विशाल रूप से दर्शाया है। इसके समझे बिना सिद्धान्त अधूरा है। जीव कर्म कैसे करता है, उन्हें कैसे भोगता है तथा उससे किस प्रकार छुटकारा पाता है, उन्होंने इन्हीं सब बातों को अपने कर्म-सिद्धान्त में बतलाया है।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म से पूर्वकाल—बुद्ध के समय से पूर्वकाल का मगध-साम्राज्य आजकल के गंगा के दक्षिण में दक्षिण-बिहार तक फैला हुआ था और राजधानी राजगृह नगरी थी। गंगा के उत्तर में प्रबल लिच्छिवियों का राज्य था जिसकी राजधानी वैशाली थी। जिसे इन दिनों पूर्वी बिहार कहते हैं, उसका नाम अंग प्रदेश था। उत्तर-पश्चिम में कोसल राज्य की पुरानी राजधानी अयोध्या के उजड़ जाने से नवीन राजधानी श्रावस्ती हरी-भरी थी। पास में रोहणी नदी के दोनों किनारों पर शाक्य और कोली दो स्वतन्त्र जातियां आमने-सामने राज्य कर रही थीं। शाक्यों की राजधानी कपिल-वस्तु के राजा शुद्धोधन कोली महाराज की दोनों बेटियों से विवाह कर लाये थे।

बुद्ध का जन्म—बहुत समय बाद बड़ी रानी महामाया देवी प्रसवार्थ मायके जा रही थीं कि रास्ते में ही नेपाल के लुम्बिनी नामक स्थान पर ५६३ ई० पू० में सिद्धार्थ का जन्म हुआ। वे एक सप्ताह के थे कि माता चल बसीं। फलतः पालन-पोषण का उत्तरदायित्व विमाता गौतमी पर आ पड़ा। वह उनकी मौसी भी लगती थीं। तभी से इनका नाम 'गौतम' पड़ा था। वैसे गोत्र भी गौतम था। यही सिद्धार्थ बाद में 'गौतम बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए। महाराज शुद्धोधन को ज्योतिषियों ने बतला रखा था कि यह बालक संसार में महान् कार्य करेंगे। चक्रवर्ती महाराज होंगे या फिर घर-बार त्याग कर सबका उद्धार करेंगे।

बाल्यकाल—सिद्धार्थ ने गुरु-गृह में रहकर अल्पकाल में ही अपनी प्रखर प्रतिभा के कारण सब शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इधर महाराज को बराबर भविष्य-वाणी याद रहती। तभी उन्होंने पूर्ण सावधानी से इस बात का ध्यान रखा कि किसी भी दुःखदायक घटना का ज्ञान राजकुमार को न होने पाये।

विवाह और गृह-त्याग—राजा शुद्धोधन ने १८ साल की आयु में राजकुमार का परमसुन्दरी यशोधरा राजकुमारी से स्वयम्बर रीति से विवाह कर दिया। पर होनी तो होकर ही रही। एक दिन जब राजकुमार वायु-सेवनार्थ जा रहे थे। अकस्मात् वृद्ध, रोगी, शव-यात्रा के दृश्य आंखों के सामने आ गये। मन राजकुमार का विरक्त होना ही था। उनका मन संसार से उचाट हो गया।

सिद्धार्थ के हृदय में मनुष्य मात्र के दुःख दूर करने की अभिलाषा हुई। वे ऐसे उपाय की खोज में थे, जिसे न तो धन और न ही अधिकार द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। तभी पुत्र-रत्न की प्राप्ति जो हुई, तो उसे उन्होंने नया विघ्न माना और इसीलिए नाम रखा 'राहुल' किन्तु उन्होंने इस नये बन्धन में न पड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया। जब सारा राज्य हर्षोत्सव मनाकर रात को देर से सोया ही था कि गौतम ने अपने अश्व को लेकर सारथि छन्दक के साथ आधी रात को निस्तब्धता में गृह-त्याग किया। कपिलवस्तु से २४ कोस दूर नदी के तट पर पहुंच कर गौतम घोड़े से उतर पड़े और अपने वस्त्राभूषण छन्दक को सौंप कर उसे कपिलवस्तु लौट जाने को कहा और यह संदेश दिया कि "अब में बुद्धत्व प्राप्त करके शान्त चित्त से ही लौटूंगा, इसलिए पिताजी चिन्ता न करें।"

खोज और बुद्धत्व की प्राप्ति—तत्पश्चात् गौतम त्यागी-वेष में कुछ दिन वैशाली में रहे। वहाँ से राजगृह में आकर महापंडित रुद्र के साथ रहे। बाद में आचार्य अलार वल्लभ के यहाँ रहे। वहाँ भी सन्तोष न हुआ तो ज्ञान प्राप्ति के लिए उद्रक संन्यासी के पास रहकर उन्होंने दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया। लेकिन निरे तार्किकों से, जिनको अनुभव-जन्य आत्म-बोध था ही नहीं, एक सच्चे आत्मशोधक की तृप्ति भला कैसे हो सकती थी ?

अत: वे तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के विचार से आधुनिक गया के निकट-वर्ती जंगल में गये, जहाँ पांच साथियों के साथ छह साल तक कठोर तपस्या की। शरीर सूख कर कांटा हो गया। एक दिन अत्यन्त दुर्बलता के कारण वे गिर पड़े। तब उनके विचार ने पलटा खाया और वे इस निर्णय पर पहुँचे कि तपस्या व्यर्थ है और उन्होंने उसे त्याग दिया। इस पर पांचों साथी उन्हें छोड़कर काशी चले गये। अन्त में वे पीपल के पेड़ के नीचे इस प्रण से बैठे कि उठेंगे ही तब जब ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। इन्द्रियों ने ललचाया, पर अन्ततोगत्वा सत्य का प्रकाश नेत्रों के सामने चमकने लगा। वैशाख-पूर्णिमा के दिन उन्होंने अनेक प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के बाद बुद्धत्व प्राप्त कर लिया। संसार का समस्त रहस्योद्घाटन हो गया। संसार के दुःख का कारण तथा उसके निरोध का उपाय भी ज्ञात हो गया। गौतम ने समझ लिया कि न तो मन को संसार की विला-सिता में फंसने दे और न ही निरर्थक दुःखदायक तपस्या के चक्कर में पड़े। इन दोनों के बीच के मार्ग से ही शांति और सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस बोध से वे स्वयं तो 'बुद्ध' कहलाये और पीपल वृक्ष (अश्वत्थ) "बोधि-वृक्ष"।

उद्देश्य तथा प्रचारार्थ भ्रमण—इस समय देश में कर्मकाण्ड का प्राधान्य था। [illegible] [illegible] कर्मों में बलि-प्रथा से हिंसा को प्रोत्साहन मिल रहा था। इस हिंसा और क्रूरता ने बुद्ध का हृदय करुणा-विगलित हो उठा। वे हिंसा-वृत्ति के उन्मूलन और

जन-कल्याण के लिए सन्नद्ध हो उठे। अपने उपदेशों का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए, भ्रमण के लिए निकल पड़े। उनको स्वयं तप और चिन्ता के मार्ग से चलना ही पड़ा था। अतएव उन्होंने इन दोनों को ही प्रधान माना। शास्त्रोक्त विधि के नाम पर जो तामस-राजस कृत्य पूजनादि प्रचलित थे वे शास्त्रोक्त नहीं है। इसे प्रमाणित करने की अपेक्षा उन्होंने अपने अनुभूत-सत्य को ही अपने ढंग से प्रसारित करना उचित माना। उन्होंने समझ लिया कि पवित्र जीवन तथा प्राणिमात्र के लिए प्रेम और दया का भाव ही उत्तम मार्ग है।

सबसे पहिले वे काशी के समीप सारनाथ पहुँचकर अपने पांच ब्राह्मण साथियों से मिले और उन्हें अपना नया सिद्धान्त बतलाया। उन्होंने काशी में पांच महीनों के अन्दर साठ शिष्य बनाये और मनुष्य मात्र को नया मुक्ति मार्ग बताने के लिए उन्हें उन शिष्यों को भिन्न-भिन्न दिशाओं को भेज दिया।

वे स्वयं गया गये और वहाँ चार शिष्य बनाये। उनमें से एक कश्यप था जो वैदिक-धर्म का बड़ा अनुयायी और दार्शनिक था। इसके फलस्वरूप महात्मा बुद्ध की ख्याति बढ़ी। फलतः गया में ही तत्काल एक हजार शिष्य बन गये। उन्हें साथ ले वे राजगृह आये, वहाँ राजा बिम्बसार ने अपने सब सेवकों के साथ उनसे दीक्षा ली।

वहीं पर सारिपुत्र और मौद्गलायन उनके शिष्य बने। उनकी शिष्य परम्पराओं में सारिपुत्र और मौद्गलायन अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी बढ़ती हुई ख्याति सुन कर महाराज शुद्धोधन ने उनको कपिलवस्तु में आमन्त्रित किया। भिक्षा-पात्र लिये राजकुमार को द्वार पर देखकर भला किसका हृदय न पिघलता। उनका उपदेश सुनकर राज-परिवार के समस्त सदस्य तथा शहर के नागरिक बौद्ध-धर्म के अनुयायी बन गये, जिनमें उनका पुत्र बालक राहुल भी था। वहाँ से चलकर उनका प्रचार-आन्दोलन बढ़ता ही गया। जब उन्हें बाद में अपने पिता की अन्तिम बीमारी की सूचना मिली तो गौतम बुद्ध ने कपिलवस्तु पहुँचकर अपने पिता की सेवा-सुश्रूषा उसी प्रकार की जैसे बाद में शंकराचार्य जी ने अपनी माता की सेवा उनके अन्तकाल के समय की थी। पिता की मृत्यु के पश्चात गौमती और पत्नी यशोधरा भी भिक्षुणी बन गयीं। यद्यपि महात्मा बुद्ध स्त्रियों को दीक्षा नहीं देना चाहते थे तथापि माता और पत्नी के अनुरोध को न टाल सके। हां, इतना नियम अवश्य बना दिया कि भिक्षुणियों के विहार अलग बनें।

चार मुख्य शिष्य—ये थे 'आनन्द','अनिरुद्ध', 'उपालि' और 'देवव्रत'। जिनमें सर्वप्रथम कृपापात्र आनन्द ही था, जिसने बुद्ध की मृत्यु के तुरन्त बाद पांच सौ भिक्षुओं की पहली सभा करके उनके सब प्रवचनों और सिद्धान्तों को एकत्र करके दोहराया था।

अनिरुद्ध बड़े व्याख्याता हुए। कहते हैं, उन्हें दिव्य-चक्षु प्राप्त थे।

उपालि नापित जाति का था। अपनी मानसिक शक्तियों के कारण बुद्ध-संघ का बड़ा नेता बना। विनय-पिटक तथा आनन्द-सूत्र-पिटक का संग्रहकर्ता यही था।

चौथा शिष्य देवव्रत बुद्ध के स्वजनों में से था। किन्तु वह उनकी महत्ता से ईर्ष्या रखता था। उसने राजा अजातशत्रु के साथ षड्यन्त्र रचकर बुद्ध की हत्या भी करनी चाही थी, किन्तु निष्फल रहा। पीछे रोगग्रस्त होने पर पश्चात्ताप किया और अपने कृत्य पर लज्जित हुआ। क्षमा याचना के लिए वह महात्मा बुद्ध के पास जा ही रहा था कि मार्ग में ही उसने उनका स्मरण करते-करते प्राण दे दिये। ८० साल की आयु में मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए बुद्धदेव ने अपने शिष्यों को बुलाकर उपदेश दिया, इसके बाद क्रमश: समाधि की अवस्था में प्रवेश करते हुए निर्वाण को प्राप्त हुए।

बुद्ध की शिक्षा पद्धति—महात्मा बुद्ध ने कभी ऐसा भास तक नहीं होने दिया कि वे कोई नया मत चला रहे हैं। बुद्ध सदा यही कहते रहे कि यही धर्म है। काल के प्रभाव से धर्म में जो अनावश्यक तत्त्व आ गये थे उन्हें हटाकर धर्म के सत्य स्वरूप को पुन: स्थापित करना चाहा। यथा संन्यास, वैराग्य, अहिंसा, कर्म को प्रधानता देना, करुणा, स्वर्ग की अपेक्षा मोक्ष-जीवन का ध्येय बनाना आदि तथ्य हमारे धार्मिक ग्रन्थों में पहले से ही मिलते थे। वे स्वयं तो बौद्ध नहीं, हिन्दू जन्मे थे, सो हिन्दुत्व को ही संशोधित किया। हिन्दू परम्परा के अनुसार देह का त्याग करने पर चिता में जलाये गये। उनकी भस्मी आठ भागों में वितरित कर दी गयी, जिसमें मुख्य प्राप्तकर्ता मगध के राजा अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवी और कपिलवस्तु के शाक्य थे। आठों जगह अस्थियों पर स्तूप बनाये गये, नवां स्तूप उस पात्र पर बनी जिसमें अस्थियां रखी गयी थीं।

बुद्ध का दार्शनिक सिद्धान्त—बुद्ध ने चार आदि सत्य बताए—१. दु:ख, २. दु:ख का हेतु ३. दु:ख का निरोध सम्भव है, और ४. दु:ख के निरोध का उपाय।

इस संसार को उन्होंने "दु:खालय" की संज्ञा दी। जन्म-मरण, आधि-व्याधि, वृद्धावस्था तथा मृत्यु महान् दु:ख हैं।

संसार के सब पदार्थ क्षणभंगुर हैं और दु:ख इन्हीं का फल है। अभिलाषाओं की पूर्ति पहले तो पूर्णतया होती ही नहीं। यदि कठिनाइयों को झेलने के बाद उनकी पूर्ति हो भी जाए तो एक की पूर्ति दूसरी कामना को खड़ा करके दु:ख का कारण बनती है। इस प्रकार कामनायें सुख का कारण न बन दु:ख ही का कारण बनती हैं। दु:ख के जानने मात्र से दु:ख की निवृत्ति तो होती नहीं, अतएव दु:ख का कारण ढूंढ़ना होगा। उन्होंने दु:ख के कारण को इस तरह बतलाया।

कारण—दु:ख का मूल कारण कामना ही है। तृष्णा आजीवन बनी ही रहती

है, उत्तरोत्तर बढ़ती ही है कम नहीं होती, यही सब पापों की जड़ है। इसकी तृप्ति कभी नहीं होती। यह तृष्णा ऐन्द्रिक विषयों के संयोग होने पर ही उत्पन्न होती है।

निरोध तथा उपाय—पर ऐसी बात नहीं कि तृष्णा का कारण मिटाया ही न जा सके। सब कुछ सम्भव है, उपाय ढूंढ़ना होगा।

तृष्णा-नाश का नाम निर्वाण है। दुःख-नाश का उपाय ही अष्टांग-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी को मध्य-मार्ग भी कहते हैं।

(१) **सम्मा-दिट्ठी**—अर्थात् सम्यक् दृष्टि। दुःख समुदय का और दुःख निरोध का ज्ञान ही सच्चा दृष्टिकोण है। जब तक संसार को दुःख रूप न मानेंगे तब तक इस संसार को त्यागने का लक्ष्य होगा ही नहीं।

(२) **सम्मा-संकल्प**—अर्थात् सम्यक् संकल्प। ऊपर बतायी गयी सच्ची दृष्टि से ही यह सत्य संकल्प आता है कि तृष्णा त्याग के बिना दुःख से छुटकारा नहीं। अतः अपनी तृष्णा का क्षय करते हुए अद्वेष, अहिंसा और मैत्री का संकल्प लें।

(३) **सम्मा-वाचा**—सम्यक् वाक्य—वार्ता का तप करना होगा। जिह्वा को दूसरों की निन्दा, चुगली, झूठी गवाही, अपमान, कटुता, गपशप आदि व्यर्थ की सार-हीन बातों से हटाना होगा।

(४) **सम्मा-कम्मान्त**—अर्थात् सम्यक् कर्मान्त। आत्मा को न मानते हुए भी बुद्ध ने वैदिक धर्म की भांति ही आवागमन माना है। मनुष्य के संस्कार ही कर्मानुसार बुरा या भला नया रूप लेते हैं। जैसा बोयेंगे, वैसा ही काटेंगे, यह अकाट्य नियम है। स्वयं बुद्ध के जातक कथाओं के अनुसार कई जन्म हुए थे।

कर्मों में पंचशील मुख्य है—

शील कहते हैं सर्वथा पाप-निवृत्ति को। यह पांच नियम सब बौद्ध गृहस्थों तथा भिक्षुओं के लिये अनिवार्य है।

(क) कोई किसी को मारे नहीं,
(ख) कोई वस्तु चोरी न करे,
(ग) कोई झूठ न बोले,
(घ) नशीली चीजों का पूर्णतया त्याग करे,
(ङ) व्यभिचार न करे।

इनके अतिरिक्त केवल भिक्षुओं के लिये कुछ नियम और हैं—

१. रात्रि में देर से भोजन न करे।

२. फूलमालादि न पहने, न किसी प्रकार का सुगन्धित द्रव्य फुलेलादि लगाये।

३. सदा भूमिशयन ही करे। पलंगों और नरम गद्दों का सर्वथा त्याग करे।

४. सोने-चांदी आदि को व्यवहार में न लावे।

५. सम्मा जीव अर्थात् सम्यक् जीविका—मनुष्यों की आजीविका का साधन ो शुद्ध ही होना चाहिए, जिसमें कि बौद्धमत के नियम का उल्लंघन न होता हो। ांस शराब आदि न बेचें। हिंसा, चोरी भी न करनी पड़े क्योंकि जैसा धन आवेगा, ससके खरीदे अन्न से वैसा ही मन बगेगा।।

६. सम्मा-वायाम अर्थात् सम्यक् व्यायाम—यहाँ व्यायाम का आशय कसरत ा योग साधनों से न हो कर शुभोद्योग से ही है। आचार विचार द्वारा—

(अ) पुराने अवगुणों का नाश,
(ब) नये अवगुणों से बचे रहने का प्रयत्न,
(स) अच्छे गुणों की प्राप्ति का प्रयत्न,
(द) और आगे उनकी वृद्धि का प्रयत्न।
बराबर उद्योग अथवा उद्यम करते रहना अपेक्षित है।

(७) सम्मा सीत अर्थात् सम्यक् स्मृति—उपर्युक्त नियमों से मन शुद्ध होगा, बुद्धि निर्मल होगी और ठीक निर्णय करेगी। तभी मनुष्य के मानसिक, वाचिक, कायिक, सभी कार्य शुद्ध होंगे।

८. सम्मा-समाधि अर्थात् सम्यक् समाधि—शीलादि नीचे की सब सीढ़ियों के शुद्ध रहने से ही कर्तव्य-पथ में यह अंतिम समाधि सम्यक् रहेगी और निर्वाण-पद के लक्ष्य को प्राप्त करायेगी। उसको मृत्यु से पहिले ही समूचा संसार मित्र के रूप में दिखाई देगा। मैत्री और करुणा की गंगा-यमुना उससे स्वतः निकलती रहेगी जो दूसरों को भी सुख-शान्ति प्रदान करेगी।

आत्मा और पुनर्जन्म—बौद्ध-धर्म के अनुसार कोई आत्म-तत्त्व नहीं है, इस धर्म को छोड़कर भारत के बाकी सभी धर्म आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हैं। आत्मा को न मानने पर पुनर्जन्म की अवस्था नहीं हो सकती। बौद्ध-दर्शन में आत्मा की दीपशिखा से उपमा दी जाती है। यही शिखा एक ईन्धन-संघात से दूसरे ईन्धन-संघात में संक्रान्त हो जाती है। उसी प्रकार एक जीवन के मृत्यु-क्षण और दूसरे जीवन के जन्म-क्षण में दो क्षणों से अधिक अन्तर नहीं।

निर्वाण—इस दर्शन में वस्तुओं को अनित्य और दुःखमय माना गया है। बौद्धमत सबको अनात्म मानता है। इसका सिद्धान्त है कि वासना के क्षय हो जाने से नाम-रूप इन्द्र-धनुप के चित्र-विचित्र रंग की भांति विलीन हो जाते हैं। निर्वाण निःशेषता का ही नाम है। निर्वाण दीपक के बुझने को कहते हैं। निर्वाण के समान जगत् में कोई और चीज है ही नहीं, जिसकी उपमा दी जा सके। वास्तव में निर्वाण का अर्थ है, उन गुणों और सम्बन्धों का नाश हो जाना, जो मनुष्य को भेद-भाव से

अनुप्राणित कर स्वार्थ की ओर उन्मुख करते हैं। निर्वाण की अवस्था में मनुष्य की सारी कामनाएँ और इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं।

त्रिपिटक—बुद्ध के उपदेशों के संकलन का नाम त्रिपिटक है—जिसका अर्थ है 'तीन पिटारियां' एक-एक पिटारी में कई ग्रंथों का समावेश है।

(१) 'सुत्त पिटक' में धर्म ग्रंथ हैं-- जिसमें बौद्ध संघ में दीक्षित भिक्षुओं के नियमों का वर्णन है। यह पिटारी पांच निकायों में विभक्त है।

(२) विनय पिटक—स्वतः में परिपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें बौद्ध संघ के प्रबन्ध एवं भिक्षु-भिक्षुणियों के दैनिक कार्यकलाप से सम्बन्धित नियम हैं। इसे तीन भागों में विभक्त किया गया है।

(३) अभिधम्म पिटक—इसमें बौद्ध धर्म का दार्शनिक चिन्तन निहित है। इसमें सात बड़े-बड़े ग्रंथ हैं।

धम्मपद—बौद्ध साहित्य में "धम्मपद" एक छोटा किन्तु मूल्यवान् रत्न है। इसमें २६ अध्याय हैं और कुल ४१३ श्लोक हैं। इसमें एक ही मार्ग की शिक्षा दी गयी है।

विदेशों में प्रचार—यज्ञों से ऊबी जनसाधारण की इच्छा यह थी कि कोई व्यावहारिक धर्म मिल जाये। वही बुद्ध ने दे दिया। कुरीतियों को दूर करके धर्म की स्थापना हुई। कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म उनके उपदेश की आधार-शिला बने रहे। आम लोगों को जो उपनिषदों की गूढ़ तथा रहस्यमयी भाषा को नहीं समझते थे, यह धर्म सरल और सुगम लगा। जनता ने उमड़कर इसे अपनाया। सबसे पहले तो छोटी जातियों ने, जो ब्राह्मणों के नीचे दबी थीं, बाद में क्षत्रियों और ब्राह्मणों ने भी इसे गले लगाया। इधर राजाओं ने भी आश्रय प्रदान किया। वे राजकुमार तथा राजकुमारियों को देश-विदेश तथागत का संदेश पहुँचाने के लिये भेजने लगे। सिंहल (लंका), यवद्वीप (जावा), स्वर्णद्वीप (सुमात्रा), चीन, जापान तक भारतीय भिक्षु गये। ब्रह्म-देश, श्याम-देश तो रास्ते में ही पड़ते थे। इन सब देशों ने बौद्ध धर्म की छत्र-छाया में शान्ति प्राप्त की।

बौद्ध मत की भारतीय संस्कृति को देन—बुद्ध धर्म के कारण भारत में तथा भारत से बाहर भी भारतीय धर्म, साहित्य एवं संस्कृति का व्यापक प्रचार हुआ। मूर्ति, चित्र तथा स्थापत्य कलाओं और ग्रंथों के रूप में भारतीय संस्कृति सम्बन्धी बहुत बड़ी सामग्री अब भी भारत में तथा वृहत्तर भारत के इन देशों में भी पायी जाती है।

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध मत का प्रभाव—वैदिक युग में कला की उन्नति कैसे होती? कला तो धर्म की चेरी रही। यज्ञ-मण्डप अस्थाई थे, यज्ञ के पश्चात् रहते ही न थे। किन्तु बौद्धों के स्तूप तथा विहार स्थायी थे। अतः उनके आश्रय ने

सभी कलाएँ बहुत उन्नत हुईं। अजन्ता की चित्रकला का उद्देश्य बौद्धविहारों को अलंकृत करना था। बौद्धों द्वारा बनवाये गये सांची भरहुत, अमरावती के स्तूप तथा अशोक के शिला-स्तंभ भारतीय कला को चार चाँद लगा रहे हैं।

संघ व्यवस्था तथा बौद्ध धर्म का आदर्श—अतीत काल में गुरुओं के पास जिज्ञासु आत्म-तृप्ति के लिये जाते थे, किन्तु अपनी संघ व्यवस्था सफल बनाकर प्रचार करने की परिपाटी न थी। संघटति रूप से शिक्षा-प्रचार भी बौद्धों से आरम्भ हुआ। नालन्दा पहला शिक्षा-केन्द्र बना।

लोक साहित्य के विकास में पाली का सम्पूर्ण साहित्य सहायक रहा। यह बौद्ध धर्म के अभ्युदय का फल था। लोक-सेवा का उच्च आदर्श बोधिसत्व के रूप में रखा गया। यह बोधिसत्व अपनी मुक्ति को त्याग कर प्राणि मात्र के दुख दूर करने में सदैव तत्पर रहने लगा।

बौद्ध सम्प्रदाय--जब तक बुद्ध जीवित रहे उनके मत का रूप ठीक उनके उपदेशानुसार रहा, परन्तु उनके महानिर्वाण के बाद बौद्ध-धर्म के भीतर से नयी-नयी शाखाएँ फूटने लगीं। यह मत दो निकायों में तुरन्त ही विभक्त हो गया था।

(१) स्थविर वादियों ने बुद्ध के मौलिक उपदेशों में विश्वास रखा और उन्हें मनुष्य ही माने रखा।

(२) महासंधिकों ने अपना संघ अलग खड़ा कर दिया।

इस प्रकार इन निकायों की संख्या बढ़ती-बढ़ती अशोक के समय तक १८ हो गयी, जिनमें कई एक का विश्वास यह हो गया कि बुद्ध दिव्य शक्तियों से युक्त अलौकिक अदृश्य देवता हैं, जो अजर और अमर हैं। इसी विचारधारा के फलस्वरूप भिक्षुओं के नियमों में भारी शिथिलता आ गयी। जब बुद्ध लोकोत्तर बना दिये गये तो अनुकरणीय कहाँ रहे? क्योंकि लौकिक मनुष्य अलौकिक देवता का अनुकरण कर ही नहीं सकता।

बौद्ध-धर्म में प्रारम्भ से ही दो मार्ग थे—अर्हतयान अथवा श्रावकयान जिनका लक्ष्य केवल अपनी मुक्ति था और जो दूसरों को भी मुक्ति दिलाने के लिये स्वयं अधिक कष्ट सहने को तैयार थे उनका मार्ग प्रत्येक बुद्धयान कहलाता था। कुछ समय पश्चात् अर्हतयान स्वार्थी होने के कारण हीनयान कहा जाने लगा और बुद्ध-यान निःस्वार्थ साधनों का यान महायान नाम से पुकारा जाने लगा। तत्पश्चात् चौथी शताब्दी तक बौद्धों के चार सम्प्रदाय और बन गये। वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार, माध्यमिक। इनमें से प्रथम दो हीनयान के अनुयायी माने गए। शेष दो ने जो केवल बुद्धयान को मानते थे, अपने आपको महायान का अनुयायी कहा। महायान द्वारा बुद्ध को अलौकिकता प्रदान करने से जनता खिंची चली आई। वैराग्य की अधिकता का योग की ओर प्रवाहित होना स्वाभविक था ही। गृहस्थी तो पहले से ही उत्सुक

बैठे थे। इस प्रकार अनुयायी बहुत बढ़े पर इस उन्नति में ही अवनति का बीज छिपा था। महायानियों में पहले गुह्य समाज बना और फिर वज्रयान फूट पड़ा, जो महायान का सबसे बड़ा कलंक बना, क्योंकि इसमें पांचों मकारों की शिक्षा जिसने बुद्धत्व के आदर्श को ढक दिया, अतिरिक्त तान्त्रिक क्रिया-कलाप की बहुलता है—यह तिब्बत चीन आदि में विशेष रूप से फला फूला। इस मत के आचार्य नागर्जुन एक प्रकाण्ड तान्त्रिक सिद्ध पुरुष थे।

महायान—महायान का अर्थ है 'बड़ा जहाज' जिनमें 'हीनयान' की तरह केवल संन्यासी भिक्षु नहीं, अपितु उनके अतिरिक्त सब गृहस्थी भी चढ़कर भवसागर से पार हो सकते थे। बोधिसत्व की कल्पना महायान की सबसे बड़ी विशेषता है। जैसा कि जातक कथाओं से प्रकट है कि उनके कई जन्म हुए। बोधिसत्व का शाब्दिक अर्थ है "बोध अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति" जिसका उद्देश्य संसार से केवल मनुष्यों को ही नहीं अपितु समस्त प्राणियों के समग्र दुःख को नाश कर उन्हें निर्वाण प्राप्ति करा देना रहता है। संसार का एक-एक प्राणी जब तक मुक्त नहीं हो जाता तब तक स्वयं निर्वाण-सुख भोगने की स्वार्थ सिद्धि मात्र मानकर परोपकार की दृष्टि से हेय ही समझता है।

बोधिसत्व के दो प्रधान गुण होते हैं, मैत्री और करुणा।

मैत्री और करुणा

मैत्री—प्राणिमात्र के प्रति स्नेह तथा सुहृद् भावना का नाम 'मैत्री' है। समस्त जीवों से निःस्वार्थ प्रेम करना ही धर्म है। यह धारणा बनती गई कि सच्चे प्रेम में केवल देना ही देना होता है, अपने लिये कुछ भी चाहने का तो नाम ही नहीं होता। स्वमंगल की तृष्णा का नाश हो जाने से प्रत्युपकार चाहने की कामना ही नहीं रहती। जीवन अपने लिये न रहकर केवल दूसरों के कल्याण के लिये सुरक्षित रखना होता है। यह लोभ-मोह-जनित राग न होकर अलोभ-युक्त व ज्ञानमूलक स्नेह होता है। द्वेष का सर्वथा नाश ही इसका प्रमुख लक्षण है।

करुणा—पर दुःख में दुःखी होना 'करुणा' कहलाता है। दूसरों के कष्ट को सहन न कर सकने से जीव मात्र के प्रति अहैतुकी दया, करुणाशील मनुष्य को सब के कष्ट निवारण के शुभ कार्य में प्रयत्नशील करती है। अपनी मुक्ति की मंगल कामना तक का त्याग करके इसे गौण रखकर दूसरों की निर्वाण प्राप्ति कराने में तत्पर रहना ही इन द्रवित हृदय वालों के जीवन का मुख्य उद्देश्य बन जाता है और हिंसा की तो जड़ तक कट जाती है। इसी भावना से प्रेरित होकर राज्यकुल के कुमार कुमारियों ने भिक्षु-भिक्षुणियों के रूप में विदेशों में मार्गों की कठिनायों को सहर्ष झेलकर बौद्ध धर्म के प्रचार से लोक-कल्याण किया था।

हीनयान में स्वमुक्ति की ही चिन्ता थी, अन्य प्राणियों की मुक्ति की नहीं। पर महायान की आधार-शिलायें मैत्री और करुणा हैं। महायान के बौद्धिक-सत्व की लक्ष्य-प्राप्ति के लिये इन दोनों सोपानों का बड़ा महत्व है।

इस प्रकार महायान धर्म ने निरीश्वरवादी शुष्क निवृत्ति प्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे ईश्वरवादी तथा प्रकृति प्रधान मनोरम रूप में उपस्थित किया।

अन्तर

महायान	हीनयान
१. स्वयं बुद्ध को ईश्वर माना।	बुद्ध स्वयं ईश्वर के बारे में मौन रहे।
२. तारा सहित अविलोकितेश्वर सर्व देवताओं की सेना खड़ी कर दी।	देवी देवताओं की पूजा को मिटाया।
३. संस्कृत भाषा को अपनाया।	लोक भाषा में उपदेश दिया।
४. गृहस्थादि सबके लिये मोक्ष द्वार खोल दिया।	मोक्ष के अधिकारी केवल भिक्षु माने।
५. समष्टि की मुक्ति पर जोर दिया।	व्यक्ति की मुक्ति पर बल दिया।
६. बोधिसत्व को महानता दी जो अपने निर्वाण को तब तक अस्वीकार करे जब तक सब प्राणियों को मोक्ष न मिले।	केवल मनुष्यों के लिये निर्वाण को ध्येय माना।
७. निःस्वार्थ करुणा को मोक्षादि पर प्रधानता दी।	मोक्ष स्वार्थ संसार से भागने में माना।
८. प्रीति की सार्थकता तब है जब वह दूसरों के लिये की जाये।	स्वयं का प्रेम ही ध्येय।
९. तिब्बत, जापान, चीन, कोरिया, नेपाल में पनपा।	लंका, ब्रह्मा, श्याम, हिंदेशिया में फैला।
१०. प्रार्थनाः "मैं बोधिसत्व रह कर सब प्राणि मात्र के मोक्ष के लिये कष्ट सहता रहूंगा।"	"मैं बुद्ध बनूंगा।"
११. करुणा को महत्त्व दिया गया।	ध्यान तथा ज्ञान पर बल दिया गया।
१२. उदार प्रवृत्ति को अपनाया।	संकुचित दृष्टिकोण रहा।
१३. निर्वाण के द्वार सब के लिये खोल दिये।	केवल भिक्षुओं के लिये सीमित रहा।

भारत में बौद्धमत के लुप्त होने के कारण—बौद्ध धर्म का भारत से बहिष्कार नहीं हुआ। किन्तु महान् वैदिक धर्म से निकलकर अपनी सुगंधि सुदूर देशों में फैलाकर पुनः उसी धर्म में विलीन हो गया। मूल बौद्ध-धर्म की मुख्य बातें तो वैदिक धर्म में खप गईं और नाम मात्र का बौद्ध सम्प्रदाय भारत से एकदम लुप्त हो गया। तथापि बुद्ध अवतार मान लिये गये और उस स्थान से कभी भी च्युत नहीं किये गये जो उन्होंने भारतीयों के हृदय में पाया था। फिर भी लुप्त होने के निम्नलिखित कारण भी थे।

१. बौद्ध धर्म का आपसी मतभेद बढ़ता ही चला गया, एक ने दूसरे में श्रद्धा-भंग करनी चाही, जनता के मन से दोनों गिर गये।

२. राज्याश्रय मिट गया। नियम है कि जो धर्म राज्याश्रय से बढ़ता है, गिरता भी है, जब राज्याश्रय न रहे। गुप्त सम्राटों ने वैदिक धर्म को अपनाकर बौद्ध मत की उपेक्षा की।

३. नियमों की कठोरता ने भोग की ओर दिशा दे दी। कुरीतियां आनी ही थीं।

४. जनता को कुरीतियों से घृणा होनी ही थी। लोग इतने भिक्षुओं के बोझ को व्यर्थ मानने लगे। दूसरे आत्मा के मरने की और पुनर्जन्म के रह जाने की बात कुछ जम न सकी। फिर निर्वाण का अर्थ क्या रहा? इसका समाधान बौद्ध दर्शन दे न सके जिससे उसका अनात्मा-विषय का प्रतिपादन जनता को ग्राह्य न हुआ।

५. जगद्गुरु शंकराचार्य और श्री कुमारिल का भी बौद्धों के परास्त करने में हाथ रहा।

६. जो बौद्ध अपने वास्तविक रूप में बच गये थे वे मुसलमानों के आगमन और नालन्दा विश्वविद्यालय के विध्वंस के बाद लुप्तप्राय हो गये। जब विहार ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये तो फिर बौद्ध धर्म का संघ कैसे टिक पाता?

प्रथम महासभा : बौद्ध संघ—महाराजा अजातशत्रु को महात्मा बुद्ध स्वयं दीक्षा दे गये थे, उनकी अध्यक्षता में बुद्ध के प्रतिष्ठित शिष्य महाकश्यप ने राजगृह में एक सभा का आयोजन गौतम बुद्ध के महानिर्वाण के बाद ही किया, जिसमें पांच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया। मुख्य उद्देश्य यह था कि बुद्ध के दिये हुए उपदेशों का संग्रह कर लिया जावे। अतः उपालि ने आचरण सम्बन्धी और आनन्द ने धर्म सम्बन्धी उपदेशों का संकलन प्रस्तुत किया, जिन्हें प्रमाणित कर दिया गया। यह सभा छह-सात मास चली थी। इस समय तक संघ की एकता बराबर बनी रही।

दूसरी महासभा—ऐसा प्रचार भिन्न प्रदेशों और जातियों में चलता रहा जिसका प्रभाव मूल धर्म पर भी पड़ा। मतभेद होना स्वाभाविक था। कोई ऐसी केन्द्रीय सभा नहीं थी, जो सबको एक सूत्र में जोड़े रखती। इससे बौद्ध धर्म में विघटन

के फलस्वरूप विविध सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। सौ साल बाद बुद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में पूर्णतः विभक्त हो चुका था। जिनके नाम थे स्थविरवादी और महासंघिक। स्थविरवादियों का गढ़ वैशाली था और महासंघिकों का केन्द्र अवन्ती, कौशाम्बी आदि थे। किन्तु, मतभेद सभा द्वारा मिटने की बजाय और बढ़ गये। यह सभा वैशाली में बुलाई गयी थी। स्थविरवादियों के बारह और छोटे वर्ग बन गये। जिनमें एक सर्वास्तिवादी था और महासंघिकों के सात वर्ग जिन्होंने अपने धर्म-ग्रंथ प्राकृत में लिखे। स्थविरवादियों ने पाली को अपना रखा था। बुद्ध तो ईश्वर के सम्बन्ध में मौन रहे थे, पर इन महासंघिकों ने, जिनको बाद में महायानवादियों की संज्ञा दी गयी, स्वयं बुद्ध को ही ईश्वर बना दिया।

तीसरी महासभा—यह सभा महाराजा अशोक ने पाटलिपुत्र में बुलायी थी। इसके अध्यक्ष मौद्गल-पुत्र तिष्य थे, जिन्होंने अशोक को दीक्षा दे रखी थी। इनको उपगुप्त के नाम से भी याद किया जाता है। उसने एक हजार भिक्षु ऐसे चुने जिनसे आशा की गयी थी कि पारस्परिक मतभेदों को दूर कर सिद्धान्तों का निर्णय करेंगे। सभा ९ मास तक चली। अन्त में अध्यक्ष द्वारा रचित 'कथावस्तु' ग्रंथ सबने शिरोधार्य किया। उसी के प्रचारार्थ विदेशों में भिक्षु भेजे जाने लगे। वहां विदेशियों ने इस प्रचार का स्वागत किया। किन्तु अशोक के बाद भारत में प्रगति रुक सी गयी जिसका एक कारण राज्याश्रय के न रहने का भी हो सकता है।

चौथी महासभा—तत्पश्चात् कनिष्क ने चौथी सभा कश्मीर में प्रथम शताब्दी ई० पू० में बुलायी। इसके अध्यक्ष वसुमित्र थे।

इसी सभा में महायान के स्थित्व को स्वीकार किया गया। इसकी उन्नति का श्रेय नागार्जुन, असंग तथा वसुबंधु जैसे उच्च कोटि के विद्वानों को है।

देवी-देवताओं को पूजा होने लगी। अश्वत्थ-वृक्ष और स्तूप के प्रतीक की जगह मूर्ति पूजा प्रारम्भ हो गई। मुक्ति के लिये, मन्त्रोच्चारण की प्रथा चल पड़ी। अनेक बोधिसत्वों में विश्वास बढ़ने लगा। हिन्दू धर्म के प्रभाव से महायान के धर्म-ग्रंथों में संस्कृत का प्रयोग होने लगा। बुद्ध, अवतार माने जाने लगे।

इस प्रकार लोक भावना के आगे मूल बौद्ध-धर्म को झुकना पड़ा और बौद्ध धर्म वैदिक धर्म में विलीन हो गया। परन्तु चीन, जापान, तिब्बत, बृहत्तर भारत में इसकी प्रगति नहीं रुकी।

बौद्ध दर्शन—दर्शन की दृष्टि से बौद्ध धर्म के चार विभाग हैं।

१. **माध्यमिक दर्शन**—विश्व के सभी पदार्थ क्षणिक हैं। परमाणुओं की अविरल धारा ही आकृति बनाती हैं। परमाणु भी क्षणिक हैं। क्षणिक होने के साथ सब दुःख रूप हैं।

केवल बौद्धिक ज्ञान सत्य है। बाकी सब पदार्थ अथवा बाह्य जगत् शून्य है। इस शून्य में लीनता ही मुक्ति है।

२. **योगाचार**—जिन शिष्यों को केवल आचार से सन्तोष न हुआ, उन्होंने योग की साधनाएँ कीं। बुद्धि का ग्राह्य कोई पदार्थ नहीं, बाह्य रूप में स्वयं बुद्धि ही मूर्त हुई है। वस्तुतः तीनों (१) ग्रहण करने वाला, (२) ग्रहण की क्रिया, (३) ग्रहण होने वाला पदार्थ अभिन्न हैं। पदार्थ के निराकार ध्यान से मुक्ति नहीं होती। बाहर के पदार्थ शून्य हैं। इसका बाह्य जगत् से निवृत्त होकर अन्तःकरण में इसकी उपलब्धि, मुक्ति है। ज्ञान की सत्ता मानने से विज्ञानवादी कहलाये।

३. **सौत्रांतिक** – मध्यम दर्शन ने भाव-स्तर से जगत् को अभिव्यक्ति दी। योगाचार ने भाव स्तर के साथ भाव जगत् का भी साक्षात्कार किया। तर्क तथा योग के द्वारा इससे ऊपर जाने की संभावना नहीं तब इसमें शाक्त दर्शन का प्रभाव आया। वह भुक्ति, मुक्ति दोनों का साधक बनने लगा। वज्रयान का तांत्रिक मार्ग इसी दर्शन को मानता है। इसकी मान्यता है कि भाव-जगत् पदार्थ का बुद्धि-स्थित रूप और बाह्य-स्थित दृश्य रूप दोनों ही सत्य हैं। राग द्वेषादि व संस्कार समुदाय दुःख के साधन है। सब क्षणिक हैं—यह भावना ही दुःख से त्राण का मार्ग है।

४. **वैभाषिक**—बाह्य पदार्थ और आन्तर पदार्थ दोनों की सत्ता से इसे सर्वास्तिवाद भी कहते हैं। भोगों को ही सत्य मानने से यह स्वाभाविक है सौत्रांतिकों का वज्रयान भुक्ति-मुक्ति के अनाचार का अड्डा बनता रहा। जड़वाद का यह दर्शन स्वीकार करता है कि आत्मा कोई नहीं, जगत् दो प्रकार का है—मूर्त (बाह्य) तथा चित्त (आन्तर)। दोनों की सत्ता स्वतंत्र अर्थात् परस्पर निरपेक्ष है।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म में समानताएं

१. दोनों के संस्थापक राजवंश कुमार थे।
२. दोनों का दृष्टिकोण लौकिक है।
३. दोनों यह मानते हैं कि मानव जीवन में केवल दुःख ही दुःख है। और दुःख का अन्त संसार से परे हैं।
४. दोनों ने चातुराश्रम व्यवस्था को न मानकर केवल भिक्षु के जीवन को अपनाया।

५. दोनों पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं।

६. दोनों ने जीवन की उच्चतर नैतिकता पर बल दिया।

७. दोनों में जाति विचार का विरोध किया गया।

८. दोनों ने संघ स्थापित करके प्रचार किया।

९. दोनों में शाखा विभाजन होता गया।

अन्तर

जैनमत	बौद्धमत
१. अहिंसा पर बल दिया गया।	बौद्ध धर्म में मध्य मार्ग पर बल दिया गया।
२. प्रदेशों की प्रचलित भाषाओं को अपनाया।	बौद्ध-मत ने पहले पाली को (धार्मिक ग्रंथ लिखने में) फिर संस्कृत को अपनाया।
३. प्रत्येक वस्तु में जीव माना।	इस विषय में बुद्ध चुप रहे।
४. भारत तक सीमित रहा।	विदेशों में फैला जहां इसका अस्तित्व अब तक है।

अशोक महान् (२७३-२३६ ई० पू०)

चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक महान् मौर्य वंश के सबसे बड़े एवं प्रसिद्ध सम्राट थे। भारत के इतिहास में विशालतम साम्राज्य इनका ही रहा। विश्व इतिहास में इनका बहुत ऊंचा स्थान है। दिग्विजयी राजा अनेक हो गये, पर धर्म विजय का श्रेय केवल इनको है। विजय का मद, आक्रमणकारियों को सदैव अंधा बनाता रहा, पर कलिंग की विजय ने, इनके नेत्र खोले दिये। इन्होंने अपनी प्रजा को पुत्रतुल्य समझकर, आदर्श नागरिक बनाने का भार वहन किया, पर साथ ही अपनी असीम करुणा से विश्व मानव को भी वंचित न रखा। महात्मा बुद्ध के संदेश का दूर-दूर प्रचार करने हेतु अपने पुत्र-पुत्री को विदेशों में भेजा। इनके परिश्रम द्वारा ही बौद्ध-मत सार्वभौम धर्म बना। समस्त संसार में वह पहला राजा था, जिसने पशुओं के लिये भी अस्पताल बनवाये।

प्रजा-पालन—अशोक को इस बात का विशेष ध्यान रहता कि सबके साथ न्याय हो। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय अपने कष्ट के निवारण हेतु, अशोक महान् से मिल सकता था। वह स्वयं तो आदर्श पर चलता ही था, साथ ही साथ प्रजा के आचार को उत्तम बनाने के उद्देश्य से अधिकारी नियुक्त कर रखे थे जो देश के कोने-कोने में पहुँचकर, प्रजा को कर्तव्य का ज्ञान कराते और राजाज्ञा-पालन ठीक-

ठीक हो, इस बात का भी ध्यान रखते थे। ऐसे अधिकारियों को धर्म महामात्य कहा जाता था। इनको आदेश मिला था कि वे प्रजा की शिकायतों को सुनने के लिये सदैव तत्पर रहें। निर्धनों, अनाथों तथा विधवाओं की उदर-पूर्ति का सारा बोझ राजकीय कोष पर रहता था। यात्रियों के लिये छायादार सड़कें, धर्मशालायें और सरायें बनवाई गयीं। स्थान-स्थान पर पेय जल का प्रबन्ध भी किया गया।

अशोक का धर्म—उसके धर्म की निम्नलिखित चार आधारशिलायें थीं—

१. बड़ों के प्रति आदर की भावना और छोटों पर दया, माता-पिता तथा गुरुजनों का यथोचित हार्दिक सत्कार करना अत्यावश्यक है, सेवकों के प्रति पूर्ण सहानुभूति से व्यवहार करना मनुष्य की शोभा है।

२. अहिंसा परम धर्म माना गया। किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचाया जाय। तोते, कबूतर, कछुवे, गिलहरी, चिमगादड़, छिपकली राजाज्ञा द्वारा अघ्न्य माने गये। युद्ध बन्द हो गये थे। आक्रमणकारी सेनाओं के स्थान पर शान्तिदूत तथा सद्भावना-मण्डल इतर देशों को भेजे जाने लगे। राज्य में अनुशासन बनाये रखने के लिये मृत्यु दण्ड ज्यों का त्यों रखा गया। भेरी-घोप का स्थान धर्म घोपणा ने ले लिया।

३. सत्य बोलने व सद्व्यवहार करने पर सदैव बल दिया जाता था।

४. सब धर्मों के प्रति उदारता—दूसरे सम्प्रदायों का आदर करने तथा दान देने के महत्व को बल दिया गया।

बौद्ध-मत का प्रचार—कलिंग विजय के पश्चात् अशोक ने बौद्ध-मत की दीक्षा ली। तत्पश्चात् इसके प्रचार के लिये कटिबद्ध हो गये। इस कार्य के लिये निम्नलिखित साधनों को अपनाया।

(क) बौद्ध-मत : राजधर्म—अशोक स्वयं भिक्षु बना और बौद्ध-मत को राजमत घोपित किया।

(ख) राजाज्ञाओं को शिलाओं पर खुदवाया। बौद्धमत के नियमों को अशोक ने पर्वतों की चट्टानो पर खुदवाया। यही नहीं, स्तम्भों पर भी खुदवाकर बड़ी-बड़ी सड़कों पर गड़वाया कि पथिक भी पढ़कर लाभ उठा सकें।

(ग) धर्म—महामात्यों की नियुक्ति। जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(घ) विहार निर्माण—कई जगह विहार बनाये जो बौद्धमत के स्थायी प्रचार में सहायक हुए।

(ङ) बौद्धमत की तीसरी महासभा—बौद्ध-मत के आपसी मतभेदों को दूर करने के लिये अशोक ने बौद्ध विद्वानों की सभा पाटलिपुत्र में बुलाई।

(च) प्रदेशों और विदेशों में प्रचार—कश्मीर, महाराष्ट्र, मैसूर, हिमालय में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। यूनान, ब्रह्मा, लंका, मिस्र, श्याम, मैसिडोनिया में अशोक ने बौद्धमत के प्रचारक भेजे। एशिया, योरुप, अफ्रीका तीनों महाद्वीपों में बौद्धमत खूब फैल गया। इसका श्रेय अशोक को है, जिसने इसे सार्वभौम धर्म बनाया।

इस पक्के नियामक, अथक, सत्यप्रिय शासक को परलोक की इतनी चिन्ता न थी, जितनी इहलोक में मनुष्य को मनुष्यता सिखाने की थी।

कनिष्क

कुशन—ईसा के जन्म से दूसरी शताब्दी पूर्व, पश्चिमी चीन में एक यूची जाति बसती थी, जिसे चीनियों ने वहां से भगा दिया और वे योद्धा लोग काबुल के मार्ग से भारत में आ बसे। इनकी एक सुप्रसिद्ध शाखा का नाम कुशन था। इन्होंने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बसे शक-जाति के लोगों को खदेड़ दिया। कुशन जाति का तीसरा और प्रसिद्ध सम्राट् कनिष्क था। फर्ग्युसन, रैपसनादि इतिहास-कारों के मतानुसार शालिवाहन शक ७८ ई० में इसी ने चलाया था।

कनिष्क का शासन काल—कनिष्क का अधिकांश जीवन युद्ध में ही बीता। इसका राज्य उत्तर में झील, अराल, दक्षिण में सौराष्ट्र, पूर्व में काशी और पश्चिम में ईरान तक फैला था। इसकी राजधानी पुरुपपुर (पेशावर) थी। कनिष्क में चन्द्रगुप्त मौर्य की शूरता थी और अशोक की तरह धर्म-प्रचार का उत्साह।

कनिष्क का मत—तक्षशिला से निकले सिक्कों के अनुसार वह बौद्ध धर्म का संरक्षक था। अशोक की भांति बौद्धमत का दृढ़ अनुयायी था और वैसी ही लगन से इस धर्म के प्रचार कार्य में जुटा रहा।

चौथी सभा—इसके परिश्रम से इस अन्तिम सभा का अधिवेशन श्रीनगर में वसुमित्र की अध्यक्षता में हुआ था। इसी में महायान को स्वीकृति मिली थी। इसने कई विहार भी बनवाये। पेशावर में एक विशाल काष्ठ-स्तम्भ बनवाकर उसमें बुद्ध की अस्थियां सुरक्षित रखीं। इसने दूर देशों में धर्म प्रचारक भी भेजे।

साहित्य तथा कला-प्रेमी—यह कई विद्वानों का आश्रयदाता था। आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान् चरक तथा बौद्धमत के विद्वान् नागार्जुन, अश्वघोष और वसुमित्र भी इसी के राज-दरबार को सुशोभित करते थे।

बौद्ध होते हुए भी, देवी-देवताओं की आकृतियों का उसके सिक्कों पर खुदा होना, इसकी उदारता तथा श्रद्धा का प्रमाण है।

गांधार कला का जन्म तथा विकास इसी के द्वारा हुआ। बुद्ध की मूर्ति बनाने का श्रेय इसी कला को है।

इसकी सिर-विहीन मूर्ति मथुरा के पास प्राप्त हुई है।

अश्वघोष

महान् कवि—हीनयान के वैभाषिक सम्प्रदाय के अश्वघोष, उच्च कोटि के दार्शनिक तथा विद्वान् थे, इनकी कवितायें भले ही आज न पढ़ी जाती हों, पर यह अकाट्य सत्य है कि महाकवि कालिदास के शब्द-चयन और कथावस्तु को इन्होंने ही प्रभावित किया था।

मध्य एशिया में इनके द्वारा लिखित तीन बौद्ध धर्म के नाटक मिले है। 'सारिपुत्र प्रकरण' संस्कृत का प्राचीन नाटक है। इसमें नौ अंक हैं। इसमें पात्र, 'बुद्धि', 'कीर्ति', और 'धृति' हैं। विदूषक और दुष्ट के पात्र भी सुन्दर हैं। स्वरचित बुद्धचरित्र में, जिसके ७८ अध्याय हैं, इन्होंने यह सिद्ध किया है कि गृहस्थ में भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है तथा इसकी पुष्टि में इन्होंने राजा जनक का उदाहरण दिया है।

कनिष्क के इनको पाटलिपुत्र से लाकर अपनी राजधानी पेशावर में बसाया था और बौद्ध धर्म की चौथी महासभा का उपाध्यक्ष भी बनाया था। इनकी शिक्षा हिन्दू धर्म के अनुसार हुई थी, तत्पश्चात् यह बौद्ध धर्म से प्रभावित हो गये। चीन से 'कुमारजीव', जो कश्मीर में संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करने आये थे, ने चीन वापस जाकर इनकी और नागार्जुन की संस्कृत रचनाओं का चीनी भाषा में अनुवाद करके, बौद्ध-मत का प्रचार किया था।

नागार्जुन

महायान के यह दार्शनिक आचार्य पहली शताब्दी में विदर्भ देश में रहते थे। वे ब्राह्मण से बौद्ध हुए। आपकी लिखी हुई 'मूल-माध्यमिक कारिका' ने विद्वानों को चक्कर में डाल दिया।

आपने शून्यता का अर्थ बताया कि संसार और शून्यता में कोई अन्तर है ही नहीं। शून्यता से ही संसार की सारी चीजें निकली हैं। अतः हर चीज शून्य है। जो कुछ हम देख रहे हैं वह सब शून्य ही तो है। यह बुद्धि की समझ से बाहर है। यह अनुभव की चीज है। वैसे संसार में किसी चीज की सत्ता नहीं, न ही कोई चीज उत्पन्न होती है।

यज्ञों और कर्मकाण्डों की अवहेलना का पाठ बुद्ध ने उपनिषदों से पढ़ा था। किन्तु नागार्जुन को बौद्धमत के मध्यम मार्ग को स्थापित करने का श्रेय प्राप्त हुआ।

आर्यदेव—लंका के राजघराने से आकर नागार्जुन के शिष्य बने। यह नागार्जुन के बाद नालन्दा में माध्यमिकों के आचार्य बने थे।

असङ्ग तथा वसुबन्धु—दोनों भाई योगाचार पद्धति के मुख्य आचार्य थे। वसुबन्धु ने अपनी विद्वत्ता से विक्रमादित्य पर ऐसा प्रभाव डाला कि उन्होंने युवराज बालादित्य का शिक्षक बना दिया।

पांचवी सदी में गांधार से कश्मीर गये। उन्होंने अभिधर्म कोष लिखा जो हीनयान तथा महायान दोनों में आदर की दृष्टि से पढ़ा गया। चीनी भाषा में इस ग्रंथ का अनुवाद भी हुआ। नालन्दा में ह्यूनसाँग ने भी उसका अध्ययन किया। इनके शिष्य गुणप्रभ मथुरा के ब्राह्मण थे। महाराजा हर्ष ने इनसे दीक्षा ली थी।

अध्याय ९

भारतीय कला तथा भारतीय धर्म का पुनरुत्थान

आदिकाल से मनुष्य अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए भाषा क उपयोग करता आया है, किन्तु जब भाषा के द्वारा अनुभूति की तीव्रता की अभिव्यक्ति पूर्णतया नहीं हो सकती तो उसकी अभिव्यंजना कला को जन्म देती है। शब्द तो विचारों के वाहक होते हैं और कला भावना की वाहिका होती है। यदि ज्ञान में मस्तिष्क की प्रधानता रहती है, तो कला में हृदय की।

इस प्रकार कला-निर्माण की प्रेरणा आत्मोप के लिए तो अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए होती है। फ्रायड के अनुसार 'कला द्वारा मानव की दबी हुई वासनाओं का उन्नयन होता है।' पश्चिम की मान्यता ऐसी रही कि 'कला, कला के लिए' ही है, किन्तु भारतीयों ने कला का जीवन से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। भारत में कला जन-जीवन के अनुभवों का एक चित्र है जीवन के लिए है।

विद्वानों ने बहुत परिश्रम करके भारतीय मूर्ति-कला का इतिहास तैयार किया है। विभिन्न समय की मूर्तियों की रूपरेखा के अध्ययन से सिद्ध हो गया है कि एक समय की मूर्ति का आकार-प्रकार दूसरे समय की मूर्ति के आकार-प्रकार से भिन्न है।

मौर्यकालीन कला

संसार के सर्वप्रथम धर्म-निरपेक्ष, लोककल्याणकारी, मौर्य साम्राज्य में, जो ३२२ से १८५ ई० पूर्व तक रहा, कला की उन्नति हो चुकी थी।

राजमहल—मैगस्थनीज पाटलिपुत्र नगर की सुन्दरता का वर्णन करते हुए चन्द्रगुप्त के लकड़ी के बने महलों की सराहना करते नहीं थकता। फाह्यान तो इनको मनुष्यकृत न मानकर देवताओं द्वारा निर्मित कहता है।

मठों, स्तूपों, विहारों तथा स्तम्भों का निर्माण—अशोक ने भिक्षुओं के रहने के

लिए अनेक मठ विहार बनवाए। उसने हजारों स्तूप भी बनवाए, जिनमें सांची और भरहुत के स्तूप यक्ष-यक्षणियों के अंकन में शृंगारिकता के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं।

शिलालेख तथा स्तम्भ--ये शिलालेख बड़ी-बड़ी चट्टानों पर खुदे हैं। इनके अतिरिक्त स्तम्भों पर भी बुद्ध धर्म की शिक्षाएं अंकित की गयी हैं। उस समय की कारीगरी को देख आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। स्तम्भ का दण्डाकार प्रधान भाग तथा स्तम्भ-शीर्ष एक ही पत्थर से तराशना कोई सरल कार्य नहीं।

सारनाथ के अशोक स्तम्भ का सिंहशीर्ष—सारनाथ के अशोक स्तम्भ का शीर्ष सर्वश्रेष्ठ है। विशाल चार सिंहों के ऊपर स्थापित धर्म-चक्र, बुद्ध के प्रथम प्रवचन का प्रतीक है। यह अब भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय मुहर अथवा चिह्न के रूप में भी स्वीकार कर लिया गया है।

एक दूसरे से पीठ सटाए हुए चार शानदार सिंह, सिंहनाद के प्रतीक तो हैं ही—इसके अतिरिक्त वे बुद्ध की आध्यात्मिक शक्ति तथा अशोक के चतुर्दिक व्यापी पराक्रम के भी प्रतीक हैं। ह्वेनसांग ने इस स्तम्भ का वर्णन यों किया है—"यह प्रस्तर स्तम्भ लगभग सत्तर फीट ऊंचा है। यह पत्थर चमकदार है। यह प्रकाश के समान चमकता और झिलमिलाता है। इसी स्थान पर बुद्ध ने "धम्म चक्क पवत्तन" आरम्भ किया था। इसकी चमकदार पालिश आजकल के इंजीनियरों की समझ से बाहर की चीज बनी हुई है। इतिहासकार विंसेंट स्मिथ लिखते हैं—"संसार के किसी भी देश की प्राचीन पशु-मूर्तियों में इस सुन्दर कृति से उत्कृष्ट या इसके टक्कर की चीज पाना असम्भव है।" और इसी तथ्य को सर जान मार्शल यों प्रकट करते हैं—"प्राचीन जगत् में इस प्रकार की कोई वस्तु नहीं जो इससे बढ़कर हो।"

गुफा मन्दिर

पुरातन काल में अरण्यवासियों द्वारा ठोस चट्टानों को काट कर बनाये गये गुफा मन्दिर, मौर्य युग की कला का परिचय दे रहे हैं। ये गुफा मन्दिर सम्राट् अशोक ने भिक्षुओं के लिए बनवाए थे।

बराबर पहाड़ी की गुफाएं—ये सात-आठ प्राचीन गुफाएं गया, पटना रेलवे लाइन पर बेला स्टेशन से आठ मील पूर्व स्थित हैं—ये बड़े-बड़े कमरों के रूप में बनी है। इनकी दीवारों पर वज्रलेप नामक सुन्दर पालिश की हुई है जैसे कि अशोक के स्तम्भों पर पाई जाती है। मनुष्य अब भी कहीं-कहीं तो अपना चेहरा तक इस में देख सकता है इन गुफाओं पर अशोक ने यह लिखवाया कि इनका निर्माण आजीविक ब्राह्मण साधुओं के निमित्त किया गया है। इन गुफाओं के नाम सुदामा,

लोमश ऋषि, विश्व झोपड़ी, रामाश्रम, गोपी आदि हैं। इनके कारण यहाँ की नागार्जुन पहाड़ी सतघरवा नाम से पुकारी जाती है। निश्चय ही ये गुफाएं ईसा से बहुत पहले की बनी हुई हैं।

स्वपरा खोड़िया गुफाएं—काठियावाड़ जूनागढ़ राज्य में "स्वपरा खोड़िया" नामक गुफाएं भी बहुत ही प्राचीन हैं। इन्हें मठों के रूप में काम में लाया जाता था। 'ऊपर कोट' में दो खण्ड की एक गुफा हैं जिसमें नीचे का दरवाजा १२ फीट ऊंचा है।

बाबाधारा गुफाएं—गिरनार पर्वत पर जाने के लिए वागेश्वरी द्वार पर बाबाधारा नामक गुफाएं हैं। ये गुफाएं भी अशोक के समय की बनी हैं। भग्नावशेषों से मौर्य युग की चित्रकला और निर्माण कला का भी सुन्दर उत्कर्ष देखने को मिलता है।

गांधार शैली—अशोक की भांति कनिष्क भी एक महान् निर्माता था। इसके विशाल साम्राज्य में यवन, पह्लव, शक तथा अन्य जातियां निवास करती थीं, जिसके फलस्वरूप यह कुषाण राज्य कई संस्कृतियों का संगम-स्थल बना। अतः कला पर भी विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार भारतीय तथा यवन-कला के सम्मिश्रण से एक नई शैली का श्रीगणेश हुआ, जो गांधार कला कहलाई, गंधार के नाम से विख्यात प्रदेश में पनपने के कारण भी इसका नाम गांधार शैली रखा गया था। गांधार का मुख्य केन्द्र पेशावर था। सम्राट् कनिष्क द्वारा राज्याश्रय प्राप्त होने से इस कला की शीघ्र ही उन्नति होने लगी। आरम्भ में बुद्ध केवल पथ-प्रदर्शक मात्र थे, अतः उनके चक्र, चरण-चिह्न, बोधि-वृक्ष आदि प्रतीकों की पूजा चली आ रही थी, किन्तु अब महायान धर्म ने बुद्ध को देवतुल्य माना और उनकी मूर्ति पूजा पर बल देकर इस नयी शैली को बढ़ावा दिया। अब जो बुद्ध की मूर्तियां बनायी गयीं वे यूनानियों के ही देवताओं की मूर्तियों जैसी लगती थीं। सभी मूर्तियों की गढ़न संश्लिष्ट है। कोमलता का स्थान अकड़न ने ले रखा है। इन मूर्तियों के भारी वस्त्र, बड़े जूते तथा सजावट की अधिकता ईरानी शक प्रभाव का परिचय दे रहे हैं। इस शैली की मूर्तियां अति सुन्दर व परिमार्जित हैं, परन्तु इनमें आन्तरिक सौन्दर्य का अभाव है। स्पष्ट देखने में आता है कि भारतीय कला यूनानी वेष में आ रही थी। इस शैली का प्रसार प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से पूर्व की ओर बढ़ता-बढ़ता मथुरा होता, अमरावती तक जा पहुंचा। यह शैली ५०० ई० तक खूब फली फूली।

विचित्रता इतनी रही कि भारतीय कला के विकास में गांधार-ग्रीक का प्रभाव सीधे यूनानी और पार्थियाई शासकों द्वारा न आकर उनके अनुयायी शकों और कुषाणों के समय में हुआ। इस शैली का मौर्यकाल से कोई सम्बन्ध न था। अब शुंगकालीन प्रयुक्त काष्ठ की जगह भूरे रंग के तथा काले सलेटी पत्थर ने ले ली थी। इस शैली का एकमात्र विषय बुद्ध के जीवन की व्याख्या ही रहा।

इस युग की कला के नमूने गांधार के अतिरिक्त भरहुत बोधगया, सांची और मथुरा आदि में भी पाये जाते हैं। भरहुत स्तूप के चारों ओर की पत्थर की बाड़ पर दैनिक जीवन के सुन्दर दृश्य अंकित हैं। भरहुत मूर्तियाँ काफी अनगढ़ हैं। पर सांची स्तूप की आकृतियां अधिक सुन्दर परिष्कृत और सुडौल हैं। इनका प्राकृतिक सीधापन सराहनीय है।

मथुरा शैली—मनुष्य जो कुछ भी करता है, उस पर उसके विचारों का प्रभाव अवश्य झलकता है। अतः भारतीय कला पर भी भारतीय दर्शन की छाप पड़नी थी। अध्यात्म-प्रधान भारत में आदिकाल से शरीर को कम और आत्मा को अधिक महत्व दिया जाता रहा। गीता के दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ और चौदहवें अध्याय के गुणातीत मनुष्य के आदर्श को सदैव सामने रखा गया, तभी तो भारतीय कला में आत्मा के गुणों की जितनी अभिव्यंजना हुई है, उतनी शरीर के गुणों की नहीं। शारीरिक अवयवों के साथ न्याय तो किया जाता है पर इनको प्राथमिकता गांधार शैली जैसी नहीं दी जाती। इस प्रकार मथुरा शैली में परम्परा से आ रही, भारतीय शैली पूर्णतया स्वदेशी ही रही। जहाँ इसकी समकालीन गांधार शैली की मूर्तियां (यूनानी देवता) अपोलो जैसी थीं, जिनका सौन्दर्य निस्तेज रहा, वहाँ मथुरा शैली की बुद्ध की मूर्तियों में सौन्दर्य और स्निग्धता, कोमलता और संतुलन का सुन्दर समन्वय है। बुद्ध की ऐसी प्रेरणादायक मूर्तियों से ही मथुरा कला के स्वर्ण युग का आरम्भ हुआ। इस की लाल पत्थर की मूर्तियों की धर्मनिष्ठा के सामने गांधार कला की मूर्तियों के रोमक तत्व फीके रह गये। देह का चित्रण सरल और आत्मिक भावों का चित्रण कठिन रहता है। आत्मिक भावों के चित्रण में भारतीय कलाकार विश्व भर के कलाकारों में अन्यतम हैं। वह कार्य का प्रतिदान नहीं चाहता था। ऐसे निष्ठावान् और साधक कला-शिल्पियों द्वारा बनायी गयी मूर्तियां, क्यों न कला में उत्कृष्ट हों। गांधार कलाकार यथार्थता पर ध्यान रखने से केवल बाह्य सौंदर्य की अभिव्यक्ति कर सका, किन्तु आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करके मथुरा-कला-शिल्पियों ने एक आदर्श की स्थापना की तथा धार्मिक परम्पराओं को बढ़ावा दिया। वह पहले धर्मवेत्ता और दार्शनिक थे और बाद में कलाकार। लोकेषणा से दूर आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति ही उनका परम ध्येय था। इस कला द्वारा भारतीय उपासकों ने अपने इष्ट के मुख की आभा तथा उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति के सुन्दर दर्शन किये। मथुरा में इस युग की कुषाण राजाओं की मूर्तियां खण्डित दशा में मिली हैं, जिनमें कनिष्क के लम्बे कोट और पायजामे में विशाल आकार की मूर्तियां महत्वपूर्ण है। इस प्रकार मथुरा कला का विकास गुप्त काल के आरम्भ तक बराबर होता ही रहा।

अमरावती शैली—दक्षिण भारत में कृष्णा नदी के किनारे अमरावती का संगमरमर का स्तूप सबसे सुन्दर बना था। इसके चारों ओर सीढ़ियां थीं और सबसे

ऊपर पांच स्तम्भ थे। इसमें संगमरमर के पत्थर पर आकृतियां खुदी हुई थीं। इसकी यह कला अपनी उच्च भावना और विचारधारा के लिए कला-क्षेत्र में विशेष स्थान रखती है। इस शैली की कलाभक्ति-भाव से पूर्ण है। बुद्ध की मनुष्य के पूरे कद की खड़ी मूर्तियों से गम्भीरता और वैराग्य की भावना टपक रही है।

गुप्तकाल

गुप्तकाल के शासकों ने भारत को लगभग ५०० साल के विदेशी राज्य से मुक्त कराया। इन सम्राटों का शासनकाल भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग था। भारतीय संस्कृति तथा कला अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। इसका प्रमाण वैसे तो उस समय के अभिलेख, सिक्के, भग्नावशेष और साहित्यिक कृतियां दे ही रही हैं, चीनी यात्री फाह्यान ने भी गुप्तकालीन संस्कृति का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

भारतीय धर्म का पुनरुत्थान—अशोक के समय से ही, बौद्ध धर्म की अहिंसा के कारण देश-रक्षा में शिथिलता आ जाने से, असन्तोष की भावना बढ़ रही थी, जिसके प्रभाव से ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने १८४ ई०पू० में मौर्यों का वध कर ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान किया था। इस पुनर्जागरण काल के लगभग सभी राजाओं ने हिन्दू धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया था। गुप्तवंश के सभी राजे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। इनके राज्य-काल में हिन्दू देवताओं के मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण आरम्भ हुआ। अहिंसावादी होते हुए भी इन राजाओं ने अश्वमेध यज्ञादि करके वैदिक परम्परा को अपनाया। इनके विशेष प्रयत्न से भारतीय धर्म फिर से उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा किन्तु जैन बौद्धादि धर्मों के प्रति भी इनका सहिष्णुता पूर्ण व्यवहार रहा।

तीनों मुख्य धर्मों के एक साथ रहते हुए भी साम्प्रदायिक द्वेष का सर्वथा अभाव रहा। इस पौराणिक हिन्दू धर्म में समन्वय की दृष्टि से उपनिषदों के अनन्त ब्रह्म के तीन रूप अपनाये गये। ब्रह्मा (सृष्टि रचाने वाले) विष्णु (पालनकर्ता) और शिव (संहारकर्ता)। साथ ही सूर्य की उपासना का भी आरम्भ हो गया। मुलतान में सूर्य कुँड मन्दिर की स्थापना इसी काल की मानी जाती है। इसी काल में राम और कृष्ण अवतार के रूप में पूजे जाने लगे और दुर्गा शिव की शक्ति मानी जाने लगी। गणेश और कार्तिकेय की पूजा भी शुरु हो गई। देवताओं की षोडशोपचार पूजा, कीर्तन, व्रत-उपवास, संध्या, उपासनादि जो हम आज के सनातन धर्म में देखते हैं, उसी समय से चली आ रही है। भक्ति का प्रचार तभी से शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के विकास के रूप में जोर पकड़ने लगा। तब से हिन्दुत्व के रक्षक वेद और उपनिषद् कम; रामायण और महाभारत अधिक रहे हैं।

संस्कृत साहित्य की समृद्धि—संस्कृत धीरे-धीरे प्राकृत भाषा का स्थान लेती चली जा रही थी, गुप्त शासकों द्वारा उसने राजभाषा का पद प्राप्त कर लिया। फलस्वरूप इसके साहित्य की असाधारण उन्नति हुई। कालिदास, भारवि, विशाखदत्त, भास तथा शूद्रक आदि अमर कवियों ने इसे समृद्ध किया।

महाकवि कालिदास—महाकवि कालिदास संस्कृत के अद्वितीय कवि तथा नाटककार थे। वे भारतीय साहित्य में ही नहीं प्रत्युत विश्व साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं। अतः 'अभिज्ञान शकुन्तलम्' की जर्मन कवि गेटे ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। मानव प्रकृति की गहराइयों तक इनकी पहुँच थी। इनके शब्द चयन, शैली और उपमायें अपूर्व और अन्यतम हैं। इनकी कविता में लालित्य, रस, माधुर्य, और अलंकार की प्रधानता रही। उज्जैन के एक शैव घराने के इनका जन्म हुआ था। ब्राह्मण होते हुए भी, पहिले यह निरक्षर भट्टाचार्य थे। काली देवी के आशीर्वाद से सरस्वती इनकी जिह्वा पर नाचने लगी ऐसी किंवदन्ती है। अपनी विद्वत्ता के बल बूते पर यह सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में जा पहुँचे। वहाँ इनकी गणना उस समय के नवरत्नों में होने लगी। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। यह नाटककार गीतकार और कवि सब कुछ थे। इनको वेद, दर्शन विशेषतया सांख्य योग का पूरा-पूरा ज्ञान था। यह नाट्यशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा काम-सूत्रादि सभी शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। राजदरबारी होने के नाते व्यवहार में कुशल थे। परन्तु सदा संतुष्ट और नम्र रहे। ये बड़े भ्रमण-प्रिय थे और इन्होंने भारत भर की यात्रा से मातृभूमि के भूगोल का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यही कारण है कि इन्होंने प्रकृति का इतना सूक्ष्म और स्पन्दनशील वर्णन किया है।

रचनायें—'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की कथावस्तु, कालिदास ने महाभारत से ली पर उसको हृदयग्राही रूप देने का श्रेय इनको ही है। पहले दो नाटक 'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशी' लिख चुके थे। इनके 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' दोनों महाकाव्य हैं तथा 'मेघदूत', संस्कृत के गीतिकाव्य का उज्ज्वल नक्षत्र है। इनके दूसरे गीतिकाव्य "ऋतुसंहार" के सम्बन्ध में ऐसी धारणा हो चली है कि इसे इन्होंने सबसे पहले लिखा होगा।

इस काल में संस्कृत में और भी अनेक विख्यात रचनायें हुईं। इनमें विशाखदत्त का "मुद्राराक्षस" भारवि का "किरातार्जुनीयम्" शूद्रक का "मृच्छकटिक" तथा सुबन्धु की "वासवदत्ता" मुख्य हैं। "पंचतन्त्र" भी इसी काल की देन है। इसकी रोचक कथाओं का अनुवाद संसार भर की भाषाओं में हो चुका है।

विज्ञान में उन्नति—आर्यभट्ट गणितज्ञ की "आर्यभट्टीयम्" ग्रंथ की अमूल्य रचना भी विश्व-भर को इसी काल की देन है। इसी ग्रंथ में अंकगणित, बीजगणित, तथा

रेखागणित के सिद्धान्त दिये गये हैं जिनमें दशमलव का सिद्धान्त बड़े महत्व का है। π (पाई) का ठीक-ठीक मानदण्ड ३.१४१६ भी इसी में निर्धारित करने का श्रेय भी इसी आर्यभट्ट को है। इसी काल में आचार्य वराहमिहिर द्वारा ज्योतिष के कई शास्त्र लिखे गये।

अमरसिंह ने 'अमरकोष' की रचना की। यद्यपि रसायनशास्त्र का कोई भी ग्रंथ इस काल का नहीं मिला। तथापि दिल्ली के कुतुबमीनार के पास महरौली में, गुप्त-काल की १६ इंच व्यास की लोहे की, २४ फीट ऊंची, २०० मन वजनी लाट मौजूद है। इसने सबको आश्चर्य में डाल रखा है, कि यह कैसे व किस मसाले से बनायी गयी होगी। इतनी सदियों की धूप तथा वर्षा इस पर कोई असर न कर सकी, क्योंकि इसमें कहीं भी जंग नहीं लगा।

नालंदा में बुद्ध की आठ फीट ऊंची मूर्ति भी इस युग की धातु-कला की उन्नति का प्रमाण है। इस काल में सिक्कों पर नाम व लेख छापने की कला ने भी बहुत उन्नति की।

भारतीय कला की मौलिकता—भारतीय कला का आरम्भ हड़प्पा और मोहनजोदड़ों की सभ्यता के काल से ही हो चुका था। समयानुसार मौर्य काल में भी इसका विकास हुआ। विदेशी प्रभाव ने गांधार कला को जन्म दिया। पर समकालीन मथुरा कला द्वारा स्वदेशी तत्त्वों की रक्षा होती रही। गुप्तकाल की राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक सम्पन्नता ने कला को पनपने का सुन्दर अवसर प्रदान किया। गुप्तकाल में भारतीय कारीगरों की सदियों की निरन्तर साधना सफल हुई। कला में परिपक्वता, स्वाभाविकता तथा अपूर्व सुन्दरता आई। अब यह कला पूर्णतया भारतीय थी और सभी विदेशी प्रभावों से मुक्त होकर मौलिकता प्राप्त कर चुकी थी। शारीरिक सौंदर्य से भी अधिक इस कला की मूर्तियों में ओज, लालित्य, सजीवता एवं आन्तरिक भावों की सहज अभिव्यक्ति है जिनसे पूर्णता को प्राप्त करके भारतीय कला, संसार में सर्वश्रेष्ठ कहलाने लगी। इस कला को अधिक मौलिक बनाने तथा चरमोत्कर्ष तक लाने का श्रेय उस काल की भिन्न धर्मों में समन्वय की प्रवृत्ति तथा नवीन साहित्यिक एवं शास्त्रीय अभिरुचियां और परम्पराओं को है। गुप्तकाल में मानव शरीर की चेतना तथा मानव आत्मा की गरिमा का विलक्षण समन्वय है। कालिदासादि रचित गुप्तकालीन साहित्य के समान गुप्तकला ने भी मानव के शरीरिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रतिमान स्थापित कर दिये। कुषाण-काल के नारी सौंदर्य के उत्तेजक प्रदर्शन का स्थान गुप्तकालीन कला में परिष्कृत संतुलन ने ले लिया। अतः इस समय की मूर्तियां आकर्षक होते हुए भी निर्मल और संयत हैं। इनको भारतीय इतिहास में उच्च स्थान प्राप्त है। इस युग की कला-प्रतिभा विभिन्न स्रोतों के रूप में फूट पड़ी।

उदयगिरि की गुफाएँ

गुप्त काल की वास्तु कला—गुप्त राजाओं के समय में बनी हुई पांचवी शताब्दी ई० की बीस गुफाएँ भिलसा स्टेशन से ४ मील की दूरी पर स्थित हैं। ये सब गुफाएँ प्रायः ब्राह्मण धर्म की हैं। उदयगिरि का पत्थर बलुआ है। इस कारण छोटी-छोटी कोठरियों में मूर्तियां खुदी हैं। पांच नम्बर गुफा में वाराह भगवान् की एक विशाल मूर्ति है। गुफा नम्बर १३ में एक बड़ी मूर्ति शेषशायी विष्णु की है जो गुप्त-काल की शिल्प कला का सुन्दर नमूना है।

अजंता की गुफाओं की चित्रकला—अजंता की पहाड़ी जलगांव स्टेशन के पास है। इसकी घाटी में २१ गुफाएँ हैं। इनका निर्माण काल ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा के बाद की सातवीं शताब्दी तक माना जाता है। इनमें ६, १०, १९ तथा २६ नम्बर की गुफाएँ चैत्य हैं और शेष विहार हैं। इन विहारों में बौद्ध भिक्षु रहते थे और चैत्यों में पूजा करने के लिये इकट्ठे होते थे। इन गुफाओं की दीवारों पर मिट्टी, गोबर, बजरी, भूसा मिलाकर लेप किया जाता था। उसके ऊपर जातक कथाओं के सुन्दर चित्र, देशी रंगों में बनाये जाते थे। ये रंगीन आकर्षक भित्तिचित्र संसार में अद्वितीय हैं। स्त्रियों के आभूषण तथा उनके तरह-तरह के केश-कलाप, हस्त तथा नेत्र मुद्राएं दर्शनीय हैं। आश्चर्य तो यही है कि इनको देखते हुए भी चित्र में किंचित् विकार नहीं आता। बैलों, हाथियों एवं कमलों का चित्रण बड़ा मोहक है।

अजन्ता के चित्रों में भारतीय जीवन के सभी पहलुओं का सुन्दर समावेश है। इनमें भारतीय चित्रकला उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गई है। इनमें करुणा, मित्रता, प्रेम, क्रोध, हर्ष, शोक, निराशा और उत्साह आदि सभी प्रकार के भाव दिखाये गये हैं। इन चित्रों की विविधता से दर्शक स्वयं चित्ररूप बन जाता है।

अजन्ता की कला से मध्य एशिया की कला प्रभावित हुई थी। आज भी इस कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। १, २, ६,१०, १२, १६, १७, १६, २६ नंबर की गुफायें, विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। इनकी चित्रकारी, मूर्तिकारी तथा शिल्पकला विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य हैं। ग्वालियर राज्य के बाघ स्थान पर भी अजन्ता जैसे चित्र मिले हैं।

एलोरा के गुफा मन्दिर—औरंगाबाद से १६ मील दूर एक सुन्दर सड़क पर एलोरा के गुफा-मन्दिर एक ढालू पहाड़ी पर बने हैं। पहिले यहां बारह गुफाएँ बौद्ध सम्प्रदाय की, इनके बाद सत्रह ब्राह्मण धर्म की और अन्त में पांच गुफाएँ जैन धर्म की हैं।

बौद्ध गुफाओं में एक तीन खण्ड का विशाल महल बना है जिसमें महायान सम्प्रदाय की अनेकानेक मूर्तियां पुरुषाकार बनीं हैं। पूजा के स्थान पर प्रत्येक गुफा में एक विशाल बुद्ध मूर्ति बनी है।

हिन्दू गुफाओं में प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर है जो भारत के सम्पूर्ण गुफा मन्दिरों में सर्वश्रेष्ठ है। इस मन्दिर में अधिकतर भगवान् शंकर की अनेक लीलाएँ, दीवार पर कटाव द्वारा उभार कर बनी मूर्तियों में अंकित है। रावण ने कैलाश को उठा रखा है। पार्वती भयत्रस्त है, उनकी सखियां भाग रही हैं, पर शिव अचल है, वह अपने चरणों से कैलाश को दबाकर रावण का प्रयास विफल कर रहे हैं। एक समूचे पहाड़ को छेनियों से तराश कर चार खंड का मन्दिर बना देना बड़ा विलक्षण कार्य है, जिसके चारों तरफ दालान में पौराणिक कथाओं के चित्र बने हैं। रामेश्वर तथा 'सीता की नहानी' इत्यादि प्रसिद्ध गुफाएँ हैं। 'सीता की नहानी' को देखते ही बम्बई की एलीफेंटा गुफाओं का स्मरण हो आता है। जैन गुफाओं में छोटा कैलाश, इन्द्र सभा तथा जगन्नाथ सभी विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

एलीफेंटा की गुफाएं (धारापुरी की गुफाएँ)—ये गुफाएँ बम्बई के समीप, समुद्र में स्थित, एलीफेंटा (धारापुरी) द्वीप में हैं। यहां पहिले एक पत्थर का हाथी था, जिसे देखकर पुर्तगालियों ने इस द्वीप को 'ऐलीफेंटा' का नाम दिया। (अब वह हाथी विक्टोरिया गार्डन में रख दिया गया है)। यहां कुल पांच गुफाएँ हैं जिनमें एक सबसे बड़ी है। इसमें सुन्दर मूर्तिकारी तथा शिल्पकारी दिखती है। प्रायः प्रत्येक गुफा में शिवलिंग स्थापित है। पुर्तगालियों ने तोप चलाकर बहुत-सी मूर्तियां नष्ट कर दी थीं। इन गुफाओं में शंकर भगवान् की लीला के चित्र बने हैं, यथा महायोगी, नटेश्वर, पार्वती परिणय, गंगावतरण, अर्द्धनारीश्वर, पार्वतीमान, कैलाश के नीचे रावण तथा महेश मूर्ति शिव, जिसे त्रिमूर्ति कहते हैं। पौराणिक हिन्दू धर्म की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण इस शिव-महेश्वर की मूर्ति में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की अविभाज्य त्रिमूर्ति की पूजा की जाती है।

मन्दिर निर्माण—गुप्तकाल में बड़े-बड़े नगरों में अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। यह प्रायः ईटों और पत्थरों से बनाये गये। बौद्ध गया तथा नालन्दा का बौद्ध मन्दिर, जबलपुर का विष्णु मन्दिर तथा नागोद का शिव-मन्दिर, मुख्य है। सबसे प्रसिद्ध झांसी जिले के देवगढ़ का दशावतार का पत्थर का मन्दिर है, जिसकी दीवारों पर रामायण और महाभारत की कथायें उत्कीर्ण हैं। यहां के एक विष्णु मन्दिर में शेष-शय्या पर लेटे विष्णु भगवान् की मूर्ति है, जिसमें लक्ष्मी उनके चरणों में बैठी है।

कानपुर के पास बिठूर का मन्दिर भी पुरातन काल से अपनी मूर्तियों की अद्भुत कला के लिये प्रसिद्ध है, यह ईंटों का बना हुआ है।

मूर्तिकला—गुप्तकाल में इस कला के तीन केन्द्र थे। मथुरा में बुद्ध की खड़ी मूर्ति, सारनाथ की पद्मासन् लगाये बुद्ध की तथा पाटलिपुत्र की ताम्र की अनुपम बुद्ध-मूर्ति, इन्हीं केन्द्रों का प्रतिनिधित्व करती है।

इस काल की मूर्तियां शारीरिक सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक भावना का सुन्दर समन्वय है। इस युग में बुद्ध की मूर्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वों की तथा हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियां भी बनाई गई। काशी के समीप एक टीले से गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति मिली है। यह अब सारनाथ के संग्रहालय में रखी हुई है। कौशांबी की सूर्य मूर्ति बहुत ही सुन्दर है। मोर की सवारी पर कार्तिकेय (भगवान् शिव के छोटे पुत्र) की मूर्ति काशी के कला भवन में रखी है। भगवान् शिव की तो अनेक मूर्तियां मिली हैं। इस युग की जैन मूर्तियां भी बहुत मिली हैं। मथुरा केन्द्र वाली मूर्ति में महावीर ध्यानमग्न हैं।

मृण्मूर्तिकला—इन सबके अतिरिक्त मिट्टी की भी बौद्ध और हिन्दू देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियां सारनाथ, मथुरा, राजघाटादि स्थानों पर मिली हैं—जो सुन्दरता में पत्थर की मूर्तियों के समान ही हैं। इस कला में भी खूब उन्नति हो चुकी थी। साधारण लोग इन मिट्टी की मूर्तियों द्वारा ही अपनी भावनाओं की पूर्ति कर लेते थे।

भारतीय कला का प्रसार—भारत में कला, धर्म की सहगामिनी रही है, तभी तो जब भारतीय धर्म प्रचारार्थ, लंका, ब्रह्मा तथा पूर्वद्वीप समूह में गये तो उन देशों की कला भी अनुप्राणित हुई। उनके मन्दिर, विहार और मूर्तियों आदि सभी पर भारतीयता की छाप पड़ी।

संगीत कला

संगीत कला का स्थान—संगीत कला ललित कलाओं में से एक होने पर भी अपनी विशेषताओं के कारण सर्वोपरि मानी जाती है। भले ही साहित्य-कला नृत्य, मूर्ति तथा चित्र कलाओं से भावों को शब्दों द्वारा स्पष्ट प्रकट कर सकने के कारण श्रेष्ठ हो। इसके रसास्वादन के लिये किसी भाषा-विशेष का यथोचित ज्ञान अत्यावश्यक है ही, क्योंकि बिना उस के किसी भी साहित्य रचना से लाभान्वित नहीं हुआ जा सकता। इस त्रुटि की पूर्ति केवल मात्र संगीत-कला होती है। इस कथन में लेश मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं। यद्यपि संगीत का विशेषज्ञ उसे शास्त्रोक्त या वैज्ञानिक ढंग से व्यक्त कर सकता है तथापि यही व्यक्ति श्रोता के रूप में उसका विशेष रसास्वादन भी कर सकता है, किन्तु संगीत शास्त्र का विधिवत् ज्ञान न रहने पर भी कोई व्यक्ति गायक अथवा श्रोता के रूप में उसका यथोचित रसास्वादन कर सकता है। यह विशेषता केवल मात्र संगीत कला में ही है। इससे मूक पशु, महकते पुष्प, लहराती लहरियां तक प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होती हैं।

भारतीय संगीत—अनादि काल से भारत में संगीत की परम्परा चली आ रही है। इहलौकिक संगीत की परम्परा भारत का सामवेद इससे जोड़ देता है।

सामवेद के आधार पर स्वरों की गणना सात तक बढ़ा ली गई। इन्हों के आधार पर 'जाति-गायन' प्रचलित हुए। तत्पश्चात् समयानुसार राग का आविष्कार हुआ और उसके अन्तर्गत छह राग और छत्तीस रागिनियां प्रचार में आई। कालान्तर में इन्हें निराधार समझते हुए दक्षिण के पंडित व्यङ्कटमखी ने सात स्वरों से ७२ मेल निर्मित किये, जिसके फलस्वरूप छह राग छत्तीस रागनियां लुप्तप्राय हो गये। अब तो यह राग संख्या में अनेक हो गये जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के गीत गाये जाने लगे हैं। शब्दों के अर्थ के भाव की निष्पत्ति करने में संगीत सहायक होता है किन्तु स्वर मात्रा का अपना अनूठा प्रभाव रहता है जिसकी समुचित साधना द्वारा चमत्कार सम्भव है, जिसकी पुष्टि विश्वविख्यात तानसेन आदि गायकों से हो जाती है। स्वर के वैज्ञानिक प्रयोग आज भी सफल हो रहे हैं। इस उन्नति का श्रेय श्री विष्णु दिगम्बर तथा भातखण्डे जैसे अथक परिश्रमी गायनाचार्यों को है।

राग भले ही मनुष्य मात्र की प्रकृति का महत्त्वपूर्ण भाग हो किन्तु राग में आनन्द की चरम सीमा तक रस पान करने का सौभाग्य भारत को ही अपने स्वर्ण-युग से मिल रहा है।

नृत्य कला

चित्रकला ने यदि किसी आकृति, सुन्दर दृश्य या वस्तु को कपड़े, लकड़ी अथवा पत्थर पर उतारा, तो मूर्तिकला ने उस में गोलाई, मोटाई, लम्बाई, चौड़ाई, आदि भर कर इन्हें यथार्थता के समीप ला कर खड़ा कर दिया, किन्तु गतिहीनता, का स्थान जो बराबर बनी रही, उस स्फूर्ति को दिलाने का श्रेय नृत्य कला को ही प्राप्त हुआ।

भरत नाट्यम्—भरत नाट्यम् के मुख्य अंग नृत्य में केवल टांगों की हलचलें नहीं होती। न ही केवल ऊंगलियों अथवा नेत्रों द्वारा ही भाव इंगित करने पर संतोष किया जाता है। इस विकसित विद्या में तो मानव शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों द्वारा अनेक प्रकार की गम्भीर भावनाओं को सुन्दरतया अभिव्यक्त किया जाता है। शारीरिक अवयवों में मानसिक रहस्यों को उपयुक्त हाव-भाव द्वारा प्रकट करके रस-निष्पत्ति कराने की होड़ सी लग जाती है।

केवल सिर की १३ स्थितियां
नेत्रों की ३६ स्थितियां
ग्रीवा की ९ स्थितियां
हाथों की ३७ स्थितियां
और सम्पूर्ण शरीर की १० स्थितियां।

रहती है जो मन को लुभा लेती हैं। इन सब की सहायता से कहानियों की कहानियां अकेले नृत्य द्वारा दर्शाई जाती हैं। अकेले हस्त मुद्राओं द्वारा पशु-पक्षियों की आकृतियों तथा भावों का पूर्ण बोध मनोहर चाल-ढाल से कराया जाता है। चिरकाल से भारत में यह विद्या अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी है।

इस भाव प्रधान पद्धति में लावण्य का बाहुल्य है।

कथकलि—उद्गम स्थान। मालाबार—केरल प्रदेश।

यह पारम्परिक पद्धति अपने में पूर्ण है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें नृत्य का प्रदर्शन-मात्र न रह कर लम्बी-लम्बी कहानियों को मुद्राओं द्वारा नृत्य-नाटक रूप में स्पष्टतया दर्शाया जाता है।

मणिपुरी—उद्गम स्थान—मणिपुर।

इस पद्धति में भावों की मृदुलता पर बल दिया जाता है। इसकी वेष-भूषा की चकाचौंध अति मोहक रहती है।

कत्थक—उद्गम स्थान—उत्तर भारत।

यद्यपि इस पद्धति में भी भरत नाट्य आदि नृत्यों की भरमार रहती है और वैसे ही भावों का प्रदर्शन किया जाता है किन्तु इस की विशेषता इस पद्धति की लय-प्रधानता में निहित है। उस की चमत्कारिता ही इस की विधि है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ललित कलाओं का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं रहा जिसमें भारत जगत् भर से बाजी न ले गया हो।

श्री उदयशंकर भट्ट की नवीन आधुनिक पद्धति में इन चारों पद्धतियों का मनोहर मिश्रण है जिस की पूर्व के तथा पश्चिम के कला-प्रेमी मुक्त कंठ से सराहना करते थकते नहीं।

अध्याय १०

विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार

प्रचीन काल से भारत के विदेशों के साथ सांस्कृतिक, व्यापारिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध चले आ रहे हैं, जिनकी चर्चा यथास्थान "संस्कृति" तथा सिन्धु घाटी की सभ्यता एवं संस्कृति के अध्यायों में की जा चुकी है। सिकन्दर के आक्रमण से पश्चिम के साथ पारस्परिक सम्बन्ध और बढ़े। अशोक और कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये यहां से अनेक प्रचारक को पूर्वी व पश्चिमी देशों में भेजा। अपने सद्व्यवहार से उन्होंने उन देशों के निवासियों के हृदय पर शासन किया जिसके फलस्वरूप उनसे हमारे सांस्कृतिक सम्बन्ध दृढ़ होते गये। कुछ देशों ने तो भारत को जगद्गुरु का मान दिया और अनेक ने अपना नेता माना।

मौर्योत्तर काल में भारत में पुनरुत्थान की कामना जागृत हुई। जातियां जब जगती हैं तो उनका भौगोलिक विस्तार भी होता है। फलस्वरूप बृहत्तर भारत की नींव पड़ी और मलाया, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो तथा चीन में भारतीय सभ्यता का प्रचार हुआ। भारतवासियों ने वहाँ अपने उपनिवेश बनाए।

भारत के कश्यप मतंग ने चीन में सबसे पहले बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इस दिशा में कुमारजीव के सराहनीय कार्य की चर्चा यथास्थान की जा चुकी है।

चीन—'बुद्धयश' तथा गुणवर्मनादि भी कश्मीर से वहां जा पहुँचे जिसके फलस्वरूप चीनियों में, मूल-स्थान पहुँचकर आध्यात्मिक निधि को ले जाने की इच्छा इतनी बढ़ी कि वे यात्रा की कठिनाइयों को झेल कर, प्राणों को संकट में डालकर यहाँ आए। फाह्यान, ह्वेनसांग और इत्सिग आदि का भारत में तब जो स्वागत हुआ उससे पारस्परिक प्रेम इतना बढ़ा कि बाद में जब भारतीय चीन पहुंचे, तो उन्होंने वहाँ अपनी पृथक् बस्तियां बना लीं। बौद्ध धर्म के साथ साथ भारतीय सभ्यता का प्रचार मंगोलिया, साईबेरिया, कोरिया और जापान मे फैला। भारतीय कला के प्रभाव की गाथा चीन के पगोडा अब भी गा रहे हैं।

मध्य एशिया—खुत्तन में अशोक ने प्रचारक भेजे थे, तब से यह प्रचार का बड़ा केन्द्र बन गया था। इसी केन्द्र से बौद्ध धर्म चीन पहुंचा। वहाँ की खुदाइयों से भारतीय सिक्के और देवताओं की मूर्तियों के भग्नावशेष भी मिले हैं। सर आरेलस्टीन की १६०८ की रिपोर्ट के अनुसार मध्य एशिया में भारतीयों की बस्तियां थीं, जिनका उस देश के निवासियों के धर्म तथा भाषा पर बहुत प्रभाव पड़ा दिखाई देता है।

तिब्बत—तिब्बत से कई जिज्ञासु नालन्दा तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों में आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। यही कारण है कि आक्रमणकारियों द्वारा इन विश्वविद्यालयों की अमूल्य निधि के नष्ट किये जाने पर भी आज तिब्बती साहित्य बौद्ध दर्शन पर इतना प्रकाश डाल रहा है कि सब लाभान्वित हो रहे हैं। यहाँ के राजा 'सांगचन गम्पो' ने विशेष प्रयत्नों से भारतीय लिपि के आधार पर तिब्बत की वर्णमाला की आवश्यकता पूर्ण की।

तिब्बत राज्य के निमन्त्रण पर नालन्दा के ७५ वर्षीय आचार्य शान्तरक्षित जी ने ७४७ ई० में वहाँ पहुँच कर "समये" नामक पहला विहार बनवाया, जिसमें सर्वप्रथम कुछ तिब्बतियों को भिक्षुओं के रूप में रखा। उसी आठवीं शताब्दी में कश्मीर के पद्मसंभव के प्रयत्नों से यहाँ महायान की तान्त्रिक शाखा का प्रचार हुआ, जिसके फलस्वरूप लामावाद की नींव पड़ी। तिब्बत से बर्बरतापूर्ण असभ्यता को मिटाने तथा इसे सांस्कृतिक उन्नति के पथ पर लाने का श्रेय भारत को ही है। यह शुभ कार्य वहाँ भारतीय बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद करने से सम्पन्न हो सका।

भारतीय उपनिवेश—श्रीलंका (सीलोन)—बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ यहाँ सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र 'महेन्द्र' तथा बेटी 'संघमित्रा' को भेजा था। इन्होंने गया से बोधिवृक्ष की एक शाखा ले जाकर लंका में लगाई थी। वैसे वहाँ ईसा से ५०० साल पहले से भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो जाने का पता चलता है। वहां बौद्धधर्म का स्वागत तो हुआ ही, साथ ही भारतीय संस्कृति तथा पाली लिपि का भी गहरा प्रभाव पड़ा। भारत से वापसी पर फाह्यान भी श्रीलंका से होता हुआ गया था। उसने इसकी अनुराधा नगरी के वैभव की सराहना की। आज भी श्रद्धापूर्वक बौद्ध स्थानों के दर्शन करने के लिये वहाँ से अनेक यात्री भारत आया करते हैं।

बर्मा—'ब्रह्मदेश' के नाम में भी भारतीय प्रभाव झलक रहा है। अशोक ने यहाँ भी भिक्षु बौद्ध धर्म प्रचारार्थ भेजे थे। फिर पाँचवीं शती में लंका से एक भिक्षु बुद्धघोष ने आकर यहां हीनयान का प्रचार किया था। यहाँ संस्कृत लिपि में अनेक शिलालेख मिले हैं। इसके अराकान भाग में जो हिन्दू राज्य स्थापित हुआ था, उसकी राजधानी वैशाली थी। सन् १९३७ तक भारत और बर्मा एक ही ब्रिटिश गवर्नर जनरल के अधीन थे। इनके पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता का प्रमाण, भारत व

स्वतंत्रता के बाद दिल्ली में होने वाले एशियाई सम्मेलन में पधारने वाले बर्मी प्रति निधि मंडल के नेता श्री जस्टिस क्यावमिंट के कथन से हो रहा है —"मैं तो विदेश नहीं अपने ही घर आया हूँ। हम संस्कृति के केन्द्र से सम्बद्ध हैं। हम विचार में भारत के समीप हैं, भूगोल में समीप हैं, समाज और संस्कृति में समीप हैं।"

स्याम (थाईलैंड)—स्याम तीसरी शताब्दी में भारत का उपनिवेश बना और १२वीं शताब्दी तक भारत के अधीन रहा। बाद में यह देश थाई-जाति के अधिकार में आ गया। स्याम की सभ्यता भारतीय संस्कृति से बहुत प्रभावित हुई। इसकी लिपि पर पाली का प्रभाव प्रत्यक्ष दीखता है। स्यामियों में कई रीति-रिवाज अब भी भारतीयों जैसे हैं। दशहरा भी धूम-धाम से मनाया जाता है। बौद्ध देश हुए भी यह राम का देश है। थाई जीवन में राम और रामायण की लोकप्रियता की जड़ें बहुत ही गहरी हैं। भारतीय अब भी वहाँ बसे हुए हैं वे भारत में आते जाते हैं। आजकल भी अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या को वहाँ कई विद्यालयों में छुट्टी रहती है। बसों पर यात्रियों को जो टिकट मिलते हैं, उन पर राम की मनोहर छवि रहती है।

थाई-रामायण का नाम "रामकियेन" है, जिसका अर्थ होता है "रामकीर्ति"। आज के नरेश 'भूमिबल अतुल तेज' भी अपने नाम के साथ परम्परानुसार 'राम' लगाते हैं। प्रत्येक थाईवासी की यही धारणा है कि रामायण उनकी है। थाईलैण्ड में अयोध्या और लोपपुरी (लवपुरी) नगरियां भी हैं। बैंकाक एक प्रसिद्ध मन्दिर की दीवारों पर "राम" के जीवन की विभिन्न झांकियां चित्रित हैं।

हिन्द चीन—(क) वियतनाम—भारतीयों ने दो राज्य स्थापित किये थे—चम्पा और कम्बोज (कम्बोडिया)। चम्पा में अनाम शामिल था। अमरावती उसकी राजधानी रही। इसके पहले भारतीय राजा का नाम 'श्रीमार' था। इस देश का लगभग १३०० वर्ष तक भारत से सम्बन्ध रहा। यहां आदिवासी पूर्णतया भारतीय बन गये थे। शिव, शक्ति, गणेश और स्कन्द इनके देवता रहे हैं। साथ ही साथ विष्णु, कृष्ण और बुद्ध की पूजा भी चलती रही।

(ख) कम्बोडिया—पहले तीसरी से ७वीं शताब्दी तक यहां फूनान का हिन्दु राज्य रहा, तत्पश्चात् कुम्बज राज की नींव पड़ी। यहां के निवासियों के विश्वास के अनुसार इस प्रदेश का नाम, भारत के एक ब्राह्मण कौंडिण्य के नाम पर पड़ा जिसने यहाँ की एक नाग-कन्या के साथ विवाह किया और अपना राज्य स्थापित किया। इसके बाद यहां 'जयवर्मन,' 'यशोवर्मन' तथा 'सूर्यवर्मन' आदि राजा, विजेता पण्डित और प्रसिद्ध शासक हुए। यहां के अन्तिम शासक ने फांसीसियों के समक्ष आत्म-समर्पण किया था। इसके प्रसिद्ध अंगकोर मन्दिरों की दीवारों के पत्थरों पर रामायण के दृश्य उत्कीर्ण हैं। इसी प्रकार लाओस के कुछ मन्दिरों पर भी राम-कथा के दृश्य खुदे हुए हैं।

मलय—यहाँ पर कलिंग के महाराजा शैलेन्द्र ने राज्य स्थापित किया था जो सुमात्रा, जावा, बाली और बोर्नियो तक फैला था और ग्यारहवीं शताब्दी तक चला। उसके संरक्षण में यहाँ महायान का बहुत प्रचार हुआ। यह मुस्लिम देश अब भी राम भक्ति में किसी से पीछे नहीं। मलय-रामायण का नाम है—हिकायत सिरीरामा। आजकल भी सांस्कृतिक सम्मेलनों में रामायण की घटनाओं का अभिनय किया जाता है। यहाँ की अभिनय कला बहुत विकसित है। यहाँ के नौसेना के एडमिरल को 'लक्ष्मण' कहते हैं। इस देश में बहुत से भग्नावशेषों से पता चलता है कि प्राचीन काल में यहां भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रचार रहा है।

इण्डोनेशिया—इण्डोनेशिया यूनानी शब्द है—जिसका अर्थ है 'भारत-द्वीप'। इसके अन्तर्गत कितने ही द्वीप हैं जिनमें जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि प्रधान हैं। प्राचीन काल में ये द्वीप भारत के अंग माने जाते थे। आजकल भले ही यह मुस्लिम देश है, किन्तु भारतीय संस्कृति वहाँ छाई हुई है। इसके भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० सुकर्णो का नाम भारत के वीर कर्ण पर है। डा० सुकर्णो के शब्दों में देखिये "भारत देश और भारत की जनता प्राचीन काल से ही हमारे साथ रक्त और संस्कृति दोनों ही सूत्रों से बंधी हुई है। इण्डिया नाम को एक क्षण के लिये भी भूलना हमारे लिये असम्भव है क्योंकि यही इन्डो शब्द हमारे देश के नाम का प्रथमार्द्ध है।

जावा (यवद्वीप)—सम्भवतः दूसरी शताब्दी में कलिंग निवासी यहाँ आकर बसे और हिन्दू राज्य की स्थापना की। यहाँ के लोग तो ऐसा कहते हैं कि भारत से पराशर तथा व्यास ने यहाँ बस्तियाँ बसाई थी। शैलेन्द्र वंश के संरक्षण में बरोबुदुर जैसे मन्दिर यहां बने जिसे बुद्ध की ४३२ मूर्तियां हैं जो जावा-कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। इन पर गुप्त कला का प्रभाव झलकता है बोरोबुदुर का बौद्ध-स्तूप संसार भर में सबसे सुन्दर माना जाता है। इसकी कला में संतुलन और स्पष्टता के साथ-साथ सौन्दर्य और भक्ति भावना भी है। जावा के 'ज़ोग-जकार्ता' में जिस का संस्कृत में शुद्ध रूप 'योग्य-कर्ता' है। राम-सम्बन्धी नृत्य-नाटक संसार भर में प्रसिद्ध है। इस नगर के समीप 'परम-वनन' के मन्दिर के प्रस्तर भित्तियों पर सम्पूर्ण रामायण उत्कीर्ण है। यहाँ के लोग राम को अपना महापुरुष या राष्ट्रीय पुरुष मानते हैं। यहाँ यत्र-तत्र रामलीला होती है। वह इस लीला को ही देश की कला मानते हैं, उनको अपनी इस सांस्कृतिक धरोहर पर बड़ा मान है।

सुमात्रा—इण्डोनेशिया के द्वीपों में सुमात्रा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हिन्दू राज्य की स्थापना चौथी शताब्दी में हो गई थी। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार इसकी राजधानी श्री विजय, धर्म ज्ञान तथा संस्कृति का केन्द्र थी, जिसे आजकल पलेमबंग कहते हैं। यहीं उसने सात साल रहकर संस्कृत के शास्त्रों के स्वाध्याय के साथ-साथ पाली का भी अध्ययन किया।

वाली द्वीप—इण्डोनेशिया के अन्य द्वीपों से ही कहीं अधिक भारतीय धर्म यहां अब भी जीवितावस्था में है। चीनी कहते हैं कि यहां के कौन्डिण्य वंशी भारतीय राजा ने अपना दूत चीन के सम्राट् के पास भेजा था। यहां चौथी शताब्दी में हिन्दू राज्य स्थापित हुआ था और दशवीं में जावा ने इस पर अपना अधिकार जमाया। बाद में १८३९ में यह द्वीप हालैण्ड के संरक्षण में आ गया। १९११ में इस हिन्दू राज्य का अन्त हुआ। रामायण का प्रचार वाली में विशेष रूप से हुआ। यह राम कथा से पूर्णतया आप्लावित है।

बोर्नियो (वारुणी)—बोर्नियो अपने द्वीप-समूह का सबसे बड़ा द्वीप है। इस द्वीप में हिन्दू राज्य की स्थापना पहली शताब्दी में हो गयी थी। यहां से अगस्त्य शिव, गणेश, ब्रह्मा, स्कन्द आदि की बहुत सी मूर्तियाँ हिन्दू मन्दिरों में मिली हैं। इसके अतिरिक्त ४०० ईस्वी के चार शिलालेख भी मिले हैं, जिनमें 'मूलवर्मन' की कीर्ति का यशगान है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईसवी सन् के आरम्भ में यहाँ हिन्दू राज्य स्थापित हो चुका था। यह सब भारतीय संस्कृति के जीते जागते प्रमाण हैं।

उपनिवेशों पर भारतीय प्रभाव—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक भारतीय धर्म-प्रचार की सद्भावना तथा व्यापार की तीव्र इच्छा से ही प्रेरित होकर प्रथम शताब्दी ई० से दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के अल्प-सभ्य निवासियों में जा उसे और कभी-कभी वहां राज्य भी स्थापित किया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियों, आचारों, विचारों तथा व्यवहारों का अद्भुत सम्मेलन कई शताब्दियों तक चला जिस की मुख्य विशेषता यह रही कि इस संस्कृति के प्रसार में कहीं भी आर्थिक शोषण, बल प्रयोग या हिंसा को लेशमात्र स्थान न मिला। अपितु यही उद्देश्य रहा कि पिछड़ी जातियों को धर्म और संस्कृति के उच्चतम स्तर तक दया, प्रेम तथा सहानुभूति के द्वारा लाया जाये।

भारत की ऐसी सांस्कृतिक विजय से अधिक शान्तिपूर्ण हितकर विजय का दूसरा उदाहरण विश्व-इतिहास में कहीं भी नहीं मिलता। उस समय संसार बर्बरतापूर्ण कृत्यों में डूबा हुआ था। भला भारत सर्वरूपेण समृद्धि सम्पन्न होते हुए किसी भी प्रकार के अभाव का भास कैसे करता? भारतीय उपनिवेशवाद का आधार-स्तम्भ था **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की शुद्ध निर्मल भावना। तभी तो भविष्य में राज्यों की उथल-पुथल के होते हुए भी बोरोबुदुर और अंगकोरवट की अलौकिक कला भारत का यशगान करती रहेगी।

११वीं शताब्दी के बाद बृहत्तर भारत का मूल स्रोत भारत जब स्वयं परतंत्र होने के बाद सूख गया तो हमारे सम्बन्ध दक्षिण-पूर्व से समाप्त हो गये और स्थानीय संस्कृति के तत्त्व इन उपनिवेशों में उभरने लगे। भारत में इस्लाम अपनी विजय प्राप्त करके इन द्वीपों पर भी छा गया।

अध्याय ११

राजपूत-युग

विदेशी तत्त्वों का भारतीय समाज में मिश्रण

भारतीय इतिहास के मध्यकाल का आरम्भ—संसार में बहुधा देखा जाता कि जो ऊंचा चढ़ता है, वह गिरता भी है। गुप्तवंश के स्वर्ण युग के बाद, भारत े भी अवनति का मुँह देखना पड़ा। भारतीय इतिहास के मध्यकाल के (६५० १५५०ई० तक) पूर्व से ही जो अराजकता फैली, उसे महाराजा 'हर्षवर्धन' भी कने में असमर्थ रहे। अब भारत छोटे-छोटे असंख्य रजवाड़ों में बंट चुका था। देश शा का उत्तरदायित्व संभालने को कोई केन्द्रीय संघ था ही नहीं। हूणों के बाद गभग ५०० वर्षों तक सीमा पर से कोई आक्रमण न होने के कारण कर्मशीलता का ान अहम्मन्यता ने ले लिया था। समाज में गतिहीनता के आ जाने से विकास वरुद्ध हो गया था। ६४७ में 'हर्ष' की मृत्यु हो जाने के उपरान्त ११९२ ई० क का समय, जिनमें राजपूतों का ही प्रभुत्व था, राजपूत-युग कहलाता है, जबकि थ्वीराज चौहान के साथ विश्वासघात करके मुहम्मद गौरी ने दिल्ली में अपना राज्य थापित किया।

राजपूत जातियों की उत्पत्ति : विदेशी आक्रमणकारियों की संतान—विदेशी तिहासकार कर्नल टाड अपने प्रसिद्ध "राजस्थान" ग्रंथ में राजपूतों को हूण, शक, ान, पार्थियों आदि विदेशी आक्रमणकारी योद्धा जातियों की संतान बतलाते हैं। समें संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति को आत्मसात् करने की प्रबल शक्ति ने, जो ो मुसलमानों से पहिले यहां आया, उसे अपना कर यथास्थान बसा लिया। इसके तिरिक्त यह भी सत्य है कि इन जातियों के राज्य नष्ट हो जाने पर भी, कोई इनमें भारत छोड़कर लौटा नहीं। भारतीयों को आक्रमणों का विरोध तो करना ही था, कन्तु उन्होंने संस्कृति का विरोध नहीं किया। यूनानियों को खदेड़ा, किन्तु सन्धि होने र कला का आदान-प्रदान भी हुआ। यहां भारतीयों की सहिष्णुतापूर्ण मूल-धारणा ही रही कि विश्व के सब मनुष्य एक ही परमात्मा की संतान हैं, और इसीलिए

सबको पूरा-पूरा अधिकार है कि वे अपने विचारों के अनुसार भगवान् की पूजा करें, और स्व-इच्छानुसार सांसारिक जीवन बितायें। भारत का सम्पूर्ण इतिहास इस प्रवृत्ति का प्रमाण दे रहा है। बाहर से आने वालों को भारतीयों ने कभी विदेशी समझा ही नहीं। भारत में यूनानी, कुशान, पार्थियनी, शक, हूण, पारसी, मंगोल आदि जातियों का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ। यह सब दूसरी शती० ई० तक भारतीय बन चुके थे। तीसरी शताब्दी में तो भारतीय संस्कृति की प्रबल पाचन-शक्ति ने आंध्र के इक्ष्वाकु राजाओं द्वारा शक कन्याओं के पाणिग्रहण के उदाहरण प्रस्तुत कर दिये। शकों के साथ-साथ हूणों के यहां बस जाने पर उन्हें क्षत्रिय बना लिया गया। इन सबका भारत में भारतीय बनकर ही बस जाना स्वाभाविक था। इन्होंने स्वतः भारत के हिन्दू तथा बौद्ध आदि धर्म अपना कर वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये थे। इन्हीं की वीर संतानों को राजपूतों की संज्ञा दी गई। इस विचार का समर्थन 'ब्रूक्स' तथा 'स्मिथ' भी करते हैं। इसके मतानुसार इन्हीं में छोटी जातियों के लोग अहीर, जाट और गूजर कहलाये।

अग्निकुल राजपूत—पृथ्वीराज चौहान के मन्त्री, सेनापति, राजकवि तथा मित्र 'चन्द्रवरदाई' अपने महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' में राजपूतों को अग्निकुल राजपूत मानते हैं। दूसरी शताब्दी ई० पूर्व के बैक्ट्रियाओं, शकों और कुषाणों से लेकर पांचवी शताब्दी ई० में हूण आक्रमणकारियों से युद्ध करते-करते, क्षत्रिय वर्ग का लगभग लोप हो चुका था। इस विनाश की पुष्टि परशुराम की कथाओं से भी होती है। इनके अनुसार जब देश में कोई शासक ही न रहा, तो आबू पर्वत पर एक विशाल अग्निकुंड रचकर महान् यज्ञ किया गया, जो ४० दिन तक चला। ब्राह्मणों की प्रार्थनाओं के फलस्वरूप उस यज्ञ-कुंड में से चार महान् योद्धाओं का जन्म हुआ, जिन्होंने राजपूतों की चार महान् जातियों मालवा के पामार अथवा पवार, कन्नौज के प्रतिहार अथवा परिहार, अजमेर दिल्ली के चौहान और गुजरात के चालुक्यों की नींव रखीं, इन्होंने ही क्षत्रियों का स्थान ले लिया। श्री राधाकमल मुकर्जी के अनुसार यह कथा कोई कल्पना मात्र न थी।

सूर्यवंशी और चंद्रवंशी—पंजाब के भूतपूर्व प्रोफेसर श्री वेदव्यास जी एडवोकेट, दिल्ली, विनायक वैद्य और पंडित गौरीशंकर ओझा, राजपूतों को विदेशी नहीं मानते। राजपूत स्वयं भी अपने आपको वैदिक काल के सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं और अपना सम्बन्ध भगवान् राम और कृष्ण से सिद्ध करते हैं। भारतीय इतिहासकार इसे स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके शरीर की बनावट, रंग, कद, अग्नि पूजा की प्रथा आदि सभी बातें प्राचीन काल के आर्यों से मिलती हैं।

राजपूती स्वभाव—सभी विद्वान्, राजपूतों के चरित्र के वर्णन में एकमत हैं। राजपूत दृढ़प्रतिज्ञ, साहसी, युद्धप्रिय, स्वामि-भक्त, तथा ईमानदार होते थे। ये

तलवार के धनी थे। युद्ध उनका स्वाभाविक कार्य था। पीठ दिखाना वे जानते ही न थे। आत्मसम्मान की रक्षा के लिये वे सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। छल, कपट वे कभी न करते। अपनी जान पर भले ही आ बने, पर शत्रु के साथ भी वचन निभाते थे, एवं उदारता का व्यवहार करते थे। शरणार्थी को कभी निराश नहीं करते थे, चाहे कितनी भी हानि क्यों न उठानी पड़े।

राजपूत स्त्रियों का स्थान—समय पड़ने पर राजपूत कोमलांगिनियां वीरांगना बन जाती थीं। विपत्ति के समय वे साहस और धीरता का पूरा परिचय देती थीं। वे स्वयंवर के अधिकार का प्रयोग करती थीं। उनका चरित्र ऊंचा और आचरण पवित्र होता था। सतीत्व की रक्षा करने के लिये एवं अपमान से बचने के लिये जौहर प्रथा को श्रेष्ठ समझती थीं। रक्षा-बन्धन का सूत्र अटूट मैत्री एवं प्रेम का प्रतीक था।

पतन— मातृभूमि के रक्षार्थ मर मिटने वाले वीर राजपूत 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श छोड़कर देश को भी केवल अपने राज्य तक सीमित समझते थे। जातीयता की संकुचित भावना देश-रक्षा में बाधक बनी। किसी स्थायी संगठन या संघ का निर्माण न हो पाया। मिथ्याभिमान, परस्पर गृह-कलह एवं वैर-भाव तथा राज्य-विस्तार की लालसा के कारण राजपूत राजा सदा लड़ते झगड़ते रहे। वे अपने समय के विभिन्न राजवंशों के बीच परम्परागत शत्रुता रखने में ही अपना गौरव समझते थे। पतन की पराकाष्ठा यहां तक थी कि वे लोग विदेशी आक्रमणकारियों के हाथों सगे-सम्बन्धी राजा के पिट जाने में आनन्द लेते थे। वे यह भूल जाते कि अगली बार शत्रु की तलवार उनकी ही गर्दन पर होगी। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता तथा रणनीति के अभाव के कारण एक-एक करके प्रायः सभी राजपूत रियासतें अफगानों, पठानों और फिर मुगलों के अधीन होती चली गईं।

धार्मिक स्थिति—इस काल की धार्मिक परिस्थिति को प्रमुखतः दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है—बौद्ध-धर्म की विकृत स्थिति और वैष्णव-धर्म की परम्परागत स्थिति। आदि गुरु श्री शंकराचार्य के विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थों ने जनसाधारण की बौद्ध धर्म से श्रद्धा हटाकर प्राचीन वैदिक धर्म में जमा दी।

उन के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप, भक्ति आन्दोलन जोर पकड़ता गया। राजपूतों में जात-पात की प्रथा में कठोरता बढ़ती गई। पुराण, रामायण और महाभारत इनके धर्म-ग्रंथ थे। व्रत, उत्सव, तीर्थ यात्रा को महत्ता दी जाने लगी। इनके प्रिय देवता भगवान् शिव रहे जिसका परिचय शिव नटराज के तांडव नृत्य की मुद्रा में सुन्दरतम मूर्तियां दे रही हैं। शक्ति-पूजा भी बढ़ती ही चली गई।

राजपूत के काल में कला—राजपूत काल में कला के सभी क्षेत्रों में आशातीत उन्नति हुई। विशेपतया वास्तुकला में भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। मौलिकता पर कम और विशालता पर अधिक बल दिया गया। खजुराहों का कंडरिया महादेव का मन्दिर, भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर और कोणार्क के सूर्य-नारायण के मन्दिरों का भारतीय वास्तुकला में ऊंचा स्थान रहा है।

खजुराहो का मन्दिर – छतरपुर से २७ मील और पन्ना से खजुराहो २५ मील दूर है। इस गांव में कुल मिलाकर तीस मन्दिर हैं जिनमें आठ मन्दिर जैनियों के हैं। सबसे सुप्रसिद्ध मन्दिर 'कंडरिया महादेव' का है। यह मन्दिर १०९ फुट लम्बा ६० फुट चौड़ा और ११६ फुट ऊंचा है। इस मन्दिर का कोई भी भाग ऐसा नहीं, जिसमें पत्थर को काटकर मूर्तियां न बनाई गई हो। इस मन्दिर में कनिंघम ने ८७२ मूर्तियाँ ऐसी गिनी थी जिनकी ऊँचाई दो और तीन फुट के अन्दर थी। छोटी मूर्तियां तो सहस्रों की संख्या में है।

भुवनेश्वर का मन्दिर—दक्षिण में मदुरई तथा उत्तर में काशी के अतिरिक्त कोई और स्थान कदाचित् भारत में ऐसा नहीं. जिसमें इतने अधिक देव-मन्दिर एक साथ विद्यमान हों जितने भुवनेश्वर में है। इन मन्दिरों में मुख्य मन्दिर श्री लिंगराज का है, जिसे राजा 'ललाटेन्दु केशरी' ने ६१७ से ६५७ ई० में बनवाया था। यह १८० फीट ऊंचा है। मन्दिर की बनावट ऐसी है कि उसका कोई भी बाहरी भाग पशु-पक्षी तथा नर-नारियों की बड़ी तथा बारीक मूर्तियों से खाली नहीं है। "गौरी" की प्रतिमा सुन्दर काले पत्थर की बनी है, जो अत्यंत आकर्पक है।

कोणार्क का मन्दिर—कोणार्क का श्री सूर्यनारायण का मन्दिर जगन्नाथपु से २१ मील की दूरी पर समुद्र तट पर बना है। कला की दृष्टि से इस मन्दिर मूर्तियां एशिया में सबसे सुन्दर मानी जाती है। सरकार ने कई लाख रुपये लगाय इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया है।

राजपूतों के चित्तौड़, रणथम्भोर, जोधपुर, ग्वालियर के शानदार किले कला के सुन्दर उदाहरण है जिनकी सराहना कला-प्रिय बाबर ने मुक्त-कंठ से है। इनके अतिरिक्त उनकी नागरिक वास्तु कला का सुन्दर परिचय उदयपुर, जयपु जोधपुर और ग्वालियर के राजमहल दे रहे हैं। पहाड़ियों और झीलों के उपयोग सौन्दर्य और सुरक्षा दोनों का ध्यान रखा गया है।

मूर्तिकला—मन्दिरों की शोभा में सुन्दर मूर्तियों ने चार चांद लगा दिये हैं इन मूर्तियों की विशेपता अद्भुत शुद्धता, कोमलता और मनोवैज्ञानिक प्रतीकात्मकता रही है। इनकी समृद्धि में तत्कालीन तीव्र भक्ति भावना काम कर रही है। धर्म में अपूर्व

निष्ठा और सौन्दर्य-भावना-जन्य अलंकार संयुक्त इस कला की आकर्षक कृतियां संसार में अप्रतिभ हैं। श्री राधाकमल मुकर्जी के अनुसार संसार भर की कला के इतिहास में कहीं पर भी असांसारिकता तथा इन्द्रिय-सुख का ऐसा संयोग प्राप्त नहीं जैसा मध्यकालीन कला के तराशे हुए युगलों में है।

साहित्यिक रचनायें—भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' और 'मालती-माधव' दण्डी का 'दशकुमार चरित', कल्हण की 'राजतरंगिणी', चन्द्रवरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', बाण के 'हर्ष चरित' और 'कादम्बरी', भर्तृहरि के 'नीति, शृंगार वैराग्य-शतक और जयदेव का 'गीतगोविन्द' आदि इसी युग की देन हैं। राजाओं में मुँज, भोज और पृथ्वीराज आदि साहित्य के संरक्षण के लिये प्रसिद्ध हैं। 'हितोपदेश' की रचना भी [illegible] हुई। इस युग में उच्च कोटि की अनेकानेक काव्य रचनाएँ हुई।

———

अध्याय १२

इस्लाम

हजरत मुहम्मद से पूर्व अरब की दशा और प्राकृतिक प्रभाव—हजरत ईसा के उपरान्त लगभग ६०० वर्ष के अन्तर्गत अरब की हालत खराब हो गई थी, तथा निकटवर्ती रोमन राज्य तथा ईरान का भी पतन हो चुका था, इसका मुख्य कारण विलासिता का प्रभाव था। अरब के छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ते रहते थे। अरबी लोग जुआ खेलते और मदिरा पान में रत रहते। सब प्रकार से उनका नैतिक तथा धार्मिक पतन हो गया था। काबा शरीफ में भिन्न-भिन्न कबीलों के अपने-अपने ३६० खुदाओं के बुत थे जिनकी वे पूजा करते थे। स्त्रियों की दशा शोचनीय थी। उनको पुरुष अपनी सम्पत्ति समझते थे। बहुधा बालिकाओं का जन्म होते ही अन्त कर दिया जाता था।

अरब की मरुभूमि में वर्षा नाम को भी नहीं होती। सदा पानी की तलाश रहती। न चाहते हुए भी पानी की कमी पारस्परिक झगड़े का कारण बन जाती। पानी में बचत की दृष्टि से इनको टूटीदार लोटे बनाने पड़े और जल के अभाव में रेत से शुद्धि करना पर्याप्त समझने लगे। भेड़, ऊँट, आदि पशु-पालन से जब जीवन यापन न कर पाते तो लूटमार के धंधों पर उतर आते।

प्राकृतिक सौन्दर्य का वहां सदैव अभाव रहने के कारण, प्रकृति पूजा या संगीत, चित्रकला आदि ललित कलाओं को कोई स्थान न मिला। इस्लाम में इनको घृणित एवं धर्म-विरुद्ध माना गया। बादलों के न रहने से आकाश सदा निर्मल रहता और चन्द्र-दर्शन में कभी भी अड़चन न पड़ती, अतः इस्लाम में सभी काम चांद को देख कर होने लगे।

हजरत मुहम्मद की संक्षिप्त जीवनी—'हम्द' का अर्थ होता है 'प्रशंसा', और 'मुहम्मद' का अर्थ है जिसकी बहुत ही 'प्रशंसा' हो। मुहम्मद साहब का जन्म ५७० ई० में हुआ। इनके मां-बाप मक्का शरीफ के कुरैशी कबीले के थे, जिनको काबा शरीफ के संगे-असवद (काले पत्थर) की पूजा से पर्याप्त आय होती थी। इनके मां-बाप

बाल्यकाल में ही परलोक सिधार गए और इनकी देख-रेख इनके चाचा ने वहन किया। बचपन से ही यह विचारशील तथा एकान्त-प्रिय थे। समझाने-बुझाने पर इन्होंने, उदरपूर्ति हेतु श्रीमती खदीजा नाम की धनवन्ती विधवा के यहां नौकरी कर ली, जिसने इनकी सेवा पर प्रसन्न होकर बाद में इनसे ही शादी कर ली, हालांकि वह पन्द्रह साल इनसे बड़ी थीं। इनका सामान्य गृहस्थ जीवन चालीस साल की आयु तक सुन्दर बीता। अपने सद्व्यवहार से यह सर्वप्रिय हो गये थे, लोगों के श्रद्धा के पात्र बन चुके थे। इनको भी कुरीतियों को दूर करने की चिन्ता रहने लगी।

कहा जाता है कि एक दिन जब ये एक पर्वत की कंदरा में विचारों में मग्न बैठे थे, इनको ईश्वरीय प्रेरणा हुई 'तुम मेरा पैगाम लोगों तक पहुँचाओ और उनको सदुपदेश दो।'

प्रभु आज्ञा का पालन करते हुए आपने खुदा के एक ही होने का तथा मूर्ति-पूजा के बन्द कराने का प्रचार शुरू कर दिया, जिससे आय बन्द हो जाने से अपनी बिरादरी तथा अन्य कबीलों ने विरोध करना ही था। साथ ही उन्होंने इस प्रचार में अपने खुदाओं का अनादर माना था। अतएव उनके अत्याचारों से जब हजरत की जान पर आ बनी तो ६२२ ई० में हजरत साहब को छिपे-छिपे मदीना जाकर शरण लेनी पड़ी। इसी यात्रा को 'हिजरत' की संज्ञा दी गई। तभी से हिजरी सन् चालू है। मदीना में इनका बहुत स्वागत हुआ। वे लोग इनके अनुयायी बन गए और मदीना वालों ने मक्का वालों पर आक्रमण कर दिया। अब हजरत मुहम्मद विजयी होकर लौटे और अपने सद्व्यवहार द्वारा मक्का वालों के हृदय-परिवर्तन में भी सफलता प्राप्त की तबसे प्रचार में प्रगति हो चली।

इस्लाम का अर्थ—इस्लाम का अर्थ है 'खुदा के सामने अपने आपको पूर्णतया अर्पण करना' और 'मनुष्य के साथ शांति और प्रेम का व्यवहार करना'। इस प्रकार उस समय की मांग इस्लाम धर्म के जन्म से ही पूरी हुई।

खुदा—सर मुहम्मद इकबाल के शब्दों में "इस्लाम की शिक्षा में दर्शन कम और नैतिकता अधिक है।" यह बहुत कुछ यहूदी मत पर आधारित है। खुदा-अल्लाह एक है। उसके समान कोई भी नहीं हो सकता। वह सारे विश्व का स्वामी, शक्ति-सम्पन्न एवं प्रतापी है, स्वेच्छाचारी है, जिसके सामने तर्क कुछ महत्त्व नहीं रखता। वह परम दयालु है, न्यायकारी है, निराकार है, सातवें आसमान में उसका सिंहासन लगा है, वैसे अति समीप है, वह प्रसन्न और अप्रसन्न भी होता है। इस्लाम ने इनमें प्रेम कम, भय अधिक दिखाया है।

पैगम्बर, सुन्नत, हदीस—हजरत मुहम्मद उसके संदेशवाहक हैं। अल्लाह और उनके रसूल (दूत) मुहम्मद साहिब पर हर मुस्लिम को ईमान लाना अनिवार्य

है। जो शुभकार्य मुहम्मद साहब ने किया उनका वर्णन सुन्नत ग्रंथ में आता है। जो-जो उपदेश उन्होंने दिए, वे सब इस पवित्र पुस्तक में संकलित हैं।

सृष्टि रचना—'कुन के कहने से किया आलम बया' खुदा ने कहा कि संसार बन जाये, और रचा-रचाया जगत् सामने आ गया, जो रचयिता की तरह सत्य तथा शुभ है।

मनुष्य—मनुष्य बस खुदा की कृपा पर निर्भर है। बंदा खुदा का खौफ माने। वह खुदा की तरफ आंख भी नहीं उठा सकता। एक ही खुदा की संतान होने के कारण सब बराबर हैं। न कोई बड़ा है न कोई छोटा। तभी तो एक ही दस्तरखान पर सब मिल कर भोजन करने में और जुमा (शुक्रवार) को मस्जिद में एक ही पंक्ति में नमाज अदा करने में सवाब (पुण्य) मानते है। मनुष्य का यह जन्म पहिला तथा अन्तिम माना जाता है। मुरदा दफन करने के बाद रूह (आत्मा) कयामत (प्रलय) की प्रतीक्षा करती रहती है। जब पुण्य-पाप का न्याय हो जाता है, तब वह (रूह) सदा के लिये स्वर्ग में या नरक में चली जाती है। स्वर्ग में इन्द्रिय-सुख के सभी साधन चश्मे, फव्वारे, बगीचे, फल तथा हूरें भी मिलती हैं।

कुरान—कुरान का अर्थ है—ऐसा संकलन जो ऊँचे स्वर में पढ़ा जाये, इस्लाम का यह ईश्वरीय ग्रंथ है जिसके अध्यायों में वे सभी संदेश संकलित हैं, जो खुदा ने मुहम्मद साहिब के मुख से, उनकी ध्यानमग्नावस्था में भगवत्प्रेरणा से १३ साल तक मक्का में, और १० साल तक फिर मदीना में निकलवाये। इसकी आयतें सुविधापूर्वक याद हो जाती है, जिनकी तलावत (पाठ) में आनन्द आता है। भाषा अरबी है। मुस्लिम भाई, बालकों की शिक्षा का श्रीगणेश बहुधा इसी से करते आये हैं। कुरान ने हर मुस्लिम के लिए निम्नलिखित पांच कार्य अनिवार्य बताए हैं। अपने हस्ताक्षर भी न कर सकने वाले हजरत मुहम्मद के द्वारा कुरान शरीफ का आकलन इस्लाम में खुदाई करामात (ईश्वरी चमत्कार) माना जाता है।

१. **कलमा**—पढ़ना, इसका जाप करना जो इस्लाम का मूल मन्त्र है।

"ला इलाह इल्लिाह मुहम्मद रसूल अल्लाह" अर्थात् खुदा एक ही है, उसका कोई समान ही नहीं। मुहम्मद उसका रसूल (संदेशवाहक) है।

२. **नमाज**—२४ घंटों में पाँच बार मक्का की ओर मुख करके प्रार्थना करना।

३. **रोजा**—सूर्य के उदय से अस्त होने तक, रमजान मास में निर्जल, निराहार रहना।

४. **जकात**—आय का ढाई प्रतिशत दान करना।

५. **हज**—जीवन में एक बार मक्का मदीना के तीर्थों की यात्रा अवश्य करना।

उपदेश—जीव हत्या मत करो। पशु बलि से जन्नत (स्वर्ग) नहीं मिलेगा। अतः अहंकार को मारो। यही सारी बुराइयों की जड़ है। मनुष्य मात्र की सेवा करो। सूद मत लो। शराब को हराम समझो। सच्चा मुसलमान दूसरे धर्म का आदर करता है। जिहाद, अन्य धर्मावलम्बियों को जबरदस्ती इस्लाम-धर्मों में लाने के लिए नहीं बल्कि अपने धर्म पर पूरा उतरने के लिए, पूरी तरह शक्ति लगाने के लिए है।

हजरत के उपदेश ऊंचे दर्जे के थे। पहले तीन खलीफों के त्यागमय जीवन से जनता पर सुन्दर प्रभाव पड़ा। अरबों का एकबार तो सुधार हो ही गया। इस्लाम धर्म में ईमान (विश्वास) राजनीति तथा सामाजिक जीवन का ऐसा गाढ़ा सम्मिश्रण है कि किसी एक अंग को दूसरे से पृथक् करना नितान्त असम्भव है।

स्त्रियों का स्थान—इस्लाम ने नारी को पुरुष से नीचे का दर्जा दिया और उसे पर्दे में रखने को कहा। इतना जरूर किया कि पुरुष चार पत्नियों तक तभी रखे जब चारों के साथ बराबर व्यवहार कर सके। शादी, नर-नारी में एक प्रकार का समझौता है, जिसे रद्द करने का दोनों को बराबर अधिकार है।

खलाफत शिया तथा सुन्नी सम्प्रदाय—इस्लाम की उत्पति तो धार्मिक कारणों से हुई, किन्तु राज्य-शक्ति भी इसी में केन्द्रित हो चली। अब सेना पर भी अधिकार हो जाने से धर्म-प्रचार में सहायता मिली और धर्म-प्रसार से सैनिक शक्ति को बल मिलता गया। फलस्वरूप मुस्लिम देशों में धर्म-गुरु और राजा एक ही व्यक्ति होने लगा जिसे खलीफा की पदवी दी जाती जिसके लिए आगे चलकर पारस्परिक झगड़े होने लगे। हजरत मुहम्मद साहब के पश्चात् उनके वंश उत्तराधिकारी ही खलीफा बनने चाहिए, ऐसा विचार जिन लोगों का रहा, वे 'शिया' कहलाए और जो इनसे सहमत न थे वे 'सुन्नी'। पहले खलीफा हजरत अबुबक्र, दूसरे हजरत उम्र, और तीसरे हजरत उस्मान चुने गए थे। इन निर्वाचित खलीफाओं को शिया नहीं मानते थे। हजरत मुहम्मद साहिब के अपने चचेरे भाई हजरत अली चौथे खलीफा रहे। जब पांचवें खलीफा के पद के लिए हजरत अली के पुत्र हजरत इमामहुसैन की घोषणा हुई, तो यह सुलगती आग भड़क उठी। उनका, यात्रा में करबला के स्थान पर क्रूरता से वध कर दिया गया। इनकी स्मृति में शिया लोगों द्वारा मुहर्रम के दिनों में शोक मनाया जाता है और ताजिये निकाले जाते हैं।

इस्लाम का प्रसार—इस्लाम ने अरबी देशों की आवश्यकता की पूर्ति की और शीघ्र ही वहां लोकप्रिय हो गया। साथ ही हजरत मुहम्मद साहब तथा उनके पहले तीन योग्य चरित्रवान् खलीफाओं के उपदेशों ने अरबों में नयी जान डाल दी। वे

संगठित होकर इस्लाम के प्रचार में लग गए, जिसके फलस्वरूप अस्सी वर्ष के अन्दर ही, सिंध से स्पेन तक इस धर्म का झंडा फहराने लगा। मिस्र, इरान, तुर्की, सीरिया, साइप्रस, उत्तरी अफ्रीका आदि देशों का शासन भी खलीफाओं ने संभाल लिया। इसके पश्चात् पश्चिम में स्पेन तथा पुर्तगाल पर और पूर्व में अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान पर भी खलीफाओं का अधिकार हो गया।

भारत में प्रवेश—६३६ ई० से भारत के पश्चिमी तट पर अरब से व्यापारी आकर बस रहे थे जिनके प्रभाव में धर्म-परिवर्तन होने लगा। आजकल के मोपला लोग उनकी ही संतान हैं। भारत के राजाओं ने उदारतापूर्वक मुसलमानों को सब प्रकार की सुविधायें दी।

७१२ ई० में खलीफा द्वारा नियुक्त बसरा के हाकिम ने अपने भतीजे मुहम्मद बिन कासिम से भारत में सिंध पर हमला करवाया। हिन्दू राजा दाहिर मारा गया और प्रजा का कत्लेआम तीन दिन तक चला। खलीफा ने कासिम को किसी कारणवश वापिस बुलवाकर उसका वध करवा दिया फलस्वरूप सिंध स्वतंत्र हो गया। फिर लगभग ३०० साल तक इधर किसी ने मुंह न किया।

सूफीवाद—आरम्भ में तो इस्लाम की इतनी ही आज्ञा थी कि केवल खुदा और रसूल पर ईमान लाओ, बुद्धि और तर्क के चक्कर में पड़ना व्यर्थ है, किन्तु जब मुस्लिम जनता जाग ही पड़ी, तो समय पाकर ऐसे विचारक भी उत्पन्न होने लगे, जिनकी प्यास इस्लाम में दर्शन-तत्त्व के अभाव के कारण बुझ न सकी। स्वाभाविक था कि बन्दे और खुदा (जीव और ब्रह्म) के पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान की जिज्ञासा से दार्शनिक तत्त्व का विकास हो। ऐसे चिन्तक, मस्जिदों के सूफों अर्थात् बरामदों में ही पड़े रहने से और पवित्रता के लिए सूफी (ऊनी) टोपी और ऊनी लम्बा कुरता पहनने से सूफी कहलाने लगे।

उद्गम—बीज रूप में कुरान शरीफ में इतना जरूर आया है कि खुदा मनुष्य से प्यार करता है, और वे भी उससे प्रेम करते हैं। यह बात दूसरी है, कि जोर प्यार पर न देकर, खौफे खुदा (ईश्वरीय भय) पर दिया जाता रहा, क्योंकि उस समय उस क्रूरता तथा बर्बरता के समय में, शक्ति और अनुशासन के लिए भय दिखाना ही उचित तथा आवश्यक था।

दूसरे, हजरत मुहम्मद साहब की अपनी जीवनी से इस तथ्य को भी बल मिला कि मनुष्य स्वयं कुछ नहीं करता। उनका अपना कोई ऐसा निश्चय नहीं था कि वे कोई नया धर्म खड़ा करें। खुदा ने ही उनको प्रेरणा दी। उन पर 'हाल' का आलम तारी होता अर्थात् वे भावावेश में आते जिसके फलस्वरूप उनको 'इलहाम' (ईश्वरीय संकल्प) प्राप्त हुए। यह दोनों ही सूफीमत के लक्षण हैं।

बाह्य प्रभाव— इधर भारत में तो वैदिक काल से इस ज्ञान का प्रचार आरम्भ हो चुका था कि जीव ब्रह्म से पृथ्क हो जाने पर मिलने के लिए आतुर है और उसी में पुनः लीन होने को उत्सुक हैं। इसी तत्त्व चिन्तन का प्रचार ईरान, अरब, बलख, बगदाद आदि में फैला, तभी तो 'मौलाना रूम,' 'शेखसादी,' 'उमर खय्याम', 'मन्सूर' और 'हाफिज' आदि ने सूफीमत के ऐसे मौलिक विचारों पर बल दिया, जिससे इसमें निर्भीकता आती गई, यहां तक कि भारत से इराक में लौटकर ६२२ ई० में मन्सूर ने वेदान्त को अपनाते हुए 'अनलहक' (सोऽहं) का 'नारा-ए तौहीद' बुलन्द किया और हंसते-हंसते मौत को गले लगाया, इस विश्वास के साथ कि 'मरने से ही मिलता है पूर्ण परमानन्द' अन्यथा इस्लाम तो रूह और खुदा को एक नहीं मानता।

भारतीय प्रभाव— खुदा और मनुष्य के बीच हज़रत मुहम्मद ने अरब की शुष्क जलवायु से प्रभावित होकर जो कठोरता बरती थी, वह समय पाकर ढीली पड़ गई और भारत की हरयाली में पहुंच कर स्निग्धता, कोमलता तथा सरसता में परिणत हो चली। ईश्वर से भय का स्थान प्रेम ने और वात्सल्य भाव का माधुर्य भाव ने ले लिया, इस प्रकार इस्लाम की भी वही दशा हुई, जो सब देशों और मत-मतान्तरों में परम्परा से होती चली आ रही थीं क्योंकि तत्त्व दर्शन तो हृदयवादी संत ही कर पाते हैं। विद्वान लोग तो अहंकार वश अपने शब्द-जाल में ही रह जाते हैं, जैसा कि निर्भीक संत कबीर ने ललकार कर कह दिया—

तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता हूँ अंखियन देखी॥

भारत में पहुँच कर सूफियों ने भारत से दार्शनिक सिद्धान्त ग्रहण किए। सूफी मत को तभी तो 'भारतीय उपनिषदों के ज्ञान का विशुद्ध इस्लामी अनुवाद' कहा जाता है। यही वेदान्त जहाँ सूफी मत को कट्टर इस्लामवाद से अलग करता है वहां इसे भारत के सन्त-मत के समीप लाता भी है।

प्रोफेसर हुमायूं कबीर ने उचित ही लिखा है कि सूफी मत का आधार कुरान में था किन्तु भारतीय विचारधारा का इस पर अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ा। बाह्य प्रभावों में सबसे बड़ा प्रभाव हिन्दू धर्म और बौद्ध दर्शन से ही आया है जिसकी पुष्टि स्वयं अरब के डाक्टर ताहाहुसैन जी के शब्दों से भी होती है—"यह चीज (तसव्वुफ) पहिले भारत से ही अरब और ईरान पहुंचा और जब ईरान से भारत गया तब वह अपने घर ही लौटा था।"

सूफीमत की मूल धारणाएं

खुदा—ईश्वर निराकार भी है, साकार भी है। उसी में सारा ससार स्थित है और सृष्टि के कण-कण में रमा हुआ है और जैसा कि किसी कवि ने कहा है—

जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।
कि हर शै में जलवा तेरा हूबहू है।।
काबा न सही बुत-खाना ही सही।
हम देख ही लेंगे कहीं न कहीं।।

जगत् ईश्वरमय है। सब चीजों का मूल स्रोत खुदा ही है अर्थात् हमारे हृदय में सभी प्रकार के संकल्प वही उत्पन्न करता है। उसकी मरज़ी के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता।

जो कुछ भी उससे निकला है, उसी में जब तक लीन नहीं हो जाता तब तक तड़पता ही रहता है।

सूफी खुदा की तस्सव्वुर या ईश्वर की कल्पना अपने सनम अथवा प्रियतमा के रूप में करता है उसे सौन्दर्य की साक्षात् मूर्ति मानता है। जैसे जायसी ने 'पद्मावत में पद्मिनी' को माना है।

लाहूत—ईश्वर अनन्त है, उसकी निस्सीमता के गुण को 'लाहूत' कहते हैं। खुदा लामहमूद है अर्थात् ईश्वर की कोई भी सीमा नहीं हो सकती। वह ला-इन्तहा है।

नासूत—बंदा तो महमूद है अर्थात् मनुष्य के गुणों की एक सीमा रहती है, जिसे सूफी 'नासूत' की संज्ञा देते हैं, तभी तो उसकी बुद्धि के घेरे में खुदा का आना नितान्त असम्भव है।

जो समझ में आ गया वह खुदा क्यों कर हुआ।
अक्ल में जो घिर गया लाइन्तहा क्यों कर रहा।।

मनुष्य का चरम लक्ष्य—पहिले मनुष्य की रूह थी बाद में पार्थिव शरीर में कैद हुई। अतः शरीर के नाश होने पर या मरकर ही रूह स्वतंत्र हो सकती है। तभी खुदा की हस्ती में वापस मिल सकती है। ऐसी मौत को गले लगाने में ही संतुष्टि है जैसे परवाने को ज्वाला पर जलने में। यदि प्रियतमा में साक्षात् अलौकिक सुन्दरता है, तो मनुष्य प्रेम का परवाना है। प्रेम-पंथ में तर्क बाधा डालता है। ऐसी मान्यता होती जाती है कि बुद्धि की अपेक्षा मनुष्य की हार्दिक भावना, प्रभु मिलन में अधिक सहायक होती है।

वका—मिलने से पहिले की स्थिति वका कहलाती है। इसी का अन्त वस्ल में होता है।

फ़ना—इसी वस्ल की अवस्था को 'फ़ना' कहा जाता है।

सार—संक्षेपतः सूफ़ी मत में निजात (मुक्ति) प्रेम से प्राप्त होती है और प्रेम सौन्दर्य से उत्पन्न होता है। खुदा पूछता है कि क्या तुमने प्यार किया ? यदि

उत्तर 'न' में रहे तो अल्लाह फरमाते हैं 'जाओ वापिस, जाओ पहिले प्यार करना सीखो।" तभी तो पूर्वाभ्यास के तौर पर इश्क **मजाजी** को इश्क हकीकी की पहली सीढ़ी मानते हैं। प्रेम ही परमात्मा है।

मनुष्य को यदि प्रभु कृपा से प्रेम की प्राप्ति हो जाये तो उसके हृदय-पट्ट खुल जाते हैं, सब संशय दूर हो जाते हैं, पूर्ण प्रकाश हो जाता है और साक्षात्कार की प्राप्ति में प्रगति होती है। एक कवि के शब्दों में—

बका कैसी फना कैसी जो उसके आशना ठहरे।
कभी इस दर से जा निकले, कभी उस दर से जा गुजरे।

प्रेम तत्त्व यथार्थ प्रेम का स्वरूप—भगवत्प्रेमियों का एकमात्र लक्ष्य रहता है भगवत्प्रेम। प्रेम और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं। जैसे वाणी द्वारा परमात्मा का वर्णन असम्भव है वैसे ही प्रेम का भी शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता और जिसका वर्णन हो सके वह प्रेम नहीं। प्रेम तो केवल अनुभव की वस्तु है। प्रेमीजन मौला रहते हैं और दिलों में याद करते हैं। प्रेम का प्रकाश लोगों को तब दिखाई देता है, जब कोई भाग्यवान् महापुरुष तन, मन की सुध भुलाकर उन्मत्त जैसी चेष्टा करने लगता है। तब शरीर के रोम-रोम से प्रेम-प्रकाश की किरणें अपने आप निकलने लगती हैं। ऐसा प्रेम का प्राकट्य साक्षात् भगवान् ही का प्रकाश है जो किसी विरले सन्त में होता है।

'प्रेम' शब्द बड़ा मधुर है और प्रेम का वह स्वरूप मधुरतम है परन्तु त्यागमय होने से पहिले यह है बड़ा ही कटु तलवार की धार से भी तीक्ष्ण। (तभी सूफीमत में मार्ग दर्शन के लिये पीर (गुरु) की अत्यावश्यकता मानी गई है और यह भी कहा गया है कि बेपीरे या निगुरे की गति ही नहीं होती।)

जहर के प्याले में अमृत का स्वाद चखना होता है। इसमें अपने आपको पूर्णतया खो देना होता है। इसी खोने में ही पाना है। तभी इसकी कटुता और तीक्ष्णता सुधा-माधुरी में परिणत होती है। इस प्रेम-पाठ का अधिकार केवल उसे ही है जो अपमान, अत्याचार, भर्त्सना सहन करने में भी सुखी रह सके। दीपक की तरह नित्य जलते रहना और उस जलन में ही अनन्त शान्ति का अनुभव करना यही तो प्रेमोपासना है। वैसे तो प्रेम प्रत्येक जीव को भगवान् ने दे ही रखा है, पर वह विषयानुराग में दृढ़ और मोटे आच्छादन से आवृत्त है। विषयासक्ति, ममता और अहंकार के काले परदे से ढका है। इसी परदे को हटाना खुदी (अहंकार) को मिटाना है। भगवान् के लिए प्राण तड़पते रहे, उसको पाने की प्रबल उत्कंठा बढ़ती ही रहे, उसी पर निर्भरता की भावना में वृद्धि होती रहे और तड़पन ही जीवन का आधार बना रहे। ऐसी सच्ची निष्काम चाह ही वस्तुतः प्रभु मिलन में सफलता का कारण बनती है।

सांसारिक भोगों से अरुचि होने लगती है। यह त्याग किया नहीं जाता, स्वतः हो जाता है। भगवान् के मधुर नाम गाने में आनन्द आने लगता है। तभी सौन्दर्य और प्रेम के बाद इस मत में संगीत की प्रतिष्ठा है, क्योंकि मन को ऊपर उठाने की इसमें शक्ति है।

चार मंजिलें (स्थितियां)—इस प्रेम के अनूठे मार्ग में चार स्थितियाँ रहती हैं।

(क) शरीयत (The Law)
(ख) तरीकत (The Way)
(ग) हकीकत (The Truth)
(घ) मारिफत (Merging in the Absolute)

शरीयत—धार्मिक ग्रंथों के विधिनिषेध के अनुसार जीवन व्यतीत करना शरीयत कहलाता है।

सूफी लोग शुद्ध विचार अथवा मन की शुद्धता पर बल देते हैं।

तरीकत—बाहरी क्रियाओं से ऊपर उठ कर अल्लाह के ध्यान में रत रहने का नाम है। शरीयत के नियम निभाने से मुरीद (साधक) मुरशिद (गुरु) से दीक्षा लेने का अधिकारी बन जाता है।

एकान्त सेवन करते हुए मौन रखते हुए निर्जल व्रतादि के अभ्यास द्वारा मनोजय को प्राप्त करने के प्रयत्न करने पड़ते हैं।

हकीकत—अनुभूति भरे ज्ञान का नाम है। हकीकत के सात सोपान हैं तोबा, जैहद, सब्र, शुक्र, रिज़ा, तवुक्कल और रजा।

मारिफत—अर्थात् परम सत्ता में अवस्थित होने की सिद्धि प्राप्त करना मारिफत है। साधन नहीं, साधक की परम अनुभूति है। अनुभूति-जन्य आनन्द में मग्न रहते हुए वह सुख-दुःख के भास से ऊपर उठ जाते हैं। एकमात्र केवल भगवान् से मतलब है। उसके सिवा और कुछ भाता ही नहीं, यही उच्चतम अवस्था है। इसी को वस्ल कहते हैं। इस वज्द के आलम (प्रेममग्नावस्था) में (साधक) मुरीद अपनी होश खो बैठता है। वह कोई क्रिया करता नहीं, वरन् उसके शरीर द्वारा यन्त्रवत् वे होती ही रहती हैं। प्रेम भी किया नहीं जाता, स्वतः हो जाता है।

सम्प्रदाय—भारत में सूफी मत का प्रचार आरम्भ करने का श्रेय प्रसिद्ध संत 'दाता गंजबख्श' को तथा मुलतान के सरवर 'लाखी दाता' को है। संत दाता गंजबख्श की कब्र पर (लाहौर में) अब तक मेले लगते रहते हैं और सखी सरवर के अनुयायी प्रति वर्ष उनकी महिमा गान करते हुए पश्चिमी पंजाब में शोभा यात्राएं निकालते हैं।

सूफियों के चार सम्प्रदाय—ग्यारहवीं शती के अन्त में यह धर्म गजनी होता

हुआ 'पीर हसन-हुज-हुजिरी' द्वारा भारत में पहुँचा और इसने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के बीच सेतु का काम किया।

१. चिश्ती—सबसे प्रसिद्ध पीर ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) मुहम्मद गोरी की सेना के साथ भारत में आए। इन्होंने दिल्ली में चिश्ती पंथ की स्थापना की। अजमेर इनकी साधना-स्थली रही, वहीं इनका मजार है, जहाँ दूर-दूर से मुस्लिम जनता पहुँच कर अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करती है।

अमीर खुसरो के गुरु शेख निजामुद्दीन औलिया इसी चिश्ती परम्परा में हुए। आपका मकबरा दिल्ली में है।

कहते हैं कि फैजी और अबुलफजल के प्रभाव में आकर सम्राट् अकबर 'अजमेर शरीफ' की जियारत को मीलों पैदल रेत में चलकर पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से वहाँ पहुंचे, जहाँ उन्हें गैबी (दैवी) आवाज़ सुनाई दी कि उनकी परम्परा के शेख सलीम चिश्ती की सेवा में, 'सीकरी' पहुँच कर, प्रार्थना की जाए तो मुराद मिलेगी; और हुआ भी वैसे ही। 'शेख सलीम चिश्ती' की कृपा से अकबर के पुत्र हुआ, जिसका नाम सलीम रक्खा गया। इस सम्प्रदाय में करामात (चमत्कार) का विशेष स्थान है।

इसी सम्प्रदाय के 'बाबा फरीदुद्दीन शक्कर गंज' का जन्म बारहवीं शती के अन्तिम दशक में मुलतान में हुआ। महमूद गजनवी आपके पिता का मामा था। शहाबुद्दीन गोरी के समय काबुल से आकर यह घराना पहले लाहौर में बसा, वहाँ से कसूर होते मुलतान पहुँच गया। 'बाबा फरीद' ने बाल्यावस्था में ही कुरान कंठस्थ कर ली थी। उनकी प्रेरणादायक वाणियों को 'श्री गुरु ग्रंथ साहब' में स्थान मिला। अब तक पश्चिमी पंजाब, (पाकिस्तान) के जिला मिंटगुमरी के 'पाकपटन' नगर में उनकी मजार पर प्रति वर्ष मास भर मेला रहता है और मन्नतें मानी जाती हैं।

२. सोहरावर्दी—मुलतान से सोहरावर्दी पंथ चलाने का श्रेय 'बहाउद्दीन जकरिया' (११६९-१२६६) को प्राप्त हुआ।

३. कादरी—पाकिस्तान की रियासत बहावलपुर में पंचनद के पास 'उच्च शरीफ' से 'श्री मुहम्मद गौस गिलानी' (१४८२-१५१७) ने कादरी सम्प्रदाय की स्थापना की। 'दारा शिकोह' इसी मत में दीक्षित थे।

४. नक्शबन्दी—यह मत 'तुर्किस्तान' में 'ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंदी' ने चलाया। दिल्ली में इनका प्रतिनिधित्व 'मुहम्मद बाकी बिल्लाह' करते थे। इनके अनुयायी भारत में कम संख्या में पाए जाते हैं।

सूफी साहित्य—मलिक मुहम्मद जायसी, बुल्लेशाह, पंजाबी के विख्यात कवि वारिसशाह, कुतुबन, मंझन आदि कवियों का साहित्य सूफीवाद से ओत-प्रोत है। सूफी

कवियों ने प्रायः प्रचलित लौकिक कहानियों के माध्यम से अलौकिक तत्त्व का निरूपण किया। इनके काव्य में दर्शन तत्त्व रहस्यवाद में परिणत हो गया। इस प्रकार सूफी संतों का प्रभु-प्रेम को सर्वोपरि रखने का प्रयत्न सराहनीय रहा।

'राग' जिसकी इस्लाम में मनाही थी सूफ़ीवाद में उसको महत्व दिया गया। सूफियों की कव्वालियों से शीघ्र ही प्रभु-प्रेम में तन्मयता और तल्लीनता प्राप्त हो जाती है।

पठान बादशाहों के समय भारत की दशा

राजनीतिक दशा—मुस्लिम शासकों ने पूर्ण निरंकुशता को ही प्रमाणित किये रक्खा जिसका स्रोत उनकी सैनिक शक्ति रही। इतना अवश्य ध्यान रक्खा जाता कि उलमा (विद्वान्) लोग उनका साथ देते रहें। क्योंकि वही तो अल्प मुस्लिम जनता में यह भाव बनाये रखें कि अपने मुस्लिम राज्य की सहायता प्रथम धर्म है, तथा गैर मुस्लिमों का विनाश सवाब (पुण्य) का कार्य है।

जजिया सदैव भारतीयों को यह भास दिलाता रहता कि वे शासित हैं और उनकी सलामती शासकों की दया पर है, किन्तु न सरकार का अत्याचार और न धर्म की आलोचना ही भारतीयों को विचलित कर पाई।

साँस्कृतिक दशा—सब कुछ होने पर विभिन्न धर्मावलम्बियों पर भी साथ-साथ रहने से पारस्परिक प्रभाव पड़ ही जाता है। जहाँ समय ने यह सिद्ध कर दिया कि धार्मिक नैतिक तथा सांस्कृतिक शक्ति के सामने राजशक्ति हेय है, वहाँ हिन्दु-मुस्लिम संस्कृतियों के मिलाप से जो कुछ फल रूप में सामने आया, उसका भी विश्व-इतिहास में भारी महत्त्व है। जैसा कि 'सर जान मार्शल' लिखते हैं "मानव जाति के इतिहास में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा गया, जब इतनी विशाल, इतनी सुविकसित और साथ ही मौलिक रूप में इतनी विभिन्न सभ्यताओं का सम्मिलन एवं सम्मिश्रण हुआ हो। इन संस्कृतियों और धर्मो के विस्तृत विभेद उनके सम्पर्क के इतिहास को विशेष शिक्षाप्रद बनाते हैं।"

पारस्परिक प्रभाव—दोनों संस्कृतियों में मौलिक भेद रहने पर भी धार्मिक और सामाजिक, रीति-रिवाज, वास्तुकला चित्रकला, संगीत, भाषा, साहित्य, भोजन, वेश भूषा आदि सभी क्षेत्र एक दूसरे धर्म से प्रभावित हुए।

इस्लाम के सूफीवाद ने वेदान्त से बल पाया। 'वेदान्त' भले ही भारतीय दर्शन का शब्द हो परन्तु वह मात्र हिन्दुत्व का पर्यायवाची नहीं है। वेदान्त वस्तुतः

सब धर्मों की नींव है। जिस पर भिन्न-भिन्न नमूने की इमारतें खड़ी की गई हैं। वह सच्चा मनुष्य बनना सिखाता है।

"है मुश्किल फ़रिश्ते से इन्सान बनना
मगर इसमें लगती है मेहनत ज्यादा।"

'दारा शिकोह' और 'अलबरूनी' आदि संस्कृत साहित्य-सर में गोते लगाने लगे तो उधर अनेक भारतीयों ने फारसी और अरबी को गले लगाया। जिसका प्रभाव हमें आज भी 'स्वामी-रामतीर्थ' के फारसी शेरों में दिखाई देता है।

मुस्लिम राज्य के आरम्भ में, अमीर-खुसरो (पटियाला जन्म स्थान) ने अपने काव्य में भारतीय राष्ट्रीयता की नींव रक्खी। उनके हिन्दी भाषा प्रेम से बाद में प्रेरणा लेकर आने वाले कवि जायसी, कुतुबन, मंझन और उस्मान आदि ने अपना सारा सातित्य हिन्दी (अवधी) में लिख डाला।

अब्दुर्रहीम खानखाना—'रहीम' ने तो हिन्दू-धर्म और भाषा को अपने प्राणों का आधार ही मान लिया। वे गाते हैं—

कमल-दल नैननि की उनमानि।
बिसरत नांहि मदन मोहन की मंद-मंद मुसकानि॥
अनुदिन श्री वृंदावन ब्रज में आवन-जावन जानि।
छवि रहीम चित ते न टरति है सकल स्याम की बानि॥

रसखान—सैयद इब्राहीम, जो कृष्ण के प्रति रसमयी भावना के कारण 'रसखान' कहलाए, तो पशु, पक्षी, पत्थर बन कर भी सदा कन्हैया के दास बन कर ही रहना चाहते हैं। उनकी एकमात्र अभिलाषा निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यंजित होती है—

"मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं मिलि गोकुल गांव के ग्वारिन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद के धेनु मंझारन॥"

रसखान वास्तव में रस की खान ही थे, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को श्रीकृष्ण प्रेम से ही परिप्लावित कर दिया।

नज़ीर—भगवान् कृष्ण की जय बोलते-बोलते नज़ीर थकते ही नहीं—
"तारीफ करूं अब क्या-क्या उस मुरली धुन के बजैया की,
रस ध्यान सुनो, दंडौत करो, जै बोलो कृष्ण कन्हैया की।"

ताज बेगम—बेगम ताज तो कृष्ण के मन-मोहक रूप पर बिक गई—
"सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त हौं बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं॥
देव-पूजा ठानी औ निमाज़ हूं भुलानी,

तजे कलमा-कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं ।
नदं के कुमार कुर्बान तेरी सूरत पै ।।
हौं तो मुगलानी हिन्दुग्रानी ह्वै रहूँगी मैं ।।"

हजरत नफीस—तभी तो हजरत नफीस खलीली कृष्ण-प्रेम की प्रेरणा दे रं हैं—

"कन्हैया की आँखें हिरन सी नशीली ।
कन्हैया की शोखी कली सी रसीली ।।
कन्हैया की छवि दिल उड़ा लेने वाली ।
कन्हैया की सूरत लुभा लेने वाली ।।"

इसलिए तो हिन्दी-साहित्याकाश के शरदिन्दु श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ठीक ही कहा था :—

"इन मुसलमान हरिजन पै कोटिन हिन्दु वारिये ।"

भारत-विभाजन से पूर्व लाहौर के 'ख्वाजा दिलमुहम्मद' ने अपनी गीता ही लिख डाली ।

हिन्दु-धर्म ने कट्टर मुसलमान बादशाहों के राज्य में भी जन-साधारण पर ऐसा प्रभाव डाला था कि मुसलमान लेखक अपनी रचनाओं में "श्री गणेशाय नम :" "श्री (राम) कृष्ण जी सहाय" "श्री सरस्वती जी" "श्री राधा जी" आदि मंगलाचरण लिखने को अपने धर्म के विरुद्ध नहीं मानते थे ।

मूर्ति-पूजा का सतत विरोध करते रहने पर भी इन्होंने भारत में आकर शीतला आदि देवियों की पूजा करनी आरम्भ कर दी । बंगाल का मुस्लिम काली का पुजारी रहा है । इसी प्रकार हिन्दुओं द्वारा भी वरुण देवता की पूजा के स्थान पर ख्वाजा खिजिर की इबादत होने लगी, पीरों की मजारों पर दिए जलाये जाने लगे, फूल चढ़ाये जाने लगे ।

सामाजिक जीवन में इस्लाम का प्रभाव—मुस्लिम स्त्री समाज में प्रचलित पर्दा-प्रथा का भारतीय समाज पर, विशेष कर उत्तरी भारत पर बहुत प्रभाव पड़ा । इससे यहाँ की स्त्रियों की अपेक्षित उन्नति न हो सकी । जब से टर्की ने पश्चिमी वेश-भूषा अपना ली है, तब से धीरे-धीरे यह प्रथा स्वतः ही इस्लामी देशों से हट रही है । भारत का तो क्या कहना । बाल-विवाह की प्रथा जो राजभय के कारण चल पड़ी थी, धीरे-धीरे शिक्षा के प्रभाव से हट चली है ।

कला—भारत में इस्लाम के साथ इस्लामी कला अर्थात् गुम्बद और डाटें आईं यहाँ तक कि बाद में भी रियासत बहावलपुर के सभी स्टेशन गुम्बदनुमा बने । विवाहों में जो आजकल 'सेहरा' पढ़ा जाता है, यह इस्लाम की देन है । वेशभूषा में

सलवार, कुरता भी उनकी देन रही है। नान और तन्दूरी रोटी, मिठाइयों में गुलाब जामन, बरफी, बालूशाही इनकी ही देन है।

प्रिंसिपल कँवरसेन के मतानुसार—दिल्ली के कुतुबमीनार को भले ही अलतमश ने पूरा किया हो; किन्तु प्रथम मंजिल को पृथ्वीराज ने बनाया था, क्योंकि जो घंटियाँ इस पर खुदी हैं वैसी ठीक वृन्दावन के गोविन्द देव जी के मन्दिर की दीवारों में पाई जाती हैं।

भारतीय ज्योतिष विज्ञान अनुसंधान संस्थान (सहारनपुर) के संचालक श्री केदारनाथ प्रभाकर ललकार कर कहते हैं, यह मीनार ज्योतिष की वेधशाला है, जिसे आचार्य वराहमिहिर ने नक्षत्रों के मंदिरों के नाम से ध्रुव तारे के निर्देशन के लिये बनवायी थी। इसकी ७ मंजिलें ७ ग्रहों के और २७ नक्षत्रों के अनुसार थीं। इस कुतुब मीनार के निकट ही वराहमिहिर के रहने का स्थान मिहरा गावली (महरौली) इस बात को आज भी प्रमाणित कर रहा है।

अध्याय १३

भक्ति-आन्दोलन

भक्ति का उद्भव एवं विकास

परिभाषा—भक्ति शब्द की उत्पत्ति 'भज् सेवायाम्' धातु से हुई है। इसलिए इसका अर्थ हुआ, प्रभु की सेवा; किन्तु सभी प्रकार की सेवा भक्ति नहीं हो सकती। अतः निष्काम भाव से प्रभु की जो सेवा की जाती है, उसे ही भक्ति संज्ञा दी जाती है।

वेदों में भक्ति—भारतीय धर्म के समस्त बीज वेदों में ही है, तदनुरूप भक्ति के मूल तत्त्व भी वहां उपस्थित हैं। डॉ० वेणीप्रसाद ने कहा है कि हिंदू-भक्ति सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद में है। जिस पुरुष-सूक्त द्वारा ब्रह्म की निराकार रूप में स्तुति की गई है, उसी में अवतारवाद का आधार भी निहित है। वैष्णव भक्ति के उपास्य 'विष्णु' वेदों के अनुसार परम हितकारी व रक्षक हैं। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु को देवताओं में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। उन्हें भरण-पोषण करने वाला बतलाकर उपासकों के हृदय में श्रद्धा की भावना स्थापित की गई है। भक्ति में सेवा के अतिरिक्त अर्चना आराधना, यजन, वन्दना, पूजा, उपासना, ध्यान, चिन्तन आदि-आदि विविध क्रियात्मक अनुष्ठानों का समावेश हैं :

वेदों में प्रायः उक्त सभी शब्द यत्र-तत्र ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं—

'वन्दामहे त्वम्' (ऋग्वेद ३.८.६)

अर्चा सक्राय सकिने (ऋग्वेद १.५४.२)

अराधि होता स्वर्निषत् (ऋग्वेद १.७०.८)

'त्र्यम्बकं यजामहे' (ऋग्वेद ७.५६.१२)

इस प्रकार भक्ति योग श्रुति-सिद्ध है और अत्यन्त सेवन करने पर मुक्ति का मार्ग बन जाता है। भक्ति पहले व्यक्ति के भीतर जन्म लेती है और मनुष्य-हृदय ईश्वर पर न्यौछावर होना चाहता है। तभी भक्ति से हृदय में परमात्मा का साक्षा-

त्कार होता है । वस्तुतः भगवान् जैसे भक्ति द्वारा वश होते हैं वैसे और किसी भी साधन से नहीं होते।

हमारे आचार्यों ने भक्ति की निम्नांकित परिभाषाएँ दी हैं—

(१) भक्ति के आदि आचार्य श्री **नारद** : भक्ति इश्वर के प्रति परम प्रेम-रूपा और अमृत-स्वरूपा है। ब्रजगोपियों का उदाहरण देते हुए श्री नारदजी समझाते हैं कि भक्ति में केवल एकमात्र भगवान् की ही सेवा स्वभावतः होती रहती है, क्योंकि इसके विना रहा ही नहीं जाता, वे ज्ञान के सम्वन्ध में कुछ नहीं कहते।

(२) **शाण्डिल्य**—भक्ति ईश्वर के प्रति परम अनुराग-रूप है। यह ज्ञान को शुद्ध-प्रेमाभक्ति भी प्राप्ति का पूर्व अंग मानते हैं। शाण्डिल्य कर्म के सम्बन्ध में मौन हैं।

(३) **पराशर**– पूजादि में अनुराग होने को भक्ति कहते हैं।

(४) **वल्लभाचार्य**—भगवान् में सतत तथा सुदृढ़ स्नेह ही भक्ति है।

(५) गीताकार भगवान् **श्री कृष्ण** ने :

मन और बुद्धि को प्रभु के अर्पण कर देने का नाम भक्ति बताया और गीता के आठवें अध्याय के १४वें श्लोक में इस पर सुलभ की मुहर लगा दी। वह 'सुलभ' शब्द गीता के ७०० श्लोकों में केवल एक ही बार आया है। उपर्युक्त कथनों का सुन्दर समन्वय आलोचक श्री रामचन्द्र शुक्ल* के शब्दों में :

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है"। अतः चित्तवृत्ति का निरन्तर अविच्छिन्न रूप से अपने इष्ट-स्वरूप श्री भगवान् में लगे रहना अथवा भगवान् में परम-अनुराग या निष्काम-अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है।

भक्ति के भेद—भक्ति दो प्रकार की होती है—सकाम तथा निष्काम। **सकाम** भक्ति वह है, जिसमें भक्त धन, पुत्र अथवा रोग-निवारण की कामना से कुछ समय तक ईश्वर से प्रेम करता है और शेष समय अपने परिवार, स्त्री, पुत्र सम्पत्ति के मोह में फँसा रहता है। **निष्काम** भक्ति में ईश्वर से बिना किसी सांसारिक हेतु के निरन्तर प्रेम रहता है। इसे ही अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं। यही उत्तम भक्ति चित्त स्वरूपा है।

इस भक्ति के तीन भेद हैं – (१) साधन-भक्ति (२) भाव भक्ति (३) प्रेम भक्ति।

(१) **साधन-भक्ति**—इन्द्रियों के द्वारा श्रवण कीर्तनादि का नाम है। यह दो प्रकार की होती है—वैधी और रागानुरागा। अनुराग उत्पन्न होने से पहिले केवल शास्त्र की आज्ञा मानकर जो जप आदि के रूप में बाह्य पूजा होती है, उसका नाम वैधी-भक्ति है। प्रभु में जो स्वाभाविकी, आन्तरिक असीम प्रेममयी तृष्णा है उसका नाम है राग। ऐसी रागमयी-भक्ति को रागानुरागा भक्ति कहते हैं।

* चिन्तामणि : श्रद्धा और भक्ति प्रकरण

(२) **भाव भक्ति**—भाव, चित्त की उस सात्त्विक वृत्ति का नाम है, जिसका प्रकाश प्रेम-सूर्य की किरणों के समान चित्त को स्निग्ध करता है। ऐसे भाव से पूर्ण साधन भक्ति की परिपक्वावस्था को भाव-भक्ति कहा जाता है।

(३) **प्रेम-भक्ति**—भाव की परिपक्वावस्था का नाम प्रेम है। चित्त के सम्पूर्ण रूप से निर्मल और अपने अभीष्ट भगवान् में अतिशय ममता होने पर ही प्रेम का उदय होता है। यह प्रेम न तो घटता है, न बदलता है, तब कहीं प्रेम-भक्ति का उदय होता है। मनुष्य किसी का आश्रय पाकर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। यही भावना जब ईश्वरोन्मुख हो जाती है, वही भक्ति का रूप धारण कर लेती है।

भक्ति के नौ अंग—श्रीमद्भागवत में वैधी भक्ति के ९ अंगों का वर्णन इस प्रकार है

श्रवण – भगवान् की लीला तथा कथा का श्रवण।
उदाहरण स्वरूप (परीक्षित)

कीर्तन— उनके नाम, लीला तथा कथा का वर्णन कीर्तन है (नारद)।

स्मरण—उनका स्मरण नाम जप आदि के रूप में।
(ध्रुव तथा प्रह्लाद)

पाद-सेवन— उनके श्री चरणों की सेवा तथा गुरु, माता, देश एवं जाति की सेवा।
(भरत एवं केवट)

अर्चन— पुष्प-पत्र आदि चढ़ना।
(मीरा एवं धन्ना)

वन्दन—ईश्वर की वन्दना करना तथा प्रत्येक व्यक्ति अथवा जीव को मानसिक नमस्कार करना।
(अक्रूर)

दास्य—केवल इष्ट को ही स्वामी मानकर सर्वभावेन उनकी सेवा करना।
(हनुमान्)

सख्य—निस्संकोचतापूर्ण मित्रता का भाव (अर्जुन एवं सुग्रीव)

आत्म निवेदन—आत्मसमर्पण—स्वयं को ही अर्पित कर देना।
(ब्रज-गोपियां)

भक्ति साधना के नौ प्रकार—

सन्त तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में भक्ति के नौ साधन बताये हैं:

१. साक्षात्कार-प्राप्त सन्तों की संगति।

२. ईश्वर की महिमा तथा स्तुति में प्रेम।

३. ईश्वर के चरण-कमल की सेवा।
४. ईश्वरीय गुणगान।
५. दृढ़ विश्वास के साथ वेदानुकूल मंत्र का जप।
६. दम, शील तथा कर्मों से विरति।
७. भक्त का जगत् को ईश्वरमय देखना तथा सन्तों को ईश्वर से अधिक मानना।
८. यथालाभ संतोष।
९. सबसे छलहीन होकर सरलतापूर्वक व्यवहार करना, ईश्वर पर ही निर्भर रहना तथा हृदय में हर्ष-विषाद न रखना।

जो भी नर या नारी इनमें से किसी एक का अभ्यास करता है, वह ईश्वर को अतिशय प्रिय है।

भक्त के प्रकार—भक्त चार प्रकार के हैं—(गीता ७-१६)
१. **आर्त** - द्रौपदी तथा गजेन्द्र जैसे पीड़ित भक्त।
२. **जिज्ञासु**—जैसे उद्धव।
३. **अर्थार्थी**—जो किसी कामना से भक्ति करता है। जैसे ध्रुव।
४. **ज्ञानी**—जैसे शुकदेव।

भक्ति के पाँच रस—भक्ति के भाव भेद से ही ये पाँच रस बताए हैं—यह वश्यक नहीं कि इनका विकास क्रमशः हो, किन्तु यह निश्चित है कि अगले भाव रस पिछले रस की निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाश आदि पांच भूतों के गुण पने-अपने भूतों में वर्तमान रहते हैं वैसे ही इस साधन प्रणाली में भी रसों का रहना ना गया है। जैसे पृथ्वी में पांचों गुणों का समावेश है, वैसे ही शान्त, दास्य आदि वों का माधुर्य भाव में पर्यवसान है।

शान्त रस—निष्ठामय (भीष्म जैसा संयमित तथा शांत भाव) दास्य रस—ष्ठा और सेवामय (सेवक-स्वामी भाव जैसे हनुमान) सख्य-निष्ठा, सेवा और स्संकोचतामय (अर्जुन जैसा मित्रभाव)। वात्सल्य—निष्ठा, सेवा, निस्संकोचता और ममत्वमय, (कौशल्या, यशोदा जैसा वात्सल्य भाव) माधुर्य—निष्ठा, सेवा, नस्संकोचता ममता और आत्म-समर्पणमय। (प्रेमी-प्रेमिका भाव जैसे गोपियां, था चैतन्य महाप्रभु)

समस्त जीव इन पांच भावों के अधीन है। जो भाग्यवान् पुरुष इन भावों का न अनित्य और दुःखपूर्ण संसार से हटा कर प्रभु में लगा देता है, वही सच्चा साधक है। ऐसा करना वस्तुतः परम पुरुषार्थ है।

भक्ति का क्रमिक विकास—वैदिक उपासना पद्धति में प्रधानता तो यज्ञ और कर्मकांड की ही रही। भक्ति की उपयुक्त कोमल भावनाओं का विकास उसमें न था। पश्चात् उपनिषदों में इसी उपासना ने स्थूल से सूक्ष्म में बदलकर चिन्तन का रूप लिया और कर्मकांड ने ज्ञान का। अब तो श्रद्धा के लिए स्थान ही न रहा। इस कर्मकाँड से जनसाधारण की आकांक्षाओं की पूर्ति भला कैसे होती ? अत. समय पाकर कर्म और ज्ञान-साधना के अतिरिक्त अब जो पौराणिक धर्म सामने आया उसके सूत्र-ग्रंथों में भक्ति को मुख्य तथा ज्ञान एवं कर्म को गौण स्थान दिया गया। इस प्रकार भक्ति का अंकुर विकसित हो उठा।

आगम—जहाँ वेद आन्तरिक प्रेरणा (Intution) पर आधारित हैं, वहां आगम संस्कृत में प्रतीकात्मक वहिरंग उपचारों की विधियाँ बतलाते हैं। ये ब्रह्म हिरणयगर्भ आदि के स्थान पर वासुदेव, प्रद्युम्न, संकर्षण तथा अनिरुद्ध के व्यूह पर बल देते हैं। जहाँ वेदों पर केवल द्विजों का ही अधिकार है, वहाँ इन पर मानव मात्र का अधिकार स्वीकृत है।

जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक धर्म की विधियों के मूल का संरक्षण और विस्तार करने की चेष्टा की गई है, उसी प्रकार आगमों में वैदिक तत्त्व द्रष्टाओं की गुप्त शिक्षाओं, अनुष्ठानों की आकृति और साधना के रूप में इस प्रकार सृजन और विकास किया गया कि वे भविष्य की परिवर्तनशील परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल हों। उद्देश्य तो पूर्ववत् आध्यात्मिक जीवन का निर्माण ही रहा। वैदिक काल के हवनकुण्ड और बलिदान का स्थान क्रमशः देवालयों ने और अर्चना ने ले लिया। अब सभी देवताओं का प्रतिनिधत्व केवल दो बड़े देव विष्णु और महादेव करने लगे।

स्थान—सतयुग में जो स्थान वेदों का, त्रेता में स्मृतियों का और द्वापर युग में पुराणों का रहा, वही कलियुग में आगम का है।

वैष्णव आगम—हिन्दू धर्म के प्राचीन काल से आगम एवं निगम दो दृढ़ स्तम्भ रहे हैं। निगम को वेदों के समान अपौरुषेय माना जाता है। वैष्णव मतावलम्बी, जो आगमों को स्वयं नारायण द्वारा प्रकाशित मानता है, उसके लिए किसी काल की गणना आवश्यक नहीं समझता। श्रीमद्भागवत में जिस भक्ति का प्रचार हुआ उसके वीज, उद्भव और विकास की सारी गाथा आगम-ग्रंथों में है।

वैखानस, पांचरात्र, प्रतिष्ठासार और विज्ञान-ललित—ये चार वैष्णव आगम है।

पांचरात्र आगम के भेद - ब्राह्म, शैव, कौमार, वासिष्ठ, कपिल, गौतमीय

और नारदीय ये सात पांचरात्र के भेद हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में नारदीय सर्ग में पांचरात्र के बारे में बहुत कुछ तथ्य संग्रहीत हैं।

पांचरात्र आगमों में भगवान् विष्णु ही परमात्मा माने गए हैं। नारद पांचरात्र में कहा गया है कि ब्रह्मा से लेकर एक तृण का टुकड़ा भी श्री कृष्ण का ही स्वरूप है। इससे उपनिषद् की वाणी को बल मिलता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है—सर्व खल्विदं ब्रह्म।

पक्ष—आगमों के तन्त्र, मन्त्र और यन्त्र तीन पक्ष होते हैं। भावनात्मक अंगों जैसे हृदय, इच्छा शक्ति को आत्मा के सांचे में विकसित करने से तन्त्र अनिवार्य चरण रहा। इन आगमों के द्वारा धर्म की व्याख्या और उपासना का व्यावहारिक पक्ष निर्दशित होता है। मन्दिर का सेवन तथा मूर्तिपूजा आदि बहिरंग उपासना की विधि आगमों में ही विशेषकर वर्णित होती है।

विषय—आगम के चार वर्ण्य विषय हैं—

ज्ञान, योग अथवा ध्यान, क्रिया (मूर्तियों का निर्माण एवं स्थापन) तथा चर्या (क्रियाकलाप अथवा संस्कार, इनमें चराचर जगत् का रहस्य, मोक्ष, भक्ति, मंत्रों का गूढ़ार्थ, तांत्रिक रेखाएं, मोहिनी विद्या, गृहस्थ धर्मोचित नियम आदि, सामाजिक रीति-रिवाज, सार्वजनिक तीर्थ, व्रत आदि का भी समावेश है।

खंड—आगमों के तीन खंड हैं। वैष्णव, शैव और शाक्त। वैष्णव और पांचरात्र आगमों में मुख्य देवता श्री विष्णु की महिमा वासुदेव कृष्ण के रूप में वर्णित है। जिसके साथ चार व्यूह हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

आगम वेदों पर अधिक निर्भर नहीं है। लेकिन उनके विरोधी भी नहीं। वैदिक सिद्धान्तों की पुष्टि इनमें मिलती अवश्य है। इसलिए इन्हें भी प्रामाणिक माना जाता है।

पांचरात्र आगमानुयायी को प्रकट रूप में पूजा की वैदिक विधियों को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं थी। वे स्वयं अपने विचारों के लिए पांचरात्र—वैष्णव-धर्म के सर्वप्रथम अग्रणी हुए।

दक्षिण की देन—यद्यपि भक्ति तत्त्व का आन्दोलन उत्तर भारत में भागवत लोगों द्वारा ही आरम्भ हुआ, परन्तु उसे प्रोत्साहन दक्षिण के नायन्नार (शैव) और आलवार (वैष्णव) सन्तों ने विशेष रूप से दिया।

आलवार ने डंके की चोट से घोषणा की कि भगवत्प्राप्ति का द्वार सब के लिए खुला है, वंश या विद्वत्ता का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। इस भाव पर आलवार संतों ने अधिक बल दिया। इस तथ्य को भी सब स्वीकार करते हैं कि इन्हीं के द्वारा पूर्ण शरणागति अथवा प्राप्ति के प्रचार के फलस्वरूप दक्षिण के भक्तों ने

भक्ति की गंगा में गोते लगाए। पांचवीं शती से लेकर नवीं शती तक भक्ति का खूब बोलबाला रहा।

भक्ति का शुद्ध-रूप—श्री रामानुज पांचरात्र (आगम) के आधार पर ही ब्रह्म, जीव और संसार की सत्ता को स्वीकार करते हैं। यह धर्म समाज के सर्वोच्च धरातल पर चल रहे शंकर के अनुस्यूत चिन्तन और विचार पर आधारित न होकर भावना-प्रधान रहा।

अद्वैतवाद में जीव और ब्रह्म में अभिन्नता होने के कारण साकारोपासक प्रेमियों के लिए कोई स्थान न था।

जब कि विशिष्टाद्वैतवाद में जीव और ब्रह्म को अभिन्न नहीं माना गया। प्रतिक्रिया स्वरूप भक्ति का शुद्ध-रूप और उसकी महत्ता का सुन्दर विवेचन कर, रामानुजाचार्य ने भक्ति की धारा को पुष्ट बनाकर सारे भारत को सींचा। तत्पश्चात् कई आचार्य हुए जिन्होंने भक्ति के स्वरूप को आगे बढ़ाया।

भक्ति-धारा नितान्त स्वदेशी—यह भक्ति की धारा न तो आकस्मिक थी न ही आक्रमणकारियों की विजय से हुई। गार्ब* के अनुसार—"एक ऐसे व्यक्ति की दृष्टि में जो प्राचीन भारत के बौद्धिक जीवन से भली प्रकार परिचित हो भक्ति का सिद्धान्त नितान्त इसी देश की एक यथार्थ उपज है।"

तन्त्र

तन्त्र अथवा आगम की शास्त्रों के रूप में मान्यता रही है। एक विचार-धारा के अनुसार आगम को पांचवां वेद माना है। आगम का मूल-अर्थ अधिकार और प्रामाणिकता था और इसीलिए इसका प्रयोग वेदों के लिए होता था। यह कहा जाता है कि प्रत्येक युग में जनता के मार्गदर्शन के लिए एक ईश्वर प्रदत्त शास्त्र होता है। इस मान्यता के अनुसार सत्ययुग में वेद, त्रेता में स्मृति तथा द्वापर में पुराण और आज कलियुग में वे ही शास्त्र आगम के रूप में विद्यमान हैं।

तन्त्र साहित्य की रचना कब हुई, यह निश्चित रूप से बतलाना सम्भव नहीं है, किन्तु तान्त्रिक परम्परा और अनुष्ठान बहुत प्राचीन हैं, यह निश्चित है। जिस प्रकार उपनिषदों में वेदविहित ज्ञान का पुनरुन्नयन और अनुवर्तन हुआ है, तथा जिस प्रकार ब्राह्मणों में वैदिक-धर्म की क्रियाविधियों के संरक्षण और विस्तार की चेष्टा की गयी है, उसी प्रकार आगम-शास्त्र में वैदिक तत्त्व-द्रष्टाओं की गुप्त शिक्षाओं की आकृति और साधना का इस प्रकार सृजन और विकास किया गया है कि ये

---

* Garb's Philosophy of Ancient India P. 84.

भविष्य की परिवर्तनशील परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल हों। तान्त्रिक-साधना मनुष्य के भावनात्मक और गत्यात्मक अंगों जैसे हृदय, इच्छाशक्ति और जीवन-तत्त्व को लेकर उन्हें आत्मा के साँचे में विकसित करने का प्रयत्न करती है।

जिस देवता ने जिस ज्ञान का उद्‌घाटन किया, वह आगम उस देवता के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जैसे शिव का आगम शैव, शक्ति का आगम शाक्त और विष्णु का आगम वैष्णव। इनके मतावलम्बी शैव, शाक्त और वैष्णव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त सूर्य के उपासक सौर और गणपति के उपासक गाणपत्य कहे जाते हैं। इनमें सर्वाधिक मान्यता-प्राप्त शाक्त-आगम है जिसमें देवी को समस्त विश्व की अधिष्ठात्री माना गया है। शाक्त-आगम के कुछ अनुष्ठानों में अतिक्रम होने के कारण समस्त तन्त्रशास्त्र किंचित् निम्न स्तर में आ गये हैं।

रामानुजाचार्य
(१०१७—११३७ ई०)

श्री रामानुजाचार्य बड़े ही विद्वान्, सदाचारी, धैर्यवान्, सरल एवं उदार थे। इनके पिता का नाम केशव भट्ट था। छोटी अवस्था में पिता जी के देहान्त होने पर इन्होंने दक्षिण में कांची में श्री यादव प्रकाश गुरु के निकट वेदाध्ययन किया। इनकी बुद्धि कुशाग्र थी। ये विद्या, चरित्रबल एवं भक्ति में अद्वितीय थे। श्री यामुनाचार्य इनके परम गुरु थे। अपने गुरुदेव की अन्तिम इच्छानुसार इन्होंने स्वयं 'ब्रह्मसूत्र' को 'श्रीभाष्य' नामक टीका लिखी, 'विष्णु सहस्रनाम' तथा आलवन्दारों के 'दिव्य प्रबन्धम्' की टीका दो शिष्यों से लिखाई।

इन्होंने देश भर में भ्रमण करके अनेक नर-नारियों को भक्ति-धर्म में लगाया।

सम्प्रदाय—इनका सम्प्रदाय 'श्रीसम्प्रदाय' कहलाता है। इस सम्प्रदाय की आद्य-प्रवर्तिका श्री महालक्ष्मी जी मानी जाती हैं।

सिद्धान्त—इनके सिद्धान्तों के आधार हैं—आगम, ब्रह्मसूत्र तथा आलवार सन्तों की वाणी।

(१) इनके मतानुसार भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही प्रत्येक शरीर में साक्षि-रूप में विद्यमान हैं, जगत् के नियन्ता एवं स्वामी हैं।

(२) जीव उनका नियम्य है।

(३) अपने व्यष्टि अहंकार को सर्वथा मिटाकर भगवान् की सर्वतोभावेन शरण ग्रहण करना ही जीव का परम पुरुषार्थ है।

(४) भगवान् नारायण ही सत्य है। लक्ष्मी चित् है और यह जगत् उनके आनन्द का विलास है, रज्जु में सर्प की भांति असत्य नहीं है।

(५) लक्ष्मीनारायण जगत् के माता-पिता हैं, और जीव उनकी सन्तान है। माता-पिता का प्रेम एवं उनकी कृपा प्राप्त करना ही जीव का धर्म है।

(६) वाणी से भगवान् नारायण के अष्टाक्षर 'ऊँ नमो नारायणाय' का निरंतर जप करना चाहिए। मन और शरीर से उनकी सेवा करना जीव का धर्म है।

(७) उन्होंने 'प्रपत्ति' पर बहुत बल दिया है, जिस का अर्थ है, जीव का परमात्मा के प्रति पूर्णतया आत्म-समर्पण।

आपने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार ब्रह्म को जीव (चित्) और जगत् (अचित्) से युक्त माना है। अतः ब्रह्म चित् जीव अचित् जगत् से विशिष्ट है।

इनके ७४ शिष्य हुए, जो सभी सन्त थे।

रामानन्द

श्री रामानन्दजी का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में, सन् १२६७ में, त्रिवेणी तट पर, प्रयाग में हुआ। इनके पिताजी का नाम पुण्यसदन और माता जी का नाम श्रीमती सुशीला था। इनके पिता वेद, व्याकरण तथा योग के प्रकाण्ड पंडित थे। बालक रामानन्द की स्मरण शक्ति एवं धारणा-शक्ति इतनी अधिक थी कि जो कुछ इनके पिता पाठ करते जाते थे, एक बार सुनकर ही इनको सब कंठस्थ हो जाता था। इन्होंने अपने माता-पिता के साथ काशी में ओंकारेश्वर के यहां ठहरकर विद्याध्ययन किया। बारह वर्ष की अवस्था तक इस अद्भुत बालक ने समस्त शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर लिया। इन्होंने विवाह नहीं किया। गंगाघाट पर काशी में तपस्वी जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया।

इनके पास मुसलमान, जैन, बौद्ध, वेदान्ती, शैव और शाक्त सभी मतावलम्बी अपनी शंकाओं के निवारणार्थ आते थे और समुचित समाधान पाकर शान्त चित्त से लौटते थे।

श्री रामानन्द जी ने भक्ति परम्परा को नया मोड़ दिया। इन्होंने श्री रामानुजाचार्य के सम्प्रदाय के अनुसार विष्णु के स्थान पर श्रीराम की उपासना पर बल दिया। आपने जाति-भेद, ऊंच-नीच के भेद को मिटाकर भगवद्-भक्ति के द्वार मानव मात्र के लिये खोल दिए। इस उद्देश्य की सफलता के लिये आपने प्रचारभाषा का माध्यम संस्कृत के स्थान पर प्राकृत भाषाओं को रखा। इनके शिष्यों की

संख्या ५०० से अधिक है। इनमें निर्गुण एवं सगुण को मानने वाले दोनों प्रकार के व्यक्ति जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी के गुरु नरहरानन्दजी, योगानन्दजी (ब्राह्मण) पीपाजी (क्षत्रिय राजा), रैदास (चमार) कबीर (जुलाहा), सेन (नाई), धन्ना (जाट), और पद्मावती जैसी स्त्रियां भी थी। इससे उनके विचारों की उदारता स्पष्ट होती है। श्रीरामानन्दाचार्य के शिष्य रामानन्दी कहलाते हैं। ये रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। उत्तर भारत में इसका विशेष प्रचार है। इनके शिष्यों में तपस्वी वर्ग को वैरागी कहा जाता है। इनके शिष्य निर्गुणोपासक एवं सगुणोपासक दोनों प्रकार के हैं।

जहां भारतीय धार्मिक आचार्य देश की तत्कालीन स्थिति से सर्वथा निर्लिप्त रहे, वहाँ श्री रामानन्द जी ने तत्कालीन स्थिति को संभालने के लिये निर्भयतापूर्वक यथाशक्ति प्रयत्न किया। स्वामीजी ने देश के लिये तीन प्रमुख कार्य किये।

(१) साम्प्रदायिक कलह को शान्त किया।

(२) हिन्दुओं को आर्थिक संकट से मुक्त किया।

(३) बादशाह गयासुद्दीन तुगलक की हिन्दू-संहारिणी सत्ता को पूर्ण रूप से दबा दिया और उसे राजाज्ञा (शाही फरमान) द्वारा हिन्दू जाति एवं धर्म पर किये जाने वाले अत्याचारों, तीर्थों पर लगे कर (जजिया) और गोवध को बन्द करने के लिये बाध्य किया। इसके अतिरिक्त मन्दिरों को विध्वंस न किया जाय, राम-नाम प्रचार में बाधा न डाली जाए, किसी को भी धर्म-परिवर्तन के लिये मजबूर न किया जाए, स्त्री के सतीत्व को नष्ट न किया जाए, मस्जिद के सामने जाते हुए दूल्हे को पैदल चलने पर विवश न किया जाए, आदि, आदि, राज्यादेश निकलवाये। यह सब इनकी तपस्या, योगबल, आत्म-विश्वास एवं धर्मनिष्ठा का प्रभाव था। इनके समकालीन काशी के मुसलमान फकीर मौलाना रशीदुद्दीन ने अपनी 'पुस्तक तजकीर तुल फुकरा' में इनके विषय में लिखा है :

"रामानन्द जी तेजोपुंज एवं पूर्ण योगेश्वर है। सदाचारी एवं ब्रह्मनिष्ठ रूप है। परमात्मतत्त्व रहस्य के पूर्ण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियों एवं ब्रह्मविदों के समाज में उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं। अर्थात् धर्माधिकार में हिन्दुओं के धर्म कर्म के सम्राट है।"

संत कबीर (१३९८-१५१८)

"काशी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चेताये।" पंक्ति कबीर के जन्म स्थान एवं गुरु का परिचय देती है। आप जाति-भेद तथा ऊंच-नीच की भावना से परे थे। हिन्दू-मुसलमान का भेद-भाव मिटाकर मुस्लिम फकीरों का तथा हिन्दू संतों का

सत्संग किया। जो तत्त्व प्राप्त हुआ उसे मन में जगह दी। वे पढ़े-लिखे तो थे नहीं। "मसि कागद छुओ नहीं, कलम गह्यो नहीं हाथ" वाले कबीर की भाषा साहित्यिक न होने पर भी बहुत ही मर्मस्पर्शी है।

आप अहिंसा, सत्य और सदाचार आदि सद्गुणों के उपासक थे। सबद और साखियों में आपने शीलता, दया, क्षमा, दान, सन्तोष एवं आत्म-निरीक्षण आदि सद्गुणों को अपनाने का उपदेश दिया है। मुख्यत: आपने ईश्वर स्मरण, संसार से विरक्ति, कथनानुसार कर्म तथा सुसंगति पर बल दिया है।

आपके गुरु स्वामी रामानन्द जी राम के उपासक थे, परन्तु आप निराकार के उपासक बने। दशरथ-सुत राम के स्थान पर सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्म को ही आपने राम कहा। "दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।" उसे निराकार सर्वव्यापी अजन्मा कहा है। आपके राम के रूप में स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद, स्वामी रामानन्द का भक्तिवाद, वैष्णवों का अहिंसावाद, इस्लाम का एकेश्वरवाद, नाथपंथ का हठयोग और सूफियों का प्रेम तथा विरह मिलकर ही राममय ही हो गया है।

कबीर ने ईश्वर को साहब कहा है। आपने साहब की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता, एकेश्वरवाद तथा एकाश्रयता पर बल दिया है :—

"साहेब मेरा एक है,
दूजा कहा न जाय ......।"

आपने परमात्मा को माता, पिता, मित्र और पति के रूप में भी देखा है। वे कभी कहते हैं "हरि मोर पिऊ, मैं राम की बहुरिया" और कभी कहते हैं—"हरि जननी मैं बालक तेरा।" उनकी साखियों में उनका भगवान् के साथ जो मधुर प्रगाढ़ सम्बन्ध था, उसकी बहुत सुन्दर व्यंजना हुई है। आप नाम-स्मरण को बहुत महत्त्व देते थे।

कबीर जी सद्ज्ञान की प्राप्ति के लिये गुरु की आवश्यकता समझते थे। गुरु और ब्रह्म शब्द कहीं-कहीं पर्यायवाची भी हैं। कहीं कहीं ब्रह्म से भी महान्:—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े का के लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिये दिखाय॥

माया, जीव, जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में कबीर की विचारधारा अद्वैतवाद के अनुकूल होती हुई भी कुछ अन्तर रखती है। ज्ञानमार्गी होते हुए भी कबीर की प्रभु प्रेम विषयक अभिव्यंजनाएँ अत्यधिक प्रभावशाली हैं।

आपकी अभिव्यक्तियाँ अद्वैत और भक्ति का, मस्तिष्क और हृदय का सुन्दर

समन्वय प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने श्री रामानन्द से राम भक्ति का मन्त्र प्राप्त किया, फिर भी हम उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं बाँध सकते।

कबीर धर्म एवं समाज के सुधारक भी थे। वे युगों की रूढ़ियों को दूर करने के लिये एक सुधारक संत के रूप में अवतीर्ण हुए थे। हिन्दू और मुसलमानों के धर्म के मूर्तिपूजा, तीर्थ स्थान, नमाज़, व्रतोपवास आदि के बाह्याचार के विरोधी थे।

आपकी आध्यात्मिक उल्टबांसियां अनुभवी पुरुषों को आनन्द से विभोर कर देती हैं। आपकी रचनाओं का संग्रह 'कबीर बीजक' नाम से प्रसिद्ध है। इनकी 'वाणियों' को शिष्यों ने ही संग्रहीत किया था।

अपनी सरलता, साधु स्वभाव और निश्छल संत जीवन के कारण ही कबीर आज केवल भारतीय जनसमुदाय में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी लोगों के कंठहार बन रहे हैं। अब तो यूरोप वाले भी इनके महत्त्व को समझ रहे हैं। संक्षेप में, कबीर अपने युग के सर्वोच्च रहस्य द्रष्टा, कवि, निर्भीक समाज सुधारक एवं स्पष्ट वक्ता उपदेशक रहे हैं।

आपने ब्रह्म का ऐसा रूप जनता के समक्ष रखा जो हिन्दू-अहिन्दू सभी को मान्य था। वह समय हिन्दू मुसलमानों के परस्पर विरोध का समय था, धार्मिक झगड़े नित्य प्रति होते थे। उन्होंने उपास्य का ऐसा रूप प्रस्तुत किया जिसमें राम और रहीम दोनों के अस्तित्व एकाकार हो गए। परिणामतः हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के निकट आ गए। यह उनकी समाज सुधारक की दृष्टि से महान् उपलब्धि थी।

वे उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि थे। उनके रहस्यवाद का प्रभाव प्रकारान्तर से विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं पर भी है।

गुरु नानक

गुरु नानक का जन्म सन् १४६६ में पंजाब में, लाहौर के पास जिला शेखुपुरा के तलवंडी गांव में हुआ था, जो अब नानकाना साहिब के नाम से प्रसिद्ध है। समानता एवं एकता के प्रतीक, भक्त-प्रवर, गुरु नानक का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ, जब मजहबी तास्सुब (धार्मिक पक्षपात) अपनी चरम-सीमा पर था। आरम्भ से ही आप आध्यात्मिकता की ओर झुके हुए थे। बाल्यावस्था में, जब इन्हें पांधे के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजा गया तो सर्वप्रथम उनके द्वारा "ॐ" से श्रीगणेश कराने पर इन्होंने उसका अर्थ समझना चाहा, परन्तु संतोषजनक उत्तर न पाया। तब इनके मुखारविंद से निःसृत ॐ की भावपूर्ण व्याख्या सुन पांधा चकित रह गया।

वे गृहस्थ जीवन से विरक्त हो, साधु-संगति में विचरने लगे। सभी मतों के

के साधुओं से जिज्ञासु के रूप में सप्रेम मिलते, अध्यात्म-चर्चा करते एवं सेवा करते। वे अध्यात्म-विद्या के रहस्य से सुपरिचित एक मेधावी पुरुष थे।

उपदेश—आत्मिक-अभ्युदय के लिए ज्ञान, भक्ति, नाम स्मरण, भजन योग का अभ्यास आदि आपके मुख्य उपदेश थे। मूर्ति पूजा, वेद-पुराण, तीर्थ-यात्रा, जनेऊ आदि बाह्याचार में आस्था न थी। उन्होंने श्रद्धा पर बल दिया। उनका सिद्धान्त था कि शरीर रूपी खेत में मनरूपी किसान द्वारा भगवद् नाम का बीज बोया जाना चाहिये और नम्रता के पानी से उसे सींचना चाहिए तभी प्रेम की फसल काट सकेंगे। आप नम्र, दयालु, तेजस्वी वक्ता, भजनीक और कवि-हृदय प्राणी थे। उन्होंने प्रेम, तर्क तथा मीठी वाणी से दूसरों के हृदय को जीता। लोग स्वयं ही उनकी ओर खिचे चले आते थे।

धर्म-प्रचार में योगदान—भारत के प्रायः सभी भागों में विशेष कर पंजाब में बाला और मरदाना दो सेवकों के साथ भ्रमण करके आपने अपना अमूल्य उपदेश दिया। एकता और प्रेम का प्रचार करने के लिए नेपाल, भूटान, सिक्कम, तिब्बत, चीन, ईरान, अफगानिस्तान, अरब (मक्का, मदीना) का भ्रमण किया।

उनके अनुसार सब एक पिता के बालक हैं। इसी आधार पर वे देश के सभी सम्प्रदायों को एक स्तर एवं एक मंच पर लाने की चेष्टा में लगे रहे। उन्होंने छूआ-छूत, जाति प्रथा के भेदभाव को मिटाने तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता बनाए रखने के लिए भरसक प्रयत्न किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों इनके शिष्य हैं। नया सम्प्रदाय खड़ा करने का इनका लेशमात्र भी विचार नहीं था। इनके शिष्य 'सिक्ख' कहलाने लगे। सिक्ख पंथ उन कतिपय घटनाओं का परिणाम है जो मुख्यतया पंचम गुरु श्री अर्जुनदेव के समय से घटित होनी प्रारंभ हुई और जो दशम-गुरु श्रीगोविन्द सिंह जी के समय एवं उनके पश्चात् तक घटती रहीं। उनकी सरल एवं मधुर वाणी 'ग्रंथ साहिब' में संग्रहीत है। इनकी बानी (सबद) और शब्दों को आज भी सिक्ख लोग प्रेम से गाते हैं। ग्रंथ साहिब के शब्द उपदेश से ओत-प्रोत हैं।

वे भारत में ही नहीं, समस्त संसार के लिये आदरणीय हैं क्योंकि वे मानवीय एकता के समर्थक थे और इसी का प्रचार उन्होंने जीवन पर्यन्त किया। उनका कहन है—

खालक वसै खलक में, खलक वसै रब माह।
मंदा किसनु आखिर, जां जिस बिन कोई नांह॥

गुरु नानक जी के सिद्धान्त-प्रचार के विषय में विद्वान् कनिंघम की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

"परमात्मा ही सब कुछ है। मानसिक पवित्रता ही सब कुछ है। मानसिक पवित्रता ही प्रथम धर्म है और श्रेष्ठ प्रार्थनीय और साधनीय वस्तु है। नानक जी आत्मोत्सर्ग और आराधना सीखने का उपदेश देते थे। वे अपने को प्रवर्तकों की अपेक्षा

श्रेष्ठ और असाधारण गुणों तथा शक्तिशाली नहीं समझते थे। उनका कहना था कि दूसरों की भाँति वे भी एक प्राणी हैं। स्वदेशवासियों को पवित्र जीवन बिताने का वे सदा उपदेश करते थे।

श्री गुरु नानक देवजी का नाम भारत के धार्मिक इतिहास में संत जीवन के ध्याय में सदैव अंकित रहेगा।"

श्री चैतन्य महाप्रभु

श्री चैतन्य महाप्रभु का जन्म बंगाल के नवद्वीप जिले के मायापुर ग्राम में ४८६ ई० को फाल्गुनी पूर्णिमा को हुआ। इनके पिता का नाम श्री जगन्नाथ मिश्र ा।

तब देश की स्थिति अत्यन्त शोचनीय तथा अधर्ममय थी। विदेशी शासन के ारण धर्म का ह्रास हो रहा था। ईश्वर-भक्ति लुप्तप्राय हो गई थी। ऐसी विषम शा में इन गौरांगप्रभु ने भक्ति को पुनर्जीवित करके श्रीहरिनाम संकीर्तन का सर्वत्र चार किया। आपके प्रभाव के कारण सिराजुद्दीन चाँद जैसे काजी और जगाई थाई जैसे भ्रष्ट ब्राह्मण भी ईश्वरानुरागी बन गए।

आप निरन्तर संकीर्तन के आवेश में रहते थे, ऐसा दिव्य भाव उनके ूर्व या पश्चात् अन्य किसी व्यक्ति में देखने में आया ही नहीं। आपके कीर्तन से श्रद्धालु भक्तों के अतिरिक्त कई वेद-विरोधी हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने भी आत्म-संतोप प्राप्त किया।

श्रीगौरांग कीर्तन करते-करते प्रेमोन्मत्त हो उठते। तब वे जिसे भी स्पर्श कर लेते, वह उसी समय सुध-बुध भूलकर नृत्य करता, रोता और भूलुंठित हो मंगलमय श्रीकृष्णनाम पुकारने लग जाता था।

श्रीगौरांग ने २४ वर्ष की युवावस्था में ही संन्यास की दीक्षा श्रीकेशव भारती जी से ले ली थी। श्रीकृष्ण चैतन्य नाम उनका संन्यास लेने पर ही पड़ा था। उनका संन्यास के पूर्व का नाम निमाई पंडित था। यह न्याय के प्रकांड पंडित थे। रोती, बिलखती बुढ़िया, विधवा माता तथा पत्नी श्रीविष्णुप्रिया को छोड़ काशी होते वृन्दावन पहुँचे। वहाँ वे व्रज-रज में लोटते-लोटते बेसुध रहते। दक्षिण में नाम प्रचार करके जगन्नाथ पुरी लौटे। एक बार घर जाकर तड़पती मां और विलखती पत्नी को धैर्य बंधा आए। फिर वे जगन्नाथ में ही विराजे।

सिद्धान्त—इनके सिद्धान्त में द्वैत एवं अद्वैत का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है।

मुख्य उद्देश्य—इनका मुख्य उद्देश्य भगवद्भक्ति एवं भगवन्नाम का प्रचार करना और जगत् में प्रेम और शांति का साम्राज्य स्थापित करना था। न तो आप कभी किसी वाद-विवाद में पड़े, न अन्य साधनों की निन्दा की। कलिमल-ग्रस्त, जीवों के उद्धार के लिए भगवन्नाम के जप एवं कीर्तन को ही मुख्य एवं सरल उपाय माना।

शिक्षा—इन्होंने 'शिक्षाष्टक' में अपने उपदेशों का सार भर दिया है। सारांश में—

(१) भगवान् श्रीकृष्ण का नाम और गुणों का कीर्तन सर्वोपरि है जो चित्त रूपी दर्पण को स्वच्छ कर देता है।

(२) भगवान् के विभिन्न नामों में भगवान् की पूर्ण भगवती-शक्ति निहित है।

(३) अपने को तिनके से भी छोटा समझना चाहिए। स्वयं मान रहित रहकर दूसरों का सम्मान करना चाहिए। जन्म-जन्मांतर में श्रीकृष्णजी के चरणों में अहैतुकी भक्ति बनी रहे।

कलिसंतरणोपनिषद् के महामंत्र—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

के कीर्तन पर बल दिया। साथ ही साथ दैवी-सम्पत्ति के प्रधान लक्षणों, दया अहिंसा, सत्य, समता, उदारता, परोपकार, परदुःखकातरता, मैत्री, धैर्य, अनासक्ति शौच इत्यादि तथा आचरण की पवित्रता को प्रधानता दी।

प्रभाव—इनके व्यक्तित्व का लोगों पर ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि श्री प्रकाशानन्द सरस्वती जैसे अद्वैत-वेदान्ती तथा वासुदेव सार्वभौम जैसे परम-ज्ञानी इनके कुछ समय के संग के प्रभाव से श्रीकृष्ण-प्रेमी बन गये। यही नहीं, इनके जीवन में अनेक अलौकिक घटनाएं घटीं जो किसी लौकिक मनुष्य के लिए सम्भव नहीं।

गोस्वामी तुलसीदास

जन्म—श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म सन् १४६७ ई० श्रावण शुक्ला सप्तमी को सरयूपारीण ब्राह्मण आत्माराम के घर हुआ। इनकी माता का नाम हुलसी था। उनके ग्रन्थों में उनकी भक्ति-जन्य दीनता की झलक तो अवश्य मिलती है, किन्तु उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं चलता।

विवाह तथा गृह-त्याग—उनका विवाह २९वें वर्ष में विदुषी रत्नावली से हुआ था जिनके प्रति उनकी बड़ी गहरी आसक्ति थी। एक दिन जब वह मायके चली गई,

तुलसीदास जी छिपकर रात को वहां जा पहुंचे, जिस पर उसे बड़ा संकोच हुआ और उसके मुख से निकल पड़ा :

> अस्थि चर्ममय देह मम, ता पर ऐसी प्रीत।
> तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटहिं भव भीति ॥

यह बात तीर के समान उनके मर्मस्थल पर जा चुभी, वे तुरन्त वहां से चल ए और प्रयाग आये। तब से ही विरक्त जीवन व्यतीत करने लगे।

यात्रा—चौदह वर्ष तक लगातार चारों धामों की यात्रा करके वैराग्य और ातिक्षा को बढ़ाया। श्री नरहर्यानन्द जी को अपने गुरु-रूप में वरण किया।

तुलसीदास जी का आविर्भाव उस काल में हुआ जब समाज की दशा अत्यन्त ोचनीय थी। राजनीतिक अत्याचारों के कारण जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। स समय तुलसी की आशाजनक, प्रभावोत्पादक. समन्वयकारी वाणी से जनता को बते हुए को तिनके का सहारा मिला। तुलसी एक साथ ही भक्त, पंडित, सुधारक, ोकनायक, भविष्य-स्रष्टा और क्रान्तदर्शी कवि थे।

तुलसी ने दशरथ-पुत्र राम को अपना इष्टदेव बनाया। उन्होंने उनका वर्णन ह्म के अवतार के रूप में किया है। तुलसी के राम शक्ति, शील और सौन्दर्य के शाभूत संग्रह थे। वे असुर-दलन थे, वे संरक्षक थे, पालक थे और थे भक्त-वत्सल। ुलसी रामानन्दी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे; सगुणोपासक थे।

रामचरितमानस—रामचरित मानस की रचना अवधी भाषा में की। रामचरित मानस भारत के घर-घर में बड़े आदर और भक्ति के साथ प्रमुख धर्म ग्रन्थ के रूप में पढ़ा जाता है।

उत्तरी भारत के गंवार देहाती किसानों से लेकर प्रकाण्ड पंडित तक इसके सध्ययन से भाव-विभोर हो उठते हैं।

भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म तथा विचार, अथवा भारतीय साहित्य का चरम विकसित रूप यदि एक ही रचना में देखना है तो वह है तुलसीकृत राम-चरित मानस। इन्होंने रामचरित मानस में समाज तथा धर्म-भेद में समन्वय स्थापित करते हुए तात्कालिक भेद-भाव मिटाकर शान्ति स्थापित की। रामचरित मानस के अतिरिक्त 'विनय-पत्रिका' आदि कई ग्रंथ इनके द्वारा रचे गये।

दार्शनिक सिद्धान्त—इनकी रचनाओं में वेदान्त के सभी दृष्टिकोणों का सुन्दर समन्वय है।

ज्ञान और भक्ति के भेद को मिटा, भक्ति को उच्चासन पर बिठाया, सगुण, निर्गुण को अभिन्न बतलाया।

"सगुनहिं, अगुनहिं नहिं कछु भेदा।"

राम-कृष्ण, राम-शिव, वैष्णव-शैव-शाक्त आदि सभी सम्प्रदायों में समन्वय उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। राम-राज्य का वर्णन कर राजनीति और समाज का पथ-प्रदर्शन किया।

जीवन को सुख तथा शांतिमय बनाने के लिए आध्यात्मिक साधना का मुख्य आधार राम-नाम बतलाया। नाम महिमा का गुणगान किया।

इनकी रचनाओं में हृदय और बुद्धि का समन्वय है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—

"गोस्वामीजी का सारा काव्य ही समन्वय की एक विराट चेष्टा है। इसमें लोक और शास्त्र, गृहस्थ और वैराग्य, भक्ति और ज्ञान, निर्गुण और सगुण, ब्राह्मण और चांडाल इत्यादि प्रत्येक क्षेत्र में अद्‌भुत समन्वय स्थापित करने का यत्न किया गया है।

जीवन की प्रत्येक समस्या के समाधान का मूल साधन रामचरित मानस है। नाम-स्मरण से जीवन की संपूर्ण समस्याएं हल हो जाती हैं।

श्री रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—

"तुलसी के मानस से जो शील, शक्ति सौन्दर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँच कर भगवान् के स्वरूप को प्रतिबिम्बित किया। रामचरित की इसी जीवन व्यापकता ने उनकी वाणी को राजा-रंक, धनी-द्ररिद्र, सबके हृदय और कंठ में चिरकाल के लिए बसा दिया। गोस्वामी जी की वाणी में जो स्पर्श करने की शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है।"

तुलसी जी ने अपनी अलौकिक वाणी द्वारा भगवान् के भक्त-वत्सल, दुष्ट-नाशक रूप का वर्णन कर भग्न हृदय हताश हिन्दू जनता को आत्मबल प्रदान किया और निराशापूर्ण जीवन के लिए प्रफुल्ल जीवन का उदार रूप सामने रखा—

आपकी रचना स्वान्तःसुखाय होते हुए भी सर्वान्तःसुखाय है।

तुलसीदास जी ने रामकथा के माध्यम से जो उपदेश दिये हैं वे भारतीय संस्कृति के सार हैं। सरल जीवन, कर्त्तव्य-पालन और आदर्श-निष्ठा भारतीय-संस्कृति के सदा से आधार-स्तम्भ रहे हैं। तुलसीदास जी ने इन्हीं की पुनः प्रतिष्ठा की थी। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि जीवन में राम-भक्ति ही मुक्ति का उपाय है। राम सदा दुष्टों का नाश करते हैं एवं साधुओं और सज्जनों पर कृपा करते हैं। उनके इन्हीं मूल्यवान उपदेशों के कारण आज भी उत्तर भारत के घर-घर में 'रामचरित मानस' का आदर होता है।

भक्त सूरदास
(१५४०—१६२०)

हिन्दुओं के स्वातन्त्र्य के साथ ही साथ वीर गाथाओं की परम्परा भी काल के अन्धकार में जा पड़ी थी। हिन्दुओं ने अपनी स्वतन्त्रता के साथ ही सब कुछ गंवा दिया, परन्तु सर्वस्व गंवा कर भी वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम रखने की वासना नहीं छोड़ सके। उन्होंने सभ्यता और संस्कृति आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया और उनकी भक्ति का स्रोत देश के कोने-कोने में दूर तक फैल गया। चैतन्य महाप्रभु और श्री वल्लभाचार्य जी ने परम भाव की उस आनन्द विधायिनी कला का दर्शन करा कर, जिसे प्रेम कहते हैं, जीवन में सरसता का संचार किया।

प्रेम-संगीत की धारा में उदासी और खिन्नता वह गयी और लोक का सुखद पक्ष निखर आया। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएं श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने लगीं जिनमें सबसे ऊंची, सुरीली और मधुर झंकार अंधे सूरदास की वीणा की थी। सूरदास कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनकी कवितायें बड़ी रोचक हैं। सूरदास की रचना का ढंग ही अनूठा है। सूरदास को कवि जगत् का सूर्य भी कहा जाता है।

सूरदास का जन्म १५४० ई० में आगरा के निकट हुआ था। ये जाति के ब्राह्मण थे। ये श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। व्रजभाषा एवं कृष्ण-भक्ति शाखा में इनका स्थान सर्वोच्च माना जाता है। सूरदास ने लगभग सवा लाख पदों की रचना की जिनमें अब तक केवल कुछ हजार ही प्राप्त हो सके हैं। इन्होंने पांच ग्रंथों की रचना की थी—'सूर-सागर', 'सूर सारावली' 'साहित्य लहरी', 'नल-दमयन्ती' और 'व्याहलो'। इन ग्रन्थों में इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ सूर-सागर है। इसके सभी पद गेय हैं।

सूरदास को कृष्ण के बालरूप के चित्रण में अद्वितीय माना जाता है। 'वात्सल्य' एवं शृंगार के क्षेत्र में भी इनकी अपूर्व पहुँच थी। 'भ्रमरगीत'* में व्रज की गोपियों के विरह का वर्णन बहुत ही वाग्विदग्ध एवं मर्मस्पर्शी ढंग से किया है।

---

* यह एक उपालम्भ काव्य है।

भ्रमर-गीत प्रसंग द्वारा सूर ने सगुणोपासना को निर्गुणोपासना से श्रेष्ठ बताने और प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

किसी बात को घुमा-फिरा कर कहना ही इनकी कविता की विशेषता है। सूरदास की भक्ति के पदों में एक तन्मयता है, जिनमें कवि ने सख्य भाव से अपने उपास्य देव की आराधना की है। सूर की बाल-लीला का वर्णन सम्पूर्ण विश्व के पारि वारिक जीवन से सम्बद्ध है। इसमें हम तत्कालीन पारिवारिक और सामाजि जीवन की झाँकी पाते हैं। सूरदास ने अपनी सारी कवितायें शुद्ध एवं मधुर ब्रजभाष में लिखी है। सूरदास का देहावसान 'पारसोली' ग्राम में १६२० ई० में हुआ।

भक्त श्री तुकाराम

जन्म तथा विवाह—श्री तुकाराम जी का जन्म महाराष्ट्र में देहू नामक ग्राम में एक पवित्र कुल में १६०८ ई० में हुआ। कुल-प्रथानुसार १३ वें वर्ष में ही इनका विवाह हो गया, पर इनकी पत्नी रखूबाई दमे के कारण सदा रुग्ण रही। उससे कोई सन्तान न होने पर इनका दूसरा विवाह कर दिया गया, पर इस बार जिजाई नाम की जो देवी आई वह पूर्णतया क्रोध की मूर्ति निकली। चार साल तक तो गृहस्थ जीवन ठीक निभ गया, पर बाद में संकट काल आ उपस्थित हुआ।

संकट काल—इधर तो पिता-माता चल बसे, उधर बड़ी भावज के मरने पर बड़े भाई पूर्ण विरक्त होकर घर-बार छोड़, जीवन भर के लिए तीर्थ-यात्रा को चले गये। अब तुकाराम का मन भी संसार से उखड़ने लगा। साथ ही घर में दूसरी पत्नी का रात-दिन के कलह से उनकी स्थिति बिगड़ गयी।

परीक्षा-काल—परन्तु इन्होंने इन संकटों को सहर्ष झेला, जो इनकी सहिष्णुता का द्योतक है। इस प्रकार सोना तपकर मानो कुंदन बन रहा था। उनकी सहिष्णुता का एक अन्य उदाहरण : एक बार ये खेत से गन्ने का गट्ठर ला रहे थे, राह में बच्चों ने सभी गन्ने ले लिये। घर आने तक केवल एक बचा रहा। भूखी पत्नी जिजाई जी ने वही गन्ना क्रोध से उनकी पीठ पर दे मारा। आप बोले 'धन्यवाद, जो आपने स्वयं ही गन्ने के दो टुकड़े कर दिये, आधा तो मैं आपको देने ही वाला था।'

अन्ततः दुःख के इस प्रचण्ड दावानल से तुकाराम वैराग्य-कंचन होकर निकले। इन्होंने योग-क्षेम का सारा भार भगवान् पर छोड़कर निरन्तर भजन करने का निश्चय कर लिया।

भगवत्कृपा से कठिन साधना के फलस्वरूप तुकाराम जी की चित्त-वृत्ति अखण्ड, नाम-स्मरण में लीन होने लगी। इसी अवस्था में इनके मुख से अभंग-वाणी

निकलने लगी। ज्ञानमयी सारगर्भित कविताओं को इनके मुख से स्फुरित होते देख ज्ञानी जन भी चकित हो जाते और भावपूर्वक चरणों में नतमस्तक होते।

प्रभाव—सब प्रकार के लोग इनके स्वानुभव-सिद्ध उपदेशों से लाभ उठाते थे। छत्रपति शिवाजी भी इनको अपना गुरु बनाना चाहते थे, पर अन्तर्दृष्टि से जानकर कि शिवाजी के नियत गुरु समर्थ रामदास ही है, तुकाराम ने उन्हें समर्थजी की ही शरण में जाने का उपदेश दिया। फिर भी, शिवाजी महाराज इनकी बहुत श्रद्धा करते रहे। इनके जीवन में लोगों ने अनेक चमत्कार भी देखे।

अन्त—१६५० ई० में प्रातःकाल चैत्र कृष्ण द्वितीया को इन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

स्मारक—इनकी अभंग वाणी आध्यात्मिक जगत् की अमूल्य एवं अमर सम्पत्ति है। यह अभंगवाणी मानो उनकी वाङ्मयी मूर्ति ही है।

अध्याय १४

मुगलों की भारतीय संस्कृति को देन

भारत प्राय: सदैव ही छोटे बड़े राज्यों में बँटा रहा, अशोक और चन्द्रगुप के उपरान्त मुगल काल में ही ऐसा सम्भव हो सका कि भारत का एक बड़ा भू-भा एक ही राज-सत्ता के अधीन हो। भारत में मुगलों का राज्य दीर्घ काल तक र अत: कोई आश्चर्य नहीं यदि उन्होंने हमारे देश की जीवन पद्धति तथा भारती संस्कृति पर अपना कुछ प्रभाव छोड़ा हो। वस्तुत: हमारे कला-कौशल, साहित्य चित्रकला, संगीत-कला, वास्तु-कला आदि पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा है।

शिक्षा क्षेत्र में—साहित्य प्रेमी बाबर के समय से ही शासन का एक ऐस विभाग बना दिया था जिसका मुख्य ध्येय शिक्षा संस्थाओं की उन्नति पर विशे ध्यान देना था। हुमायूं को तो पुस्तकों की अतीव रुचि रही। उसने एक पाठ शाला खोली तथा दिल्ली के पुराने किले में पुस्तकालय स्थापित किया। मुगलों समय में जब भी आगरे या फतहपुर सीकरी में राजधानी रही, वहाँ अनेक पाठ शालाएँ खोली गयीं। अकबर, जहांगीर, शाहजहाँ सभी के समय में विद्या के प्रचा में उन्नति होती रही। बेगमों और शहजादियों की शिक्षा की ओर भी विशेष ध्या दिया गया।

साहित्य तथा ऐतिहासिक रचनायें—मुगलों के समय में विद्वानों को बराब संरक्षण मिलता रहा। आइने अकबरी, मुआसीरे-जहाँगीरी, अकबरनामा, हुमायूंनाम शाहनामा जैसे ग्रंथ भारत के उस समय के इतिहास पर बहुत प्रकाश डालते हैं इनके अतिरिक्त संस्कृत के अनेक धार्मिक ग्रन्थों जैसे, महाभारत, रामायण औ लीलावती के अंकगणित का फारसी में अनुवाद हुआ।

पंजाब में बुल्लाशाह ने अध्यात्मवादी कविता की धारा प्रवाहित की।

हिन्दी साहित्य—विद्यापति के उपरांत रामभक्ति और कृष्णभक्ति के द महाकवि तुलसी और सूरदास इसी युग की देन है, हिंदी का समृद्ध एवं सर्वोत्कृष्ट

साहित्य इसी युग में निर्मित हुआ। इसी कारण इस युग को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग भी कहते हैं। नाभादास जी ने भक्तमाल की रचना की।

वास्तु कला—मुगल युग की इमारतों, हुमायूँ का मकबरा, फतहपुर सीकरी के महल, सिकंदरा में अकबर का मकबरा, लाहौर में जहांगीर का मकबरा और आगरे की मोती मस्जिद आदि में भारतीय तथा फारसी शैलियों के सुन्दर समन्वित रूप का पर्याप्त विकास हुआ है। इसी कला का परिष्कृत स्वरूप शाहजहाँ के ताजमहल में चरम सीमा को पहुँचा है, किंतु नये गवेषक उसे इसका पूर्ण श्रेय न देने के प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं।

चित्रकला—हिंदू कुशल चित्रकारों की संख्या में वृद्धि हुई। ईरानी कला और भारतीय कला के सुंदर सम्मिश्रण से एक नई शैली 'मुगल शैली' का जन्म हुआ।

उद्यान निर्माण कला—मुगलों की बड़ी देन उद्यान-निर्माण कला की भी रही है। मुगलों से पहले उद्यान तो थे, पर वे फलों के लिये लगाये जाते थे, केवल फूलों के लिये नहीं। पुष्प उद्यानों की दृष्टि से कश्मीर का शालीमार बाग, निशात बाग और लाहौर का शालीमार बाग देखते ही बनता है। इन बागों में नहरों से जल लाकर ऊँचाई से कई स्थानों पर नीचे गिराकर प्रपातों का अति मनोहर दृश्य उत्पन्न किया जाता था। फव्वारे और बारहदरियों की शोभा निराली थी। उद्यानों की इस मनोहरी सुषमा के कारण ही कश्मीर को पृथ्वी का स्वर्ग कहा जाने लगा। इत्र के अन्वेषण का श्रेय भी जहांगीर की मलिका नूरजहां को है।

संगीत— भारतीय संगीत भी मुगल युग के प्रभाव से लाभान्वित हुआ। भारतीय राग, रागनियों तथा वाद्य-यन्त्रों में वृद्धि हुई। संगीत-विशेषज्ञ के नाते अकबर के नव-रत्नों में तानसेन भी थे।

दीने-इलाही

कुल प्रथा—दूरदर्शी बाबर अपने मरने से पहले हुमायूं को अपनी **वसीयत***
में अपने नवस्थापित शासन की स्थिरता के लिये समझा गये थे कि वह भारत की

---

*"हिन्दुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान् को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का बादशाह बनाया है। तुम पक्षपात से काम न लेना, निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी धर्मों की भावना का ख्याल रखना। गाय को हिन्दू पवित्र मानते हैं, अतएव जहां तक हो सके, गोवध नहीं करवाना, और किसी भी सम्प्रदाय के पूजा के स्थान को नष्ट नहीं करना"। —बाबर की वसीयत।

हिन्दू जनता की प्रसन्नता-प्राप्ति का सतत प्रयत्न करते रहना अपना मुख्य कर्तव्य मानता रहे।

ऐसी ही अन्तिम शिक्षा हुमायूं भी अपने अशिक्षित व अल्पवयस् बेटे अकबर के मार्ग-प्रदर्शन के लिये छोड़ गया। अकबर ने स्वयं भी अपनी वसीयत में सहिष्णुता की नीति पर बल दिया, जिसका अनुसरण जहांगीर और शाहजहां ने भी किया है। वह उन्हें कह गया था कि वे राष्ट्रीय राज्य और भारत की एकता को अक्षुण्ण बनाये रखें और हिन्दुओं के प्रति मित्र भावना भी बनाये रखें।

राजपूतों के साथ सम्बन्ध—अकबर ने राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने की भावना से राजपूतों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। अकबर की इन राजपूत पत्नियों को न केवल अपने हिन्दु धर्म पर दृढ़ रहने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, अपितु उनके लिये राजमहलों में ही पूजार्थ मन्दिरों की व्यवस्था कर सब प्रकार की सुविधायें भी थीं। इस सहिष्णुता तथा उदारता का स्थायी सत्प्रभाव पड़ा।

धर्म समन्वय—यद्यपि अकबर की दीक्षा सुन्नी मत में हुई थी, पर इसकी कट्टरता से ऊब कर वह शिया धर्म की ओर मुड़ा। कुछ दिनों तक पारसियों की अग्नि-पूजा भी चली। आगरे से राजधानी फतेहपुर सीकरी में बदल कर सूफियों के तत्कालीन पूज्य संत सलीम चिस्ती के प्रभाव में भी अकबर पन्द्रह साल तक रहे। वहां सब धर्मों के विद्वानों की सभाएं इसी उद्देश्य से बनाये गये इबादतखाना (धर्म की चर्चा का स्थान) में होती थी, जिनके सभापति अकबर स्वयं बनते। वे जहाँ मुस्लिम औल्याओं के सम्पर्क में आये वहाँ हिन्दू संतों (हरिदास, मीरा आदि), के दर्शनार्थ भी जाते।

वे सिक्ख गुरुओं में भी श्रद्धा रखते थे। गोआ से इसाई पादरी बुलवा कर उनसे अंजील सुनते। जैन आचार्यों से योग के महत्त्व को जानने के लिये उत्सुक रहते। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के विद्वानों और पण्डितों के सम्पर्क में आने से उन्हें धर्म के वास्तविक तत्त्व का बहुत कुछ ज्ञान हो गया था।

अन्ततोगत्वा उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि हर धर्म में कुछ न कुछ सत्य अवश्य रहता है। सच्चा धर्म बाहर के रीति-रिवाजों में न रहकर हृदय की शुद्धता में निहित है जो शान्तिप्रद हो सकती है। अतः यही अच्छा रहेगा कि सब मत-मतान्तरों के गुण लेकर धार्मिक एकता स्थापित की जाय, जो सब भेद-भाव मिटाकर राष्ट्रीय एकता में पर्याप्त सहायक होगी। उन्हें प्रेम और उदारता के कारण जनता के हृदय को आकर्षित करने में सफलता मिली।

दीन-ए-इलाही मत की स्थापना—ऐसे वातावरण में अकबर ने दीने-इलाही को स्थापित किया, दीने इलाही में सब धर्मों की विशेषताओं का समावेश किया गया। मूलतः यह कोई नया धर्म नहीं था।

इससे अकबर और भी उदार होता चला गया। वह न मुस्लिम राज्य चाहता था, न हिंदु राज्य। वह भारतीय राष्ट्र चाहता था। अतः उसने भारतीय राष्ट्र की नींव रखी।

सम्पूर्ण राज्य में राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक एकता लाना उसका लक्ष्य रहा। इसीलिए उसने तीर्थयात्रा-कर जजिया समाप्त कर दिये। गोहत्या भी वन्द करा दी। दीन-ए-इलाही में पुरोहितों की आवश्यकता न रही। इसमें रहस्यवाद दर्शन तथा प्रकृति पूजा के भी सिद्धान्त थे।

दीन-ए-इलाही के सिद्धान्त —१. इस जगत् में ईश्वर एक है, और अकबर दीने इलाही का प्रवर्तक है। किसी देवता या पैगम्बर की कोई आवश्यकता नहीं।

२. पशुहिंसा को पाप समझो। मांस भक्षण से परहेज होना चाहिए।
३. अन्ध-विश्वास की जगह बुद्धि का उपयोग उचित है।
४. सूर्य और अग्नि पूजा नित्य प्रति करनी चाहिए।
५. सब धर्मों के प्रति आदर का भाव बनाये रखना।
६. मुर्दों को दफन करना।

उद्देश्य राष्ट्र-निर्माता राजनीतिज्ञ अकबर का उद्देश्य समस्त प्रजा को केवल एक राष्ट्रीय धर्म के झण्डे तले लाना था। परन्तु बादशाह होते हुए भी अकबर ने किसी दरबारी पर भी अपने प्रभाव का दुरुपयोग करके जबरन यह मत मनवाने की चेष्टा नहीं की। बादशाह के इस मत का बीरबल अनुयायी हो गया, किन्तु राजा भगवानदास, दीवान टोडरमल, राजा मानसिंह आदि ने इसे स्वीकार नहीं किया था। अकबर को धर्मगुरु बनने की इच्छा नहीं थी। वह कहा करता था—मैं क्योंकर लोगों को सच्चे रास्ते पर चलाने वाले एक नेता होने का दावा करूँ, जबकि मुझे स्वयं ही एक मार्गदर्शक की आवश्यकता है।

दीने-इलाही एक राजनीतिक आवश्यकता थी, जिसके द्वारा अकबर ने हिन्दु मुस्लिमों को एक प्रेमसूत्र में बांधने का सत्प्रयत्न किया था। इस धर्म से वे पहले पड़े घावों पर मरहम-पट्टी करना चाहते थे।

परिणाम—(१) हिन्दु-मुस्लिम के पुराने वैर-भाव की लगभग समाप्ति हो चली।

(२) हिन्दू शताब्दियों बाद आश्वस्त हुए।
(३) पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ी।
(४) इससे राज्य को शक्ति प्राप्त हुई और मुगल राज्य की नींव पक्की पड़ गयी।

पर सब कुछ होते हुए भी अकबर की मृत्यु के साथ ही दीने-इलाही भी समाप्त हो गया। यद्यपि इसका कोई स्थिर प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, तो भी उस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों के दर्शन तो इसमें होते ही हैं।

दारा शिकोह—शाहजहाँ के सबसे बड़े बेटे दाराशिकोह अपने समय के महा विद्वानों में से थे। इस शाहजादे ने सूफियों के कादरिया सम्प्रदाय में दीक्षा ले थी। इनके विचार में वेदान्त पर मनुष्य-मात्र का अधिकार है। यह ज्ञान का द्वा सबके लिए खुला है।

ये अरबी, फारसी, संस्कृत तथा हिन्दी के पण्डित थे, तभी तो 'मजमा उल्-बहरीन (समुद्र-संगम)' आदि कई ग्रंथों की रचना कर सके। दारा शिकोह ने शंकर-भाष्य, गीता, योगवासिष्ठ तथा प्रबोध-चन्द्रोदय का अनुवाद करके वेदान्त का महत्त्व बढ़ाया। खेद की बात यह रही कि औरंगजेब के द्वारा इनकी रचनाओं के प्रसार की मनाही कर दी गयी।

इनका सूफी सन्तों के साथ-साथ कई हिन्दू-सन्तों से भी सम्पर्क रहा। जैसे अलवर के श्री चरणदास और सरहिंद का बाबू लाला।

दारा की विद्वत्ता तथा उदारता ही उस के लिये घातक बनी। औरंगजेब ने जब अपने पिता को कैद में डाला तो इसकी भी हत्या करा दी। औरंगजेब के भय से किसी ने भी इस अभागे राजकुमार को शरण देने का साहस न किया।

अध्याय १५

भारतीय धर्म तथा संस्कृति के प्रमुख संरक्षक

सिक्खों का उत्थान

प्रवर्तक—मुगल-साम्राज्य के समय भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए, भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में, भक्ति की धारा प्रवाहित हुई; पंजाब में उसे चलाने का श्रेय श्री गुरु नानक को है। आपने अपनी तपस्या, भक्ति और ज्ञान के प्रभाव से भारतीय संस्कृति का सिक्का काबुल, ईरान, ईराक, अरब तथा दूसरे देशों में भी जमाया। श्री गुरु नानक देव ने कोई नया धर्म चलाने की कभी इच्छा नहीं की थी, अपितु वे तो भारतीय वेदान्त और ईरानी तसव्वुफ (सूफीवाद) से प्रभावित होकर पहले से चले आ रहे हिन्दू-मुस्लिम धर्मों में मेल पैदा कर, एक करना चाहते थे। उन्होंने अकेले अपनी शिक्षाओं तक सिक्ख-धर्म को सीमित नहीं रखा, वरन् उसका और आगे विकास गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन देव, गुरु हरिगोविन्द, गुरु हरिराय, गुरु हरिकिशन, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्द सिंह द्वारा हुआ * जिनके प्रकाश ने दो सौ साल से अधिक काल तक जनता का मार्ग प्रदर्शन किया। इन हृदय-प्रधान संतों ने भोली जनता के लिये धर्म के गूढ़ रहस्यों को उनकी अपनी भाषा में सीधे-सादे शब्दों में रखा।

शिष्य—इनके चेलों के लिए 'शिष्य' शब्द का प्रयोग होने लगा जिसका केवल 'सिक्ख' रूप रह गया। इन लोगों में नम्रता कूट-कूट कर भरी थी। ये सब उत्साही, शील-सम्पन्न और भावुक तो होते हैं, इनका हृदय भगवन्नाम में और तन सेवा में लीन रहता है।

---

* कहा जाता है कि गुरु नानक की ज्योति क्रमशः इन गुरुओं में प्रकट होती गई।

सिद्धान्त—ईश्वर की कल्पना 'अकाल पुरुष' में की गयी, जो सृष्टि के कण-कण में रमा हुआ है। माया सहित वेदान्त को ही आधार माना गया और जीव को ब्रह्म का अंश। कर्म और पुनर्जन्म में आस्था पर बल दिया गया। गुरु-परम्परा, नामजप ध्यान, समाधि को महत्त्व दिया गया। संस्कारवाद, देवतावाद व जातिवाद की उपेक्षा की गई।

लक्ष्य—(क) पूर्ण शरणागति और गुरु पर आस्था की मान्यता।
(ख) मद्य-निषेध पर बल
(ग) मोक्ष-प्राप्ति की स्वीकृति।

धर्म-ग्रन्थ—श्री गुरु-ग्रंथ साहिब में प्रथम पाँच गुरुओं की वाणियों का संकलन श्री गुरु अर्जुन जी द्वारा हुआ। इनके अतिरिक्त नवें पादशाही गुरु तेगबहादुर के पद और दशम-पादशाही श्री गुरु गोविन्द सिंह जी का भी एक दोहा है। बड़े-बड़े सन्तों, बाबा फरीद, कबीर, रविदास, जयदेव आदि की वाणियां बेजोड़ हैं।

गुरु-वाणी में हिन्दू-धर्म के ही मुख्य-मुख्य अंगों का प्रतिपादन किया गया है जिनमें से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

ओंकार महिमा—श्री गुरु ग्रंथ-साहिब का आरम्भ ही ओंकार से होता है जैसे—इक ओंकार, सतनाम-कर्त्ता-पुरुष इत्यादि। यथा

हरि जू सदा ध्याए तू गुरु मुख एक ओंकार।
ओंकार ब्रह्म-उत्पत, ओंकार वेद निर्माए॥
ओंकार अक्खर सुनहु विचार, ओम्-अक्खर त्रिभुवन सार।
प्रणवों आदि एक ओंकारा, जल थल महि थल किया पसारा॥

अवतारवाद—दशम-ग्रंथ में श्री गोविन्द सिंह जी के मुखारविन्द से निःसृत शब्द:—

जब जब होत अरिष्ट अपारा। तब तब देह धरत करतारा॥

वेदान्त— ईश जीव में भेद न जानो
साधु, चोर सब ब्रह्म पहचानो
वासुदेव बिन अवर न कोई
नानक ओं सोऽहं आतम सोई।

राम-नाम-महिमा—सिक्ख सम्प्रदाय की नींव ही राम-नाम है। गुरु ग्रंथ साहिब में स्थान-स्थान पर राम-नाम की महिमा लिखी है। राम तो गुरु नानक के पूर्वज हैं। गुरु नानक अपनी वंशावली का उल्लेख इस प्रकार करते हैं :—

सूरजवंशी रघु भया रघुकुल-वंशी राम
रामचन्द्र के दोउ सुत लउ-कुश तेहि नाम।

यह हमारे बड़े हैं—युगां युगां अवतार संग
सखा सब तज गए कोउ न निबहू साथ
कहि नानक इस विपत में टेक एक रघुनाथ
राम-नाम महामंत्र—न ओ मरे न ठगे जाहिं,
जिनके राम बसे मन माहि।
नानक दुखिया सब संसारा—सुखिया केवल नाम अधारा।

कृष्ण महिमा— एक कृष्णं सर्व देवा, देव देवात आत्मः
आत्मं श्री वासुदेवाय, जे को जानस भेद।
नानक ताका दास है, सोई निरंजन देव
आपे गोपी आपे कान्हा, आपे गऊ चरवावै बाना ॥

भगवती महिमा —नमो जोग जोगेश्वरी जोगमाया

गौ-महिमा— ब्राह्मण गौ वंश घात अपराध करारि।

ग्रन्थ साहित्र की लिपि—हिन्दी की देवनागरी लिपि पर ही आधारित गुरु-मुखी लिपि श्री गुरु अंगद जी ने चलाई। गुरु नानक के अनमोल वचनों को सबसे प्रथम इन्होंने ही लेखबद्ध किया।

श्री गुरु नानक के सरल उपदेशों को सब जाति वालों ने सहर्ष ग्रहण किया। इन शिष्यों में समानता की भावना पर उत्पन्न करने के लिये श्री अमरदास जी ने लंगर-प्रथा आरम्भ की जिसमें सब छोटे-बड़े जाति-भेद मिटा कर एक ही पंक्ति में बैठ कर भोजन करते थे।

मुख्य तीर्थ—अमृतसर—यह अमृत का तालाव श्री गुरु रामदास जी ने बनवाया जिसके चारों ओर अमृतसर का नगर बस गया। उनकी प्रबल प्रेरणा और उस नगर की जनता के सहयोग से इसमें अति सुन्दर आकर्षक एक स्वर्ण-मन्दिर बनाया गया।

होती थी उसको आज 'अरदास' के रूप में पाते हैं। उन्होंने सशस्त्र सेना को संगठित किया। भेंट के रूप में शस्त्र-अस्त्र स्वीकार करने लग गये।

गुरु तेगबहादुर का बलिदान—अब औरंगजेब द्वारा धर्म-परिवर्तन का चक्र जोरों से चला तो पीड़ित लोग गुरु जी के पास फरियाद लेकर पहुंचे। गुरु जी ने कहा—किसी महापुरुष के बलिदान के बिना, हिन्दू-धर्म की रक्षा असम्भव है। बहादुर-बाप के बहादुर-बेटे श्री गुरु गोविन्द जी के मुख से तत्काल स्वभावतः निकल गया—पिता जी, तो आप से बढ़कर दूसरा महापुरुष कौन होगा ? उन्होंने तुरन्त ही बलिदान की राह निकाल ली। औरंगजेब ने उन से धर्म परिवर्तन के लिए कहा। उनके अस्वीकार करने पर औरंगजेब ने उनका शीश धड़ से अलग कर दिया। दिल्ली चांदनी-चौक में स्थित शीशगंज आज भी उनकी वीरगति की अमर गाथा गा रहा है।

दसवें तथा अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह—सिक्ख गुरु-परम्परा में आपका विशिष्ट स्थान है। गुरु नानक की ज्योति का प्रकाश एवं अर्जुनदेव जी की राजवृत्ति के विकसित रूप का सम्मिलन है। आप एक परम तेजस्वी संत, साहित्य-प्रेमी, साहित्य-स्रष्टा और राजनीतिज्ञ तथा वीरों में शिरोमणि थे।

आपका जन्म-स्थान पटना था। पटना-नरेश के यहां आपका पालन-पोषण हुआ। आपने संस्कृत और फ़ारसी का अध्ययन किया। बाल्यावस्था से ही सेना बनाकर युद्ध करना आपके खेल रहे, आपने सिक्ख शिष्यों को भी सैनिक वेष देकर सम्प्रदाय में दीक्षित किया। आपकी एकमात्र सुप्रसिद्ध रचना दशम-ग्रंथ है, जिसमें जपजी, (विष्णु-सहस्रनाम की पद्धति पर), चौबीस अवतार, चण्डी-चरित (दुर्गा-सप्तशती का अनुवाद), आदि-आदि रचनाओं का संकलन है।

खालसा की स्थापना—गुरु गोविन्द सिंह जी ने हिन्दू-धर्म तथा गौ-ब्राह्मण की रक्षा के लिए अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाई थी। वे भगवती काली से इस प्रकार प्रार्थना करते थे—

सकल जगत में खालसा पंथ गाजे।
जगैह धर्म हिन्दुन सकल धुन्ध बाजे।

आनन्दपुर में १६६६ ई० की वैशाख को संक्रान्ति के पुण्य-पर्व पर महा-सम्मेलन में गुरु गोविन्द सिंह "सिंह" के समान गरजे—जो मेरी तलवार से बलिदान होना चाहता है, मेरे मंच पर आ जाये। एक बार तो सब चकित रह गये। जान हथेली पर रख कर सहर्ष एक-एक करके पांच वीर शहीद होने को भिन्न-भिन्न जातियों तथा प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते आगे बढ़े। ये थे—

(१) लाहौर के दयाराम खत्री (दया सिंह)
(२) दिल्ली के धन्ना जाट (धर्म सिंह)

(३) जगन्नाथ पुरी के हिमना बहिश्ती (हिम्मत सिंह)
(४) बिदर के साहब राम नापित (साहिब सिंह)
(५) द्वारिका के मोहकन चन्द छेबा (मोहकम सिंह)

इन्हीं पांच-प्यारों से खालिस, शुद्ध खालसा-पंथ की नींव रखी गयी। इन्हीं को गुरुदेव ने अपनी तलवार धोकर अमृत पान कराकर 'सिंह' बनाया और उनमें एक-एक को सवा लाख से अकेले युद्ध कर सकने की शक्ति की दृढ़ भावना का संचार किया।

प्रत्येक स्थिति का सामना करने को सदा तैयार रहने के लिए, सिक्खों को पांच कक्के प्रदान किये—

(१) केश—(जिसे सभी गुरु तथा ऋषि, मुनि, धारण करते आये थे।)
(२) कँघा—(केशों को साफ रखने के लिये)
(३) कच्छा—(स्फूर्ति के लिये जैसे आजकल की निकर)
(४) कड़ा—(नियम तथा संयम में रहने की चेतावनी देते रहने के लिये)
(५) कृपाण—(आत्म-रक्षा के लिये)

इस प्रकार सिक्ख सम्प्रदाय को सैनिक रूप देने के यज्ञ को जिसे गुरु गोविन्द सिंह जी ने प्रारम्भ किया था, और जिसके कुण्ड में त्यागमूर्ति गुरु तेगबहादुरजी ने अपनी बलि दी थी, पूर्णाहुति श्री गोविन्दसिंह जी ने दी।

मुगलों ने भी खालसा को नष्ट-भ्रष्ट करने में पूरा जोर लगा दिया। गुरुदेव सुरक्षार्थ पंजाब की पहाड़ियों में चले जाते। इनके दो वीर पुत्र जोरावर सिंह और फतेह सिंह जो क्रमशः नौ और सात वर्ष के बालक मात्र थे पकड़े गए और दीवार में जीवित ही चुनवा दिये गये क्योंकि उन्होंने हिन्दू-धर्म न छोड़ा था। बड़े दो पुत्र अजीतसिंह और जुम्मारसिंह चमकौर के युद्ध में वीर गति प्राप्त कर गये। दूरदर्शी गुरु गोविन्दसिंह जी यह निश्चित कर गये थे कि उनके बाद भविष्य में गुरु ग्रन्थ साहिब ही गुरु माने जाते रहें और इन्ही से प्रेरणा ली जाया करे। इस प्रकार देहधारी गुरु की परम्परा को बन्द कर दिया गया। इनके सम्बन्ध में विद्वान गार्डनर यों लिखता है—

गुरु जी ने जनता के हृदय में वीरता की भावना प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित की। आप केवल धार्मिक नेता ही नहीं थे, अपितु आप में एक राजनीतिज्ञ एवं योद्धा के सम्पूर्ण लक्षण विद्यमान थे।

हिन्दू-सिक्ख एकता—गुरु नानक देव जी ने इस्लाम से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने के लिये जिस धर्म को जन्म दिया था, गुरु गोविन्द सिंह जी ने उसे

ही इस्लाम के अत्याचारों से बचाने के लिये हिन्दुत्व की ढाल में बदलकर देश और भारतीय संस्कृति का रक्षक बनाया। तभी तो कई वर्षों से सुनते आये हैं कि अगर न होते गुरु गोविन्द सिंह, हिन्दू धर्म का होता नाश। सिक्ख सम्प्रदाय आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व अपने आप को सारे भारत की स्थायी सेना समझता था। हिन्दू उन्हें अपने हृदय से दायीं भुजा का आदर देते थे। प्रत्येक परिवार का बड़ा पुत्र इस सेना में दे दिया जाता था। विदेशियों की नीति में फँस तथा राजसत्ता के लोभ से कुछ सिक्ख भाई अपने आपको हिन्दुओं से पृथक् मानने लगे। परन्तु परस्पर विवाह आदि का प्रचलन अब भी है जो इस उक्ति को चरितार्थ करता है — हिन्दू सिक्ख एक हैं।

समर्थ रामदास और शिवाजी

जन्म तथा बाल्यकाल —महाराष्ट्र में भारती जिले के जाम्ब ग्राम में श्री सूर्य जी पन्त एवं राणुबाई की दूसरी सन्तान के रूप में १६०८ ई० में बालक नारायण का जन्म हुआ। बालक नारायण की समाधि ४-५ साल की आयु से लगनी शुरू हो गयी थी। यदि कभी माता पूछ लेती तो उत्तर देते कि लोक-हितार्थ ध्यान-मग्न हो गया था।

महाराष्ट्र-प्रथा के अनुसार लोकाचार से बारह साल की आयु में जब यह विवाह-मण्डप में बैठे थे, ब्राह्मणों ने 'सावधान' कहना ही था कि यह अनोखा बालक सचमुच सावधान होकर वेदी छोड़ भाग गया। वे ऐसे चम्पत हुए कि १२ साल तक कहीं पता ही न चल पाया। पंचवटी के पास किसी गुफा में चले गये थे। वहां त्रयोदशाक्षर मन्त्र श्री राम जय राम जय जय राम का अनुष्ठान करके उन्होंने सिद्धि प्राप्त की।

तीर्थ यात्रा तथा मठ-स्थापना —१२ साल की कठोर तपस्या के उपरान्त आपने भारत के समस्त तीर्थों, कन्याकुमारी से कश्मीर तक की यात्रा पूरी कर ली। उनका उद्देश्य हिन्दू धर्म का प्रचार करना तथा अखिल भारत में हिंदू राज्य स्थापित करना था।

इसी यात्रा के बीच इन्होंने मठ स्थापित किये जिनमें १८ मठ मुख्य हैं। इनकी विशेषता यह थी कि ये केवल निवृत्ति मार्ग को नहीं अपनाते थे। ये मठ सुदृढ़ गढ़ थे जहाँ श्री मारुति के परायण, धर्म प्रेमी, स्वस्थ, सबल उपासक रहते थे जो अत्याचार पीड़ितों की रक्षा करने में भली प्रकार सक्षम थे। यह उनकी संगठन तथा देश प्रेम का उज्ज्वल प्रमाण था।

रामदास जी ने २४ वर्ष की अनुपस्थिति के पश्चात् अपनी व्याकुल जननी के पास जाकर सान्त्वना दे मातृ भक्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया।

राम प्रेम—कहते हैं कि ब्राह्मण रूप में विट्ठल भगवान् स्वयं इनको पंढरपुर के विख्यात मन्दिर में ले गये जहां इनको विट्ठल भगवान् ने राम रूप में दर्शन दिये। इनके यह पूछने पर कि श्री सीताजी और लक्ष्मण को कहां छोड़ आये ! तुरन्त श्रीराम जी ने श्री सीता जी व श्रीलक्ष्मण जी सहित दर्शन दिये। इनको सब प्राणियों में एक ही ज्योति के दर्शन होते थे। इनका भक्त तुकाराम जी से भी मिलन होता था। आपकी रचनाओं में दासबोध ग्रंथ बहुत प्रख्यात है।

शिवाजी की दीक्षा—शिवाजी महाराज को आपके दर्शनों का सौभाग्य शिगवाड़ी (सिंहानी) के स्थान पर प्राप्त हुआ। बड़ी तलाश के बाद शिवाजी की यह चिरकाल की आकांक्षा पूरी हुई। श्री समर्थ जी को उन्होंने गुरु रूप से वरण कर लिया। शिवाजी बाद में कई बार इनके दर्शनार्थ आते रहे।

एक दिन करज गांव से श्री समर्थ पैदल ही शिवाजी की राजधानी सतारे के राजद्वार पर पहुँचे और श्रीरघुवीर समर्थ का उच्च घोष करके भिक्षा के लिये झोली आगे कर दी। तुरन्त महाराज शिवाजी ने एक पत्र झोली में डाला जिस पर लिखा था…"आज तक जो कुछ भी मैंने अर्जित किया है सब स्वामी के श्रीचरणों में अर्पित है।" सचमुच दूसरे ही दिन वे भिक्षा माँगने श्री समर्थ के पीछे चल पड़े। पर उन्हों समझाया कि राज्य से उनको क्या प्रयोजन ? राज्य करना तो शिवाजी का धर्म है इस प्रकार उनके हठ करने पर अन्त में स्वीकृति देते हुए श्री समर्थ जी ने कहा कि उनकी ओर से राजकार्य शिवाजी ही चलाते रहें। तभी से शिवाजी ने अपना राज ध्वज गेरुवे रंग का रखा। तबसे शिवाजी सदा अपने को सेवक ही मानते रहे, राजा नहीं। उन्होंने शठे प्रति शाठ्यम् की शिक्षा शिवाजी को देकर सावधान कर दिया जिससे दुष्ट इनकी धर्म-परायणता का दुरुपयोग न करने पायें। उनकी ही शिक्षा का प्रताप था कि शिवाजी ने आक्रमणकारियों की किसी बहू-बेटी की ओर आँख नहीं उठाई, न उनकी मस्जिद या धर्म-ग्रंथ कुरान शरीफ का अपमान होने दिया। उनके आशीर्वाद रूप में ही वे दिल्ली के किले से निकल कर उनके द्वारा स्थापित मठों के संगठन का लाभ उठाते सकुशल घर पहुँचे।

अन्त समय आने पर समर्थ गुरु रामदासजी ने अपने इष्ट श्रीराम जी की मूर्ति के सामने आसन लगाकर २१ बार 'हर-हर' का उच्चारण करके ज्यों ही 'राम' कहा त्यों ही उनके मुख से एक ज्योति निकल कर श्रीरामचन्द्रजी की मूर्ति में समा गयी।

ऐसे समर्थ गुरु की निर्लेपता की जितनी सराहना की जाय उतनी ही कम है उन्होंने जहां दुष्टों को नाश करने पर बल दिया वहाँ सावधान भी कर दिया कि इस लोक-संग्रह के पवित्र कार्य में अहंकार लेश मात्र न आने पाये और अपने को केवल निमित्त मात्र ही समझें। देश को ऐसी ही महान् आत्माएँ ऊँचा उठा सकती हैं।

छत्रपति शिवाजी

(१६३०-८०)

महाराष्ट्र में जागृति — सोलहवीं शती के भक्ति-आन्दोलन ने महाराष्ट्र को एक नवीन जीवन प्रदान किया। सन्त एकनाथ, सन्त तुकाराम तथा समर्थ गुरु रामदास जी के भक्ति प्रचार से धर्म के प्रति निष्ठा दृढ़ होती चली। उधर शासकों के देश, धर्म, गायों, ब्राह्मणों, मन्दिरों, सती नारियों तथा असहाय जनता पर अत्याचार करने से देश में उसके विरुद्ध भावना एवं देश-रक्षा का जोश उमड़ उठा। नेता की कमी दैवयोग से शिवाजी के रूप में पूरी हो गयी। मराठों की इस चेतना को प्रदेश की भौगोलिक अवस्था से सहायता मिली तथा उनकी वीर भावना से इस जागृति को और बल मिला। वे मुगल-साम्राज्य से लोहा ले सके।

जीवन-गाथा—महारानी जीजाबाई की कुक्षि से शिवाजी का जन्म हुआ। जन्म से शूर शिवाजी मावली बालकों के साथ उनकी टुकड़ियां बनाकर युद्ध के खेल ही खेला करते थे। अत्यन्त धार्मिक तथा तेजस्विनी वीर माता ने पुराणों, रामायण तथा महाभारत की वीर-गाथाओं से होनहार बालक में वीर भावनायें भर दी थीं। युवावस्था के प्रारम्भ से ही उन्होंने अपने लड़कपन के मावली शूरों का नेतृत्व सम्हाला। धर्म, राष्ट्र एवं संस्कृति की रक्षा के लिये "भवानी" (शिवाजी की तलवार) की शरण ली। उनके प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ, ब्राह्मण-शिक्षक ने भी उनको सर्व-कला-सम्पन्न बनाने में कोई कसर न उठा रखी, पर शिवाजी के जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव समर्थ गुरु रामदास का था। समर्थ गुरु रामदास इनके द्वारा देश को स्वतन्त्र कराने की प्रबल इच्छा रखते थे। राज्य तो शिवाजी ने कभी अपना न समझा, क्योंकि उसे तो उन्होंने समर्थ जी को भेंट कर दिया था। समर्थ के राज्य की प्रतीक वह गैरिक ध्वजा थी। बस, अब सदियों बाद मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने की धुन सवार हो गयी। धीरे-धीरे अफजल खान को मारकर, शाइस्ता खान को भगाकर, बीजापुर के नवाब को संधि करने पर विवश कर लिया। अपनी चतुरता से औरंगजेब की कैद से भाग निकले, तो मुगल बादशाह स्वयं आकर वर्षों तक दक्षिण में डेरे डाले रहे, पर सफल न हो सके। बादशाह का कथन था "मेरा शत्रु महान् सेनानी है। मैंने उन्नीस साल तक उसके विरुद्ध युद्ध का संचालन किया, परन्तु उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।"

शिवाजी का चरित्र—शिवाजी सदाचार तथा सच्चरित्रता की मूर्ति थे। वह जीवन भर एक आदर्श मानव रहे। उनके दर्शनों से ही लोगों की श्रद्धा उनमें हो जाती थी। वे दानी तथा कठोर शासक थे। ऐसे सेनापति थे जिसके चरण

सफलता सदैव चूमती रही। रण-भूमि उनके लिए मनोरंजन मात्र थी। उनके साहस तथा निर्भीकता की सराहना शत्रु भी करते नहीं थकते। वे राष्ट्र-निर्माता, राजनीतिज्ञ तथा सफल प्रशासक रहे।

धार्मिकता—इस मातृभक्त की दुर्गा-भवानी में पूर्ण निष्ठा थी। कट्टर हिन्दू होते हुए भी संकीर्णता उन्हें छू तक न पायी। हिन्दू धर्म की सहिष्णुता तथा उदारता के वे आदर्श रहे, जिस पर आज भी देश भर को गौरव है। सफ़ीखान लिखते हैं—"शिवाजी ने कभी किसी मस्जिद, कुरान शरीफ अथवा किसी भी धर्म को मानने वाली स्त्री को हानि नहीं पहुँचाई। यदि उनके हाथ कोई कुरान की प्रति लग जाती तो वे उसे तुरन्त आदरपूर्वक किसी मुसलमान को दे देते। हिन्दुओं के सामने तो **'परदारेषु मातृवत्'** का आदर्श सदा से रहता आया है। शिवाजी महाराज के सामने जव एक सर्वांग सुन्दरी मुस्लिम महिला पकड़कर लायी गयी तो देखते ही वे वोले—माता! यदि मेरा जन्म तेरे गर्भ से हुआ होता, तो मैं भी कितना सुन्दर होता। तुरन्त उस महिला को आदरपूर्वक डोली में बिठाकर कुछ भेंट देकर पति के पास पहुँचवा दिया। शिवाजी की असम्प्रदायिकता तथा धर्मनिरपेक्षता सराहनीय है।

शिवाजी की देन—मराठों को संगठित करके इतने उच्च स्तर पर पहुँचाने का श्रेय तो उनको है ही, पर साथ-साथ वे साधारण स्तर से उठकर अपने को महाराजा वनाने से सभी मनुष्यों को सदा प्रगतिशील रहने की सतत प्रेरणा देते ही रहेंगे।

उनकी सवसे वड़ी देन 'अष्ट प्रधान' की रही जिसे हम आजकल की कैविनेट के रूप में देखते हैं। एक प्रजाहितकारी शासन की नींव उस गये-गुजरे समय में उन्होंने रखी।

'अष्ट प्रधान' के आठों सदस्यों ने राज्य-विभाग वांट रखे थे। इन मन्त्रियों के पद इस प्रकार थे—

(१) अमात्य—वित्त मन्त्री।

(२) मन्त्री—राज्य कुटुम्ब तथा राज्य दरवार की देखरेख करने वाले।

(३) सुमन्त—विदेश मन्त्री।

(४) सचिव—सरकारी पत्रव्यवहार करने वाले।

(५) दानाध्यक्ष—राजपण्डित और धार्मिक कामों की देखरेख करने वाले।

(६) सेनापति

(७) न्यायाधीश

(८) पेशवा—प्रधान मन्त्री।

उपर्युक्त सभी कामों का निरीक्षण पेशवा ही करते थे।

ईसाई धर्म

यहूदी धर्म के पैगम्बर अब्राहम के बड़े बेटे दिव्यात्मा इसहाक के कुल में दिव्यात्मा मूसा तथा दिव्यात्मा दाऊद तो हुए ही साथ ही दिव्यात्मा ईसा का जन्म भी इसी कुल में हुआ। उस समय यहूदी धर्म की दशा शोचनीय हो रही थी। यहूदियों का ध्यान यज्ञों में उलझ चुका था। अति हो जाने से हिंसा के प्रति चिन्तक ऊब चुके थे। प्रतिक्रिया स्वरूप किंकर्त्तव्यविमूढ़ जनता के मार्ग प्रदर्शन को दयालु दिव्यात्मा ईसा आये। उन्होंने अपने जन्म के लिए कोई राजकुल न चुना वरन् फिलस्तीन प्रदेश के साधारण घराने की पुण्यात्मा कुमारी मेरी को माता के रूप में अपनाया, जिनकी सगाई निर्धन जोसफ से हो चुकी थी। इससे सिद्ध हो जाता है दिव्य भावना तथा सत्यता, सदैव नम्रता, शुद्ध-हृदयता, दीनता तथा निरभिमानता में निहित है। इस प्रकार एक यहूदी प्रचारक आ जाने से एक बार तो यहूदियों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और उन्हें आशा बंधी कि शीघ्र ही रोमन शासकों से मुक्ति मिल जायेगी।

सोलह साल के अज्ञातवास के बाद जब तीस-वर्षीय ईसा ने मानव-मात्र के कल्याण के लिए अहिंसा का प्रचार आरम्भ किया तो रोमन-शासकों के विरुद्ध विद्रोह करने में ईसा को निमित्त बनाने की यहूदियों की आशा पर पानी फिर गया। उधर उन्हीं शासकों ने ईसा को कैद करके, उन्हें अपराधी करार देकर, सूली पर चढ़ा दिया, तब भी दयालु ईसा ईश्वर से यही प्रार्थना करते रहे कि उन अधिकारियों को क्षमा कर दिया जाये, क्योंकि उनको ज्ञान ही नहीं है वे क्या अनर्थ कर रहे हैं ? इस प्रकार अन्त हुआ प्रभु के उस महान् तत्त्वज्ञ, शिक्षक, सुधारक बेटे का।

दिव्यात्मा ईसा के वचन तथा कर्म दिव्य थे। सेंट पीटर के शब्दों में अपनी थोड़ी आयु में वे सदैव भलाई ही करते रहे। दुखियों के कष्ट निवारण करने में ही रत रहे। उस प्रेम-मूर्ति के अमृत भरे अनमोल वचन यही रहे कि मनुष्य मात्र के साथ प्रेम करो। घृणा तथा वैर को प्रेम से जीतो। सर्वोपरि जो कुछ भी उन्होंने उपदेश दिया उसे पहिले अपने जीवन में उतार लिया। उन में अहंकार तो लेशमात्र को भी न था। वे तो यन्त्री के हाथ में केवल यन्त्र मात्र बनकर रह गये।

उनके उपदेशों का सार दो बातों में आ जाता है यथा— भगवान् का मनुष्य से असीम प्रेम है। मनुष्य को उस अथाह प्रेम को पचाने के लिए यत्न करना चाहिये।

सेंट पाल के शब्दों में प्रेम देना जानता है लेना नहीं। यह धैर्य और दया

प्रेम—अपने पड़ोसियों से प्रेम करना तुमने सुन ही रखा है, किन्तु मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो।

गुप्तदान—जब तुम दान दो, तो तुम्हारा बाँया हाथ भी न जान पाये कि दाहिना हाथ क्या कर रहा है।

अपराध-क्षमा—यदि तुम मनुष्यों के अपराध क्षमा करोगे तो तुम्हारे स्वर्गिक पिता, तुम्हें क्षमा करेंगे।

दो स्वामियों की सेवा असम्भव—तुम परमेश्वर और धन; दोनों की सेवा एक साथ नहीं कर सकते।

निश्चिन्तता—कल की चिन्ता मत करो।

घृणा—पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।

स्वर्ण नियम—जैसा व्यवहार तुम अपने प्रति मनुष्यों द्वारा चाहते हो वैसा ही व्यवहार तुम भी उनके साथ करो।

इस प्रकार इस धर्म ने अहिंसा पर बल देकर जीवों पर दया करनी सिखायी, सबके साथ मैत्री और प्रेम का व्यवहार करने का पाठ पढ़ाया। अपरिग्रह, त्यागमय जीवन तथा साधना और त्याग को महत्त्व दिया गया। ईसा हृदय का परिवर्तन चाहते थे।

ईसाई मत का प्रसार—इस मत का जन्म एशिया के पश्चिमी तट पर हुआ धीरे-धीरे सारे योरुप में इसका प्रसार हो गया, क्योंकि रोमन सम्राटों ने भी इसे स्वीकार कर लिया था, किन्तु वहाँ एक मौलिकता से हटकर सांसारिकता की ओर मुड़ता ही चला गया। ईसाई सन्तों ने इसके प्रचार में कोई भी कसर न उठा रखी। दूर-दूर तक यह धर्म उनके सतत प्रयत्नों से पश्चिम पूर्व दोनों ओर चला।

धर्म-सुधार अथवा प्रौटैस्टेन्ट धर्मावलम्बियों का विद्रोह—योरुप में विद्या तथा कला के पुनरुत्थान के रूप में जो महत्त्वपूर्ण क्रान्ति हुई उससे योरुप के लगभग सभी देशों में एक नवीन जागृति फैल गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्धविश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया। फलतः ईश्वर के एकमात्र प्रतिनिधि पोप का सिंहासन भी हिल ही गया जिस पोप की एक उंगुली के संकेत पर राज्यों की उलट-पलट हो जाया करती थी, सारा ईसाई जगत यीरुशलम को स्वतन्त्र कराने के लिये धर्म युद्धों में अपने को न्यौछावर करने में तत्पर रहता था, उसी पोप के विरुद्ध सोलहवीं शताब्दी में भारी आन्दोलन चलाया गया।

विरोध (प्रोटैस्ट) करने वाले यही विरोधी (प्रोटेस्टैंट) कहलाने लगे। इनके प्रथम नेता जर्मनी के मार्टिन लूथर थे।

मार्टिन लूथर ने इस बात का व्यापक प्रचार किया कि अपने पापों के लिये पोपों से क्षमापत्र न खरीदे जांय।

सर्वसाधारण के हृदय में यह बात जमा दी गयी कि पोप द्वारा भी त्रुटियां हो सकती हैं।

शासकों की इस इच्छा को बल मिला कि राजनीतिक विषयों में पोप को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं।

पोप के स्थान पर सम्राट स्वयं गिरजाघर के अध्यक्ष बनने चाहिये।

बाइबिल के अर्थ लगाने में भी विश्वास के स्थान पर अपनी-अपनी बुद्धि का प्रयोग होने लगा।

सातों संस्कारों में श्रद्धा न रखकर प्रोटेस्टेंट केवल ईसा मसीह की स्मृति में भोज को (Communion Dinner) स्वीकार करते थे।

और उसमें भी Doctrine of Substantiation अर्थात् रोटी और मदिरा ईसामसीह द्वारा वस्तुतः मांस और रक्त बन गये—इस कथन में विश्वास न रहा उन्हें केवल प्रतीक मात्र माना जाने लगा।

धार्मिक रीतियों में बाह्य सजधज का स्थान सादगी ने ले लिया। प्रोटेस्टेंट किसी भी रूप में मूर्ति पूजा स्वीकार नहीं करते।

भारत में आगमन—पाश्चात्य जगत् से भारत के बहुत पुराने सम्बन्ध थे ही। कहा जाता है यहां दक्षिणी तट पर कुछ प्रचारक पहली ही शती में पहुँच गये थे जिन को भारतीय प्रथानुसार गिरजाघरों के लिए भूमिदान जैसी सुविधायें प्राप्त हो गयी। वस्तुतः योरोपीय जनता पूर्व के किसी आध्यात्मिक या मानवीय गुण से आकर्षित होकर उस ओर नहीं खिंची प्रत्युत स्वर्ण की इच्छा और उसे अपने माल का ग्राहक बनाने की कामना उन्हें भारत खींच लायी। भारत को अपने अधिकार में रखने के लिए पुर्तगालियों, स्पेनियों, डचों, फ्रांसीसियों और अंग्रेज में परस्पर युद्ध हुए। इनका अन्त तब हुआ जब १७६१ ई० में अंग्रेजों को निर्णायक विजय प्राप्त हो गयी परन्तु इसका जो रूप पुर्तगेजों द्वारा सोलहवीं सदी के आरम्भ में आया, बड़ा भयंकर था। भारतीयों को पुर्तगेजों के आचार-व्यवहार से ईसाई मत का मूल्यांकन करना था। उनके दुर्व्यवहार से यह भी चौकन्ने हो गये। उन्होंने गोआ, दमन और ड्यू की बस्तियां बसा ली। बड़ी कठिनाई से ४०० साल बाद अब कहीं जाकर उनको मुक्त कराया जा सका। बाद में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में राजसत्ता आने से ईसाई प्रचारकों का मान बढ़ता गया। विशेषतया हिन्दू समाज में हीन दृष्टि से देखी जाने वाली निम्न जातियां इनके प्रलोभन में शीघ्र आ गयीं क्योंकि उन्हें ईसाइयत में वह आदर सम्मान मिला जिससे हिन्दू समाज ने उन्हें वंचित किया हुआ था। पादरियों ने हमारी

इस दुर्बलता का अनुमान कर लिया और उसका अनुचित लाभ उठाया। ईसाई प्रचारकों ने बाइबिल का अनुवाद भारतीय भाषाओं में करके घर-घर ईसा का संदेश पहुँचाया। ईसाई पादरियों ने अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से अपने प्रचार में बहुत सहायता ली। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त नवयुवकों को सरकारी नौकरी मिलने लगी। उधर सरकार को शासकीय संचालन के लिए अंग्रेजी जानने वाले कर्मचारी मिल गये। परिणामतः भारत में एक ऐसे वर्ग का नियन्त्रण हो चला जो रंग रूप में तो श्याम वर्ण पर चिन्तन, भाषा, विचार और वेशभूषा आदि में अंग्रेजों जैसे थे।

ईसाइयत का प्रचार अमेरिका और अफ्रीका में बड़ी तेजी से हो चुका था। वहाँ की आदि जातियों ने इसे शीघ्र ही अपना लिया क्योंकि उनके पास अपनी कहने योग्य साँस्कृतिक निधि लेशमात्र भी न थी। उन्हें आशा थी, कि भारत में ईसाइयत सरलतापूर्वक प्रसारित हो जायेगी। इन प्रचारकों ने भारतीय संस्कृति के पूर्वार्जित असीम रत्न भंडार वेद या उपनिषद् तन्त्र, साहित्य आदि की नितान्त उपेक्षा की। वे यह भी भूल गये कि भारत की प्राचीन विचारधारा में संस्कृति सदैव राष्ट्र से भी बड़ी मानी जाती रही है और संस्कृति की प्रधानता रहने के कारण, राष्ट्र के पराधीन होने पर भी, उसकी स्वाधीन होने की अभिलाषा नष्ट न हो सकती। यदि राष्ट्र को प्रधानता देते हुए जनता संस्कृति की उपेक्षा करती तो राष्ट्र-विपर्यय के साथ-साथ संस्कृति का भी नाश हो जाता।

मिशनरियों के भारतीय-संस्कृति के विरुद्ध व्यापक प्रचार करने पर भी, आरम्भ में आशानुसार सफलता नहीं मिली। १८१३ के चार्टर में धर्म-प्रचार पर से प्रतिबन्ध हटाने की घोषणा के दो वर्ष उपरान्त एबी दुबोय (Abbe Dubois) ने १८१५ में लिखा "मैंने आँसू तो बहाये, किन्तु वे नंगे पत्थरों पर ही गिरे। साठ साल से हम लोग प्रचार कर रहे हैं किन्तु उच्च वर्गीय हिन्दुओं पर हमारा कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। क्योंकि जो लोग ईसाई हुए थे उनमें से दो-तिहाई धर्म को छोड़कर अपने मूल वृत्त में वापस चले गये हैं। जो बाकी बचे हैं उनकी संख्या ३०,००० है। पिछले ३० वर्षों में हमने केवल तीन सौ लोगों का धर्म-परिवर्तन किया है, जिनमें दो सौ अछूत हैं। हिन्दुओं का धर्म बदलना आसान नहीं है। श्री मार्श की पुष्टि करते हुए जब मोंटगोमरी ने इतना तक कह दिया कि भारत में पादरी भेजने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि ईसाई मत के पास भारतीयों को सिखाने योग्य कुछ है ही नहीं इस।" कथन से उनकी निराशा की सीमा न रही।

बीस साल तक की दशा १८३५ की निम्नलिखित घटना से विदित होती है :—

कलकत्ता बन्दरगाह में एक जहाज विलायती माल लेकर आया। वह जहाज नाना प्रकार की लोभनीय वस्तुओं से भरपूर था। उसमें औषधि से लेकर सुई तक अनेकानेक व्यवहार योग्य वस्तुयें बिक्री के लिए भारत भेजी गई थीं, परन्तु आश्चर्य था कि एक पैसे की भी कोई वस्तु यहां न बिक सकी और उस जहाज को ज्यों का त्यों वापस लौट जाना पड़ा। लन्दन पार्लियामेन्ट द्वारा लगाये गये टैक्स के विरोध में चाय से भरे जहाज को अमेरिकनों की तरह डुबाने का विचार भारतीयों का नहीं था। यह कोई विद्वेष सूचक बहिष्कार नहीं था वरन् स्वदेश प्रेम का एक निर्देशन मात्र था। वैसे भी प्रत्येक संस्कृति की आधार शिला आन्तरिक विचारधारा होती है। इधर अंग्रेजी राज्य के पीछे नीति की सामर्थ्य थी, जिनके सहारे उन्होंने देश की परिस्थिति का भली भाँति अध्ययन कर लिया था। ईसाई संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को समाप्त करने के लिये एक नवीन अस्त्र का प्रयोग किया। उसने भारतीय जीवन प्रणाली को बदल डालने के लिए युवकों में विदेशी रुचि उत्पन्न की। उस मोहमयी मदिरा को पाकर युवकों के दिमाग बदल गये और वे उन्मत्त हो उठे। उस स्थिति का दिग्दर्शन स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में प्रस्तुत है—

"वर्तमान उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, जबकि पाश्चात्य प्रभाव भारत में आने लग पड़ा था, पाश्चात्य विजेता लोग हाथ में तलवार ले ऋषि-सन्तानों को प्रत्यक्ष यह दिखाने आये थे कि वे (ऋषि-संतान) असभ्य है, उनका धर्म कोरी दन्तकथा है, आत्मा परमात्मा और प्रत्येक वस्तु जिसके लिये वे प्रयास कर रहे हैं, निरे निरर्थक शब्द हैं, साधना और अनन्त त्याग के हजारों वर्ष व्यर्थ रहे हैं। तब विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले नवयुवकों के बीच यह प्रश्न उठने लगा—क्या इस समय तक का राष्ट्रीय जीवन असफल रहा है ? क्या उनको पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर पुनः श्रीगणेश करना होगा ? अपनी प्राचीन पुस्तकों को फाड़ डालना होगा। दर्शन-शास्त्रों को जला देना होगा···।"

इस प्रकार अपने देश, वेशभूषा और विचारधारा के प्रति अनास्था और विदेशी वस्तुओं के प्रति अनुरक्ति होने लगी। जिस पर स्वामी जी ने तत्कालीन शिक्षित युवक वर्ग को सम्बोधित किया—यह डाँट भी लगाई कि तुम बकवास करते हो, उन सभी वस्तुओं की खिल्ली उड़ाते हो, जो हमारे लिये पवित्र है। तुम्हें इसका ध्यान ही नहीं है कि प्राचीरों के बाहर असंख्य भारतीय जनता उस अमृत की बूंद पीने को बेचैन है जो हमारे प्राचीन शास्त्रों में भरा पड़ा है। इन सब की प्रतिक्रिया के स्वरूप १९वीं शती के पूर्वार्द्ध में भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में द्रुत रूप से परिवर्तन होने लगे। इसलिए कहा जाता है १००० साल तक मध्ययुग में बिताकर भारत ने

आधुनिक युग में प्रवेश किया। मैकाले ने अपने माता-पिता को पत्र में लिखा था कि तीस साल के अन्दर पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से बंगाल में मूर्ति पूजने वाला कोई भी नहीं रह जायेगा। उसकी यह भविष्यवाणी प्रतिफलित न हो सकी क्योंकि इस संस्कृति के ऊपर चाहे जितने प्रहार और चाहे जितने आक्रमण हुये हों वह निरन्तर प्राणवान रही है। भारतीयों का समग्र जीवन उससे अनुमानित है। वेशभूषा, भाषा कर्म आदि में युग के प्रभाव से परिवर्तन आ सकता है, किन्तु युग के अनुरूप साधन लेकर उसी साधन के द्वारा भारतीय संस्कृति अभिव्यक्त होती रही, होती रहेगी।

मनुष्य की सफलता इसी में है कि भाषा को भी प्रगति की सीढ़ी बना ले। जो प्रकाश ईसाइयत के साथ आया, कालानुसार उसमें अनेक विकृतियां आ गईं। अतः जनता उसके प्रति सजग एवं सतर्क है। आज वह अन्य आस्था नहीं रखती। अविश्वास की जगह तर्क ने ले ली। विरक्ति का स्थान गीतानुसार प्रवृत्ति ने लिया और प्रान्तीयता का देश-भक्ति ने। प्राचीन वेदान्त मार्ग ही नवीन रूप में सामने आया।

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि। भले ही उनकी पद्धतियों में भिन्नता रही हो, पर मूल उद्देश्य एक था—भारत को उद्बोधन देने का, विश्व में अपना पुराना स्थान सुरक्षित रखने का, जिससे जनता अपनी संस्कृति के शाश्वत मूल्यों को पहचान सके। विभूतियों के आविर्भाव से भारत में जागृति की लहर आ गई।

अध्याय १७

उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार-आन्दोलन

राजा राममोहन राय

भारत में उन्नीसवीं शती में जो सामाजिक तथा धार्मिक नवोत्थान हुआ उसका आरम्भ राजा राममोहन राय द्वारा हुआ। इनको 'आधुनिक भारत का पिता' कहा जाता है। इनका जन्म बर्दवान ज़िला के राधानगर ग्राम में २२ मई १७७२ को एक सम्पन्न ब्राह्मण कुल में हुआ। इनकी शिक्षा का प्रबन्ध सुन्दर रहा और ये शीघ्र ही संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, बंगला के विद्वान् हो गये। इन्होंने बाद में अंग्रेजी भी सीख ली। इन्होंने धार्मिक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया। इन्हें मूर्ति-पूजा न जंची। अतः इन्होंने इसके विरोध में एक पुस्तिका भी लिख डाली। इस पुस्तक के कारण पिता इनसे अत्यधिक अप्रसन्न हो उठे। इन्हें घर छोड़ना पड़ा। तत्कालीन प्रचलित धर्म में इन्होंने आडम्बर की अधिकता देखी। ईसाई और इस्लाम मतों का इन्हें असाधारण ज्ञान था ही। लेकिन वे ईसाईयों के हिन्दू-धर्म पर आक्षेपों से खिन्न हो उठते थे। सत्य की खोज में वे इस निर्णय पर पहुँचे कि समय की मांग के अनुसार वेदांत पर ही बल देना आवश्यक है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी से अवकाश प्राप्त करके वे समाज-सुधार के काम में जुट गये और दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि झूठे रस्मरिवाजों, जातिपांति के भेद-भावों, बाल-विवाह, आदि को बन्द करके ही रहेंगे। वे अपने धर्म की तीव्र आलोचना इसलिये करते थे कि वे इसे रूढ़ियों से मुक्त करके नया रूप देना चाहते थे। यही कारण है कि कुछ व्यक्ति इनको भारतीय मानने में संकोच करते थे।

ब्रह्मसमाज की स्थापना— सभी धर्मों के अनुयायियों में सद्भावना उत्पन्न हो और वे एक-दूसरे के समीप आ एकता के सूत्र में आबद्ध हों उदार दृष्टि वाले राजा राममोहन राय ने १८२८ में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। इनकी सभाओं में वेदों का अर्थ-सहित पाठ होता था। इस समाज की सदस्यता के अधिकारी वे हो

सकते थे, जो ईश्वर में तो विश्वास रखते हों, पर न उसके साकार रूप में, न मूर्ति-पूजा में ही। इस समाज में सब धर्मों का पूरा-पूरा सम्मान होता और उनमें मौलिक एकता पर बल दिया जाता। श्री राममोहन राय को हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, तीनों धर्मों के सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान था।

राजा राममोहन राय की देन—ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा १८२९ में सती-प्रथा को बन्द कराने का श्रेय इनको ही है। दूसरे, इन्होंने भारत को संसार में अन्य देशों के साथ कन्धा मिला कर चलने के लिये अंग्रेजी भाषा पढ़ने को तैयार किया। तभी हिन्दू कालेज खोला, जिसमें अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाई होने लगी। इनके ही सतत परिश्रम के फलस्वरूप १८३५ में गवर्नर जनरल बैंटिंग, लार्ड मैकाले के अंग्रेजी शिक्षा चालू करने के प्रस्ताव को कम्पनी से स्वीकृत करा लाये। इससे इनको ऐसे विचारकों का कोप-पात्र भी बनना पड़ा, जो किसी देश के नये ज्ञान विज्ञान को स्वीकार कर लेना हानिकारक नहीं समझते थे किन्तु अंग्रेजी माध्यम के विरोधी थे।

ब्रह्मसमाज तथा आदि-ब्रह्मसमाज—राजा राममोहन राय इंगलैंड में, एक केस की वकालत करने के लिये गये हुये थे वहीं १८३३ में ब्रिस्टल में उनकी मृत्यु हो गयी। अन्तिम संस्कार हिन्दू रीति के अनुसार हुआ। तत्पश्चात् रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ के हाथ में ब्रह्मसमाज की बागडोर पहुँची। जिस के फलस्वरूप हिन्दू धर्म से धीरे-धीरे यह समाज दूर ही होता गया, और वह इतनी तीव्र-गति से हुआ कि सामाजिक क्रान्ति द्वारा ईसाइयत पर बिक जाने वाले केशव चन्द्रजी के ब्रह्मसमाज को, भारत का ही योरुप्यकरण समझा जाने लगा। अन्त-र्जातीय विवाह समर्थक केशवचन्द्र जी ने अपना समाज अलग खड़ा कर लिया। तब से पुराना समाज आदि-ब्रह्मसमाज कहलाने लगा। जब केशवचन्द्र जी ने अपनी नाबालिग कन्या का विवाह, कूच-विहार के नाबालिग राजकुमार से किया तो केशवचन्द्रजी के अनुयायी बिगड़ उठे और एक बार फिर एक और साधारण ब्रह्म-समाज बना लिया। केशवचन्द्र जी का समाज नव-विधान-समाज कहलाने लगा। ब्रह्मसमाज की नींव सब धर्मों में समन्वय लाने के लिये रखी गयी थी। उसी को नव-विधान-सभा ने खुल्लमखुल्ला यहूदी तथा ईसाई मत का रूप देना चाहा। उसमें कमी केवल हजरत ईसा की पूजा ही रह गयी थी। तब से यह ब्रह्मसमाज योरुप-प्रेमियों का प्रवेश द्वार रहा। सब कुछ रहते भी, यह अकाट्य सत्य है कि धर्म-परिवर्तन की बाढ़ को रोक कर ब्रह्मसमाज ने नई रोशनी के समर्थकों को हिन्दू-धर्म में रहते हुए भी उनकी उदारता की तुष्टि करनी चाही, और ऐसे व्यक्ति दिये, जिन्होंने धर्म-क्षेत्रों में प्रगति कर देश की अपने मतानुसार सेवा की।

इस समाज का आरम्भ तो राजा राममोहन राय तथा महर्षि देवेन्द्रनाथ जी ने हिन्दू धर्म की रक्षा के विचार से किया था। केशवचन्द्र जी भी ढलती अवस्था में इसी ओर झुकने लगे, पर हारे हुए योद्धा की वृत्ति इन सबकी रही। इन में आत्म-विश्वास की कमी थी। यह पूर्ण हिन्दुत्व की रक्षा के लिये असमर्थ रहे। उतना ही स्वीकार करते जो बुद्धि को जँच जाये। पूर्ण रक्षा के लिये महान् पुण्य कार्य का श्रेय बाद में आने वालों को मिला।

प्रार्थना-समाज—ब्रह्मसमाज की शाखायें भारत के बड़े-बड़े नगरों में, जहां धनवान अंग्रेजी पढ़े-लिखे अधिक थे, खुल गयी थीं, किन्तु महाराष्ट्र में जो रूप सामने आया वह सामाजिक ही रहा।

केशवचन्द्र जी १८६४ में बम्बई गये और वहां जो शाखा खोली उसका नाम प्रार्थना-समाज रखा, जिसका ध्येय था विधवा-विवाह का प्रचार तथा जाति-पांति का खण्डन और स्त्री-शिक्षा पर बल। इसमें सभी धर्म-ग्रंथों का पाठ होता और सबके गुण लिये जाते। इस समाज के नेता महादेव गोविन्द रानाडे थे — जो राममोहन राय के समकालीन थे। उन्होंने इसे सर्व-प्रिय बनाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। गोपाल कृष्ण गोखले ने इन्हीं से प्रेरणा लेकर शिक्षा-प्रचार के क्षेत्र में भारत की सेवा की।

स्वामी दयानन्द

(१८२४-८३)

जब पश्चिम के बुद्धिवाद का अस्त्र लेकर ईसाईयत तथा इस्लाम निधड़क होकर हिन्दुत्व की निन्दा कर रहे थे और हिन्दू सारे अपमानों के सामने दांत निपोर कर रह जाते थे, तब उसी बुद्धिवाद की कसौटी पर ईसाईयत तथा इसलाम का मूल्यांकन करने तथा हिन्दुत्व की रक्षा करने को वेद-मर्मज्ञ, निर्भीक तार्किक महाव्यक्तित्व स्वामी दयानन्द के रूप में सामने आया जिसने सत्य की स्थापना के लिए निश्छल भाव से अपने यहाँ के मत-मतान्तरों का परिष्कार किया, तथा इस्लाम और ईसाईयत की अनेक कमियों को भी सबके सामने रखा। हिन्दू कहलाने में भी झेंपने वाला व्यक्ति अब गर्व अनुभव करने लगा क्योंकि स्वामी जी के अथक प्रयत्नों से मृतप्राय भारतीय संस्कृति में नयी चेतना का संचार हुआ। सोया हुआ भारत जागा और आत्म-सम्मान तथा आत्म-विश्वास की भावना से पुनः विभूषित हुआ।

गुजरात के मोरवी राज्य में टंकारा नाम का छोटा सा ग्राम वेदपाठी शैव ब्राह्मण अम्बा शंकर ग्राम-कर एकत्र करने वाले राज्याधिकारी के यहां एक बालक

ने १८२४ में जन्म लिया, जिसका नाम मूलशंकर रखा गया। यही आगे चलकर स्वामी दयानन्द सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मेधावी बालक ने शीघ्र ही वेदों का अध्ययन पूर्ण कर लिया और स्वाध्याय में लीन रहने लगा।

महत्वपूर्ण शिवरात्रि—एक घटना ने उनके विचारों की दिशा में आमूल परिवर्तन ला दिया। वे शिवरात्रि व्रत रखकर, गांव के बाहर वाले शिवालय में, अपने पिता तथा अन्य शिव-भक्तों के साथ, रात-जागरण तथा प्रहर-वार पूजा कर रहे थे। आधी रात बीतने पर जब अन्य सबकी आँख लग गयी, भगवान् शिव ने अडिग बालक को अपनी कृपा-ज्योति प्रदान की। मूलशंकर ने देखा कि शिव-पिण्डी पर एक छोटा-सा चूहा फुदक रहा था। उनकी अन्तरात्मा ने शिव के दर्शन का संकल्प किया। उस पाषाण की प्रतिमा में प्रतिष्ठित शिव के चैतन्य स्वरूप को जानने के लिये पिता को जगाया, किन्तु वे बालक की शंका का समाधान न कर सके। मूलशंकर को तभी से शिव तत्त्व के समझने की लग्न लग गयी।

गृह त्याग—एक बार जब सारा परिवार कोई विशेष आनन्दोत्सव में रंगरलियां मना रहा था, तब उनकी चौदह-वर्षीया बहन हैजा से अचानक मर गयी। इससे उनको सख्त धक्का पहुंचा। कुछ दिनों बाद उनके चाचा जी का स्वर्गवास हो गया। तब से वे मृत्यु से बचने के उपाय की खोज में संलग्न हो गये। मित्रों ने मृत्यु पर विजय पाने के लिये योगाभ्यास की राह दिखायी। तभी से उन्होंने गृह त्याग की ठान ली। उधर पिता भांप गये और उन्होंने मूलशंकर के विवाह की तैयारी कर दी। परन्तु यह वीतरागी तथा सत्यान्वेषी युवक किसी जीवन मार्ग- प्रदर्शक की खोज में घर से भाग ही निकले।

योगसाधना—पहले एक योगी से योग सीखा, फिर अहमदाबाद के समीप वैरागियों के साथ रहे। वहाँ से बडौदा जाकर चैतन्य मठ के ब्रह्मानन्द स्वामी से वेदान्त के सम्बन्ध में विचारविमर्श करने से जीव और ब्रह्म की एकता में विश्वास बढ़ने लगा। तदुपरान्त श्री शिवानन्द गिरि से योग-दीक्षा लेकर अपने आप ही संन्यास ले लिया और अपना नाम दयानन्द रखा। संन्यास आश्रम की विधिवत् दीक्षा बाद में स्वामी पूर्णानन्द जी से ली। तत्पश्चात् व्यासाश्रम जाकर श्री योगानन्द जी से योगविद्या के गूढ़ तत्त्व सीखे, जिनका अभ्यास करने आप आबू पर्वत पर गये।

स्वामी विरजानन्द के चरणों में—सद्गुरु की खोज में ग्यारह साल तीर्थों का भी भ्रमण किया। अन्ततोगत्वा संयोग से मथुरा में इस तपस्वी जिज्ञासु को अपने छत्तीसवें वर्ष में वेद-मर्मज्ञ, व्याकरण के पूर्ण पण्डित प्रज्ञाचक्षु अस्सी वर्षीय श्री विरजानन्द जी गुरु रूप में प्राप्त हो ही गये। उन्होंने इनको सब शास्त्रों का अपनी शैली अनुसार अध्ययन कराया।

गुरु दक्षिणा— विद्या की समाप्ति पर श्री विरजानन्द जी ने दयानन्द जी से वेदों के प्रचार की दृढ़ प्रतिज्ञा के रूप में गुरु-दक्षिणा स्वीकार की।

प्रचार—अब यह वैदिक प्रचार के लिये कटिबद्ध हो गये। सन् १८७६ के हरिद्वार के कुम्भ मेला से आपने प्रचार आरम्भ किया। इस आध्यात्मिक चिकित्सक ने कड़ा आपरेशन किया। मतभेद सदा से ही हिन्दू धर्म की परमोदारता का महान् स्वरूप रहा है। आपने एकदम छः शास्त्रों तथा अठारह पुराणों का निषेध किया। सभी धर्म शास्त्रों का खन्डन करके केवल वेदों को ही मान्यता दी और उनमें भी मन्त्र संहिता वाले भाग को। उनका उच्चघोष रहा वेदों की ओर लौटो। मूर्ति-पूजा आदि का खण्डन किया। काशी में भारी शास्त्रार्थ हुआ। निर्णय तो खैर क्या होना था, तथापि इनकी विद्वत्ता की धाक तो जम ही गयी। वेदों के अर्थ अपने दृष्टि कोण के अनुसार किये। पुराने चले आ रहे किसी भी वेद-भाष्य को स्वीकार न किया। वेदों में आपकी अन्यतम और अगाध श्रद्धा थी। वाणी की अद्भुत शक्ति और प्रकाण्ड प्रतिभा द्वारा आपने वेदनिहित ज्ञान का यथाशक्ति प्रचार किया। इस स्पष्टवादी निर्भीक वक्ता का प्रभाव, साधारण जनता पर पड़े बिना नहीं रह सकता था।

आर्य समाज की स्थापना—कलकत्ते से लौटने पर १० अप्रैल १८७५ को वम्बई में स्वामी जी ने आर्य (सुसंस्कृत) समाज की स्थापना की और उसके दस नियम निर्धारित कर दिये। वहां दिल्ली होकर आप लाहौर गये। लाहौर को आर्य समाज का गढ़ बनने का श्रेय प्राप्त हुआ। पंजाब के जागृत होने पर भारत के अन्य नगरों में भी उत्साह की लहर दौड पड़ी और शीघ्र ही देश भर में आर्य समाज की शाखाओं का जाल सा बिछ गया। ब्रह्मसमाज की तरह यह केवल शिक्षित समाज तक सीमित न रहा।

धार्मिक सिद्धान्त—ईश्वर सत् चित् आनन्द स्वरूप, सर्वशक्तिमान, निराकार, अनादि, अनन्त, अद्वितीय न्यायकारी होते भी दयालु, पर जीवों को उनके कर्मानुसार फल देने वाले हैं।

वेद—अपौरुषेय हैं, सच्ची विद्याओं के भंडार हैं। सम्पूर्ण ज्ञान की निधि हैं। इनके अध्ययन का अधिकार सबको बराबर है। वेदों के स्रोत ओ३म् और मुख्य गायत्री मन्त्र के जाप पर तथा दैनिक हवन करने पर बल दिया गया। गोरक्षा के महत्त्व पर सुन्दर प्रकाश डाला।

धर्म—सच्चा धर्म वही है जो पथभ्रष्ट तथा दूसरे धर्म वालों को भी शरण दे। अतः स्वामी जी ने इसके द्वार मुस्लिम, ईसाई आदि सबके लिये खोल दिये।

शुद्धि द्वारा हिन्दू बनने का अधिकार मनुष्य मात्र को है। शुद्धि शास्त्र-सम्मत बतला कर हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन से बचा लिया।

वर्ण-व्यवस्था—इसे जन्म पर आधारित न मान कर गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित बतलाया।

सत्यार्थ प्रकाश—स्वामी जी ने आर्य समाज के इस मुख्य ग्रन्थ की रचना हिन्दी में की। इनके १४ वें समुल्लास के अन्त में लिखते हैं—मेरा कोई नवीन कल्पना व मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसे मानना, मनवाना और जो असत्य है, उसे छोड़ना छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।

सामाजिक सुधार—बाल विवाह—इसे सर्वथा अनुचित बतलाया। अबोध बालकों-बालिकाओं को विवाह-बन्धन में बांधना शास्त्र-विरुद्ध है। उस दूरदर्शी ऋषि ने आज से सौ साल पहले देश के हित में इस कुप्रथा के मिटाने में कोई कसर न उठा रखी।

विधवा-विवाह—विशेष परिस्थितियों में विधवा-विवाह को शास्त्र-सम्मत बतलाया।

स्त्री-शिक्षा—देश भर में कन्या पाठशालायें खोलकर नारी-मर्यादा को उन्नत करने का श्रेय आर्य समाज को ही है, अन्यथा एक पहिये से गृहस्थी की गाड़ी कदापि न चल सकती।

हिन्दी भाषा का प्रचार—स्वामी जी की मातृभाषा गुजराती थी, लेकिन उन्होंने प्रचार हिन्दी का ही किया। पंजाब आदि कई प्रान्तों में हिन्दी की नींव आर्य समाज ने ही रखी, जिसके फलस्वरूप आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है।

शिक्षा प्रचार- स्वामी जी के योग्य अनुयायी लाला लाजपत राय जी और महात्मा हंसराज जी ने लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज खोला जिससे प्रेरणा लेकर देश में स्थान-स्थान पर ऐसे कई हाई स्कूल और कालेज खुल गये। उधर महात्मा मुन्शीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द) ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की नींव शुद्ध वैदिक प्रणाली पर हरिद्वार में रखी।

दलित उद्धार—अन्त्यजों को ऊपर उठाने में आर्य समाज का प्रयत्न सराहनीय रहा। अनेक को विद्या प्रदान करके पण्डित तथा महाशय बनाकर सबके साथ मिला दिया और निकास को बन्द किया।

स्वामी जी की देश-सेवा—जहां स्वामी ने स्वधर्म को उन्नत करके अन्य

प्रतिष्ठित धर्मों की पंक्ति में गर्वपूर्वक खड़ा होने में समर्थ बनाया, वहां साथ-साथ भारत को फिर से जगद्‌गुरु के स्थान पर लाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। अंग्रेजी से पूर्णतया अपरिचित रहने पर भी सबसे पहले स्वराज्य का नारा इन्होंने ही लगाया। इनके अनुसार विदेशी शासन, कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्व-शासन का स्थान कदापि नहीं ले सकता। आप राजा राममोहन के विपरीत पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारत को बचाये रखने का सतत प्रयत्न करते रहे। वेदों को छोड़ कर पश्चिमी साहित्य की ओर भागना सर्वथा अनुचित बतलाया। सनातन परम्परागत सत्य को वेद-ज्ञान के अनुसार जीवन में उतारने का आग्रह किया।

दुःखद अन्त—स्वामी जी परम दयालु और सहनशील थे। जिसने उन्हें अनूपशहर में विष भरा पान खिलाया, उसे भी उन्होंने सरकारी दण्ड से बचाया इसी प्रकार जोधपुर के राजमहल की "नन्ही जान" की प्रेरणा से रसोइये द्वारा इनके भोजन में विष मिलाने पर भी अन्तिम इच्छा यही प्रकट की—कि दोषी को पूर्णतया क्षमा कर दिया जाय। १६ अक्तूबर १८८३ को ५९ वर्ष की आयु में दीपावली की ज्योतिर्मयी तिथि को स्वामी जी ब्रह्मलीन हो गये। अन्त समय में मुख से यही निकला—"हे दयामय! हे सर्वशक्तिमान्! आपकी यही इच्छा है। आपकी इच्छा पूर्ण हो।"

अध्याय १७

इस्लामी नवोत्थान

भारतीय मुसलमानों की शोचनीय दशा— पंजाब को छोड़ कर भारत का शासन अंग्रेजों ने मुसलमान शासकों से ही छीना था, अतः अंग्रेज मुसलमानों पर विश्वास न करते थे। उधर यदि अंग्रेजी सरकार की लड़ाई अफ़गानिस्तान से छिड़ती तो भारत में बैठे मुस्लिम, अफ़गानिस्तान की सफलता के लिये प्रार्थना कर के जी ठंडा कर लेते। जब राजा राममोहन राय ने भारतीयों के सामने अंग्रेजी भाषा अपनाने पर बल दिया तो सभी मुसलमानों ने इसे धर्म-विरुद्ध बता कर इसे अपनाने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार संदेह भावना बढ़ती ही गई। जब १८५७ का प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन चला, तो उस की जड़ में भी अंग्रेजों को वृद्ध मुग़ल बादशाह को पुनः सिंहासन दिलाने का प्रयत्न ही दिखाई दिया। कुपित सरकार ने मुसलमानों को सरकारी नौकरियों से वञ्चित रखा। अंग्रेजी शासन होने के कारण भी ये सरकारी नौकरी प्राप्त नहीं कर सके। धीरे-धीरे इनके हाथों से ज़मीनें भी खिसकती चली गईं। फलस्वरूप इनकी दशा अति शोचनीय हो गई। बहुसंख्यक हिंदुओं को आगे बढ़ते देख ये हीनभावना का भास भी करने लगे थे।

सैयद अहमद खां— ऐसे दुःखद समय की मांग की पूर्ति सैयद अहमद खां के रूप में हुई। इनका जन्म १८१७ में दिल्ली के एक सम्पन्न घराने में हुआ। ये पुरानी रूढ़ियों में रंच मात्र भी विश्वास न रखते थे। हर बात को बुद्धि की कसौटी पर रखते। इंग्लैंड से लौटने पर इन के विचारों को देख मुल्लाओं ने इनको कुफ़ का फ़तवा दे दिया। पर इनके अन्दर तो मुसलमानों को अंधकूप से बाहर निकालने का जोश लहरें मार रहा था। इन्होंने दूरदर्शिता से काम लेते हुए इतनी सावधानी रखी कि सीधे धार्मिक झमेलों में न पड़ कर सामाजिक सुधार के काम में जुट गये। इन्होंने मुस्लिम भाइयों को अंग्रेजी पढ़ने पर राज़ी कर लिया और उन्हें खूब समझा दिया कि उनका हित अंग्रेज शासकों की प्रसन्नता प्राप्त करने में ही निहित है। उधर सरकार को भी उसकी भूल बताई, जिसके कारण १८५७ की क्रान्ति में उसने हिंदुओं के साथ ही मुस्लिम सिपाहियों को भी फ़ौज

में सम्मलित कर पारस्परिक प्रेम बढ़ाया। पहले सैयद अहमद खां ने मुरादाबाद और ग़ाज़ीपुर शिक्षाक्षेत्र में दो पाठशालायें खोलीं। फिर अलीगढ़ में १८७५ में मोहमडन एंग्लो-ओरियंटल कालेज खोला जिस ने उन्नति करते-करते १६२० में मुस्लिम यूनिवर्सिटी का रूप ले लिया। सरकार को आश्वासन दिलाया कि इस संस्था का उद्देश्य अपने धर्म की रक्षा करना, अंग्रेजी पढ़ना-पढ़ाना तथा अंग्रेज सरकार की सुयोग्य प्रजा बनना रहेगा। इस संस्था में युवकों को ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा आधुनिक शैली पर सुन्दर ढंग से दी जाती रही है। साथ-साथ अरबी और फ़ारसी तथा मुस्लिम-साहित्य के अध्ययन का सुचारु प्रबन्ध है। भारतीय मुस्लिम-जगत् में जागृति ले आने का परम श्रेय इसी संस्था को है। यहां से शिक्षा पा कर निकले हुए राजभक्तों ने भारतीय मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार का कृपापात्र बना ही दिया।

सैयद अहमद खां साहब ने स्त्री शिक्षा पर बल दे कर उन की दशा भी सुधारी। उन्होंने परदा-प्रथा का खुल कर विरोध किया।

अंग्रेज़ी ढंग उन्हें बहुत अच्छे लगते थे। इन्हें ये स्वयं अपनाते और दूसरों को अपनाने की प्रेरणा देते। सब से अच्छी बात जो इन्होंने सीखी वह थी समय की पाबंदी। इन के सैर का समय पूर्णतया नियत रहता। कहते हैं इनके अपने घर से गुज़रने पर लोग अपनी घड़ियों पर टाइम ठीक कर लेते।

राजनीतिक क्षेत्र में—इण्डियन नैशनल कांग्रेस का जन्म १८७५ में जब हुआ तो इन्होंने मुस्लिमों को इससे पृथक् रहने का आग्रह किया, हालांकि उस समय कांग्रेस को अंग्रेज़ की सहानुभूति प्राप्त थी, यह पृथक् रहने की भावना ही मुस्लिम लीग द्वारा आगे चलकर पाकिस्तान को जन्म देने का कारण बनी। इस प्रकार इन की देशभक्ति को इनकी राजभक्ति दबा लेती थी।

इनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य मुसलमानों को उन्नत करना रहा है। उन्हें हिंदुओं से आगे बढ़ा हुआ देखना चाहते थे जिसे उन्होंने मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े भी निभाया। उदाहरणार्थ भारतीय मुसलमानों को टर्की के ख़लीफ़ा का साथ देने की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार की सहायता करते रहने पर सदैव तत्पर रहने का परामर्श दिया।

अंग्रेज़ी सरकार ने भी इनकी सेवा से प्रसन्न हो कर इनको 'सर' की उपाधि प्रदान की और गवर्नर जनरल की कौंसिल में मुस्लिम जनता का प्रतिनिधित्व करने को स्थान देकर इन का सम्मान बढ़ाया।

आपकी मृत्यु १८६८ में हुई। आपका मुसलमानों में ठीक वही स्थान रहा जो राजा राममोहन राय का हिंदू समाज में।

मिरज़ा गुलाम अहमद कादियानी—पंजाब के गुरुदासपुर ज़िला की कादियां तहसील में १८३७ में मिर्ज़ा गुलाम अहमद का जन्म हुआ था। आप का अरबी, फ़ारसी तथा इस्लामी शास्त्रों पर पूरा-पूरा अधिकार था। उन पर सर सैयद अहमद खां का बहुत प्रभाव पड़ा। ईसाइयों और आर्य समाजियों के आक्षेपों का तर्क-सहित उत्तर देने को, और इस्लाम को 'वहाबी आन्दोलन' के अनुसार इसे विशुद्ध मौलिक रूप में लाने को, इन्होंने 'कादियानी' मत की नींव रखी। मिरज़ा जी ने स्वयं पैगम्बर होने का दावा किया, हालाँकि इस्लामी धर्मानुसार हज़रत मुहम्मद साहब ही अन्तिम पैगम्बर थे। हिंदू धर्म के अवतार सिद्धान्त को अपनाया, और अपने आप कृष्ण का अवतार घोषित कर दिया। इनके अनुयायियों में सुन्दर संगठन है और प्रचार के लिये जोश है। इस मत ने इस्लाम में नयी जान डाल दी है।

बहावी आन्दोलन— मिरज़ा साहब की मृत्यु लाहौर में १९०९ में हुई। इस्लाम के जन्म स्थान अरब में भी ६०० वर्षों में कुरीतियाँ घुस गईं थीं और वहाँ भी आवश्यक हो गया था कि इस्लाम के मूल सिद्धान्तों को ही बल दिया जावे और जो कुछ कुरान शरीफ तथा हदीस में नहीं है उसका डटकर विरोध किया जावे। जो "वापिस कुरान की ओर लौटो" का नारा लगाने वाले थे; उन्होने इसी आशय से **बहावी आन्दोलन** चलाया था। इसका प्रभाव बढ़ते-बढ़ते भारत में भी आ पहुँचा। यहाँ इसे बढ़ावा देने में बरेली के सैयद अहमद थे। हज (मक्का शरीफ की यात्रा) से वापिसी पर लौटकर इस आन्दोलन के नेता बने उन्होंने परिवर्तित नये मुसलमानों के साथ आई हुई रीति-रिवाजों का भी विरोध किया, और इस्लाम का शुद्ध मौलिक स्वरूप सामने लाने में कुछ सीमा तक सफल भी हुए। अंग्रेजी राज्य पर अधर्म फैलाने का दोष लगाकर उसका पूर्णतया निषेध किया। इस प्रकार मुसलमानों में कट्टरता भर गई।

इस वहाबी आन्दोलन का विरोध इस्लाम में आधुनिकता लाने वालों की ओर से मौलाना करामत अली ने किया, और सूफी मत की सहायता में संलग्न हो गये। इस आधुनीकीकरण में मौलाना चिरागअली का बहुत बड़ा हाथ रहा।

डा० सर मुहम्मद इकबाल— १८७३-१९३८— उन्नीसवीं सदी का आरम्भ तो मुसलमानों की शोचनीय दशा में हुआ किन्तु यह दीनावस्था ही डा० के धार्मिक जीवन के रूप में वरदान बन गई। उन्होंने अपनी स्थिति का अध्ययन कर उन्नति की राह निकाली। शिक्षा के क्षेत्र में तो पर्याप्त उन्नति प्राप्त कर ली। इस पुनरुत्थान में बहुत बड़ा हाथ कवि इकबाल का रहा।

इकबाल उर्दू, फारसी, अंग्रेजी भाषाओं के कवि थे ही। आप की कविता में प्राणदायक शक्ति रहती। प्रारम्भ में तो पक्के देशप्रेमी थे। ब्राह्मणों और मुसलमानों को खरी-खरी सुनाते। उनकी लिखी कविताएँ—

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी वह गुलसिताँ हमारा॥"

बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर होती परन्तु बाद में पान इसलामिज़्म (इस्लामी बन्धुत्व) ने देशप्रेम का स्थान ले लिया। यहाँ तक कि इस्लामी जाग्रता ने धार्मिक कट्टरता का रूप लेकर राष्ट्रीय भावना को पीछे धकेला और 'पाकिस्तान' का बीज बो गये।

फलस्वरूप उनकी मृत्यु के दस साल के अन्दर ही विभाजन होकर रहा। सूफीमत का विरोध भी किया, क्योंकि जब सूफियों के निवृत्ति मार्ग से घृणा हो गई थी वे अब जीवन का अर्थ सतत संघर्ष में ही लगाने लगे। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपनी मर्मस्पर्शी कविताओं से मृतप्राय मुसलमानों में नव जीवन का सञ्चार किया। उनसे प्रेरणा लेकर वे कर्मठ बनकर अपनी दशा सुधारने में सफल हुए। भारतीय मुसलमानों के उत्थान का श्रेय उनको भी है इसी कारण उनमें इनका ऊँचा स्थान रहेगा। अंग्रेजी सरकार ने इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर इनको 'सर' की उपाधि प्रदान की थी।

अध्याय १८

धर्म में समन्वयात्मक प्रकृति

वर्तमान दशा— आज संसार के रंगमंच पर बीसवीं शताब्दी का भौतिक ताण्डव नृत्य हो रहा है जहां झोंपड़ी से लेकर कस्बों, नगरों, प्रान्तों तथा देश-देशान्तरों तक पारस्परिक द्वेषाग्नि प्रज्वलित हैं। संसार एक ज्वालामुखी पहाड़ के किनारे पर खड़ा है, और हर समय यही डर बना रहता है कि यदि कहीं तीसरा महायुद्ध छिड़ गया तो इस बार ऐटम बम सर्वनाश करके ही दम लेंगे। विज्ञान अपनी सिद्धियों से स्वयं भयभीत हो रहा है, अर्थशास्त्र अपने आंकड़ों पर चकित हो रहा है। ऐसी परिस्थितियों में मानवता दिग्भ्रान्त है। धर्म मानवता का पथ-प्रदर्शन कर ही नहीं पा रहा है। आज का मानव जीवन के पवित्रतम आध्यात्मिक उत्कर्ष की अवहेलना करके भौतिक सुख-साधनों की अधिक से अधिक प्राप्ति में संलग्न है और इसी में अपनी तथा विश्व की उन्नति मान बैठा है, इसी को परम कर्त्तव्य समझ रहा है। कर्त्तव्य और त्याग का महत्वपूर्ण स्थान आज अधिकार और अर्थ के द्वारा अधिकृत कर लिया गया है।

आवश्यकता— अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हम भौतिक उन्नति को ही एकमात्र लक्ष्य न बनाएं। विलासिता से दूर रह कर, कलह के मूल कारण काम-क्रोधादि के चक्रव्यूह से निकलने और मन की भ्रांतियों को समझने की चेष्टा करें। अतः निर्मूल विवादों से ऊपर उठ कर मानव-जन्म के मूल्य को आंकने और इसका परम लक्ष्य ढूंढने का सत्प्रयास हो। परम शान्ति और सुख की प्राप्ति के लिए धर्म हमारे जीवन में उचित स्थान प्राप्त कर हृदय-परिवर्तन में सहायक हो। धर्म अमर और अक्षुण्ण है। प्रभु-प्रेमियों के हृदयों में सुरक्षित है। क्योंकि मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियों मे से धार्मिक प्रवृत्ति ही एकमात्र ऐसी प्रवृत्ति है जो किसी मूल्य पर भी नष्ट नहीं हो सकती। रूपान्तर चाहे हो जाय। अतः आज आवश्यकता है विज्ञान के ऊपर मानवता के मूल्यों और धर्म को प्रतिष्ठित करने की, विज्ञान को नियन्त्रित करने के लिए लोगों को परमार्थ के अनुसंधान में लगाना है।

डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन के शब्दों में "यदि समस्त विश्व का एक ढांचा बनाना है तो वह धर्म के आधार पर ही बनाया जा सकता है जिसकी आधारशिला सत्य और प्रेम पर स्थित हो।"

धर्म का अर्थ— धर्म का अर्थ है — **'धारयति इति धर्मः'** जो समाज को धारण किये हुए है। यह मनुष्यों को आपस में मिल कर रहने की शक्ति प्रदान करता है।

धर्म ही उसका आन्तरिक रूप है। इसे 'परम का ज्ञान' भी कहा जाता है। कोई इसे 'नैतिक नियम' की संज्ञा देते हैं जिसके बिना मनुष्य मिलकर रह ही नहीं सकते। दूसरे इसे 'न्यायोचित व्यवहार' कहते हैं। यही धर्म हमारे कर्त्तव्य का रूप भी लेता है, जिसे आँकने में मनुष्य की आयु, शक्ति, योग्यता तथा परिस्थितियों का ध्यान रखा जाता है कि लोक-संग्रहार्थ विश्व भर के मनुष्यों को एक प्रेम-मंच पर खड़ा किया जा सके।

धर्म का स्वरूप—शास्त्रों में से उद्धरणों को प्रस्तुत करना, एक समय भोजन करना, घुटनों के बल बैठना, शीर्षासन करना, जटाजूट धारण करना या सिर मुंडा देना आदि अनावश्यक बातों को भ्रमपूर्वक हम धर्म मान बैठे हैं—और समाज के खर्चीले रीति-रिवाजों को या केवल मंदिर, गुरुद्वारा, मस्जिद, गिरजा जाने मात्र को ही पर्याप्त समझ लेते हैं। धर्म केवल विश्वास नहीं, यह न कोई रोग है, न अफीम का नशा। यह तो जीवन का सत्त्व और सत्य है।

सामान्य धर्म में उदारता, अहिंसा, सत्य, शौच, दया, सरलता, सहिष्णुता, राग-द्वेषहीनता, निरासक्त भावना, गुरु आज्ञा पालन का समावेश है। मानव हृदय में छिपे हुए पशुत्व के हनन में, मन के प्रशमन में, सदगुणों के विकास में, निष्काम निस्वार्थ सेवा में, मैत्री-सद्भावना आदि मिल कर धर्म को निर्धारित करते हैं। धर्म के बिना सदाचार लोक-शिक्षा, आध्यात्मिकता और जीवन के किसी भी क्षेत्र की पूर्ति नहीं हो सकती। धर्म जीवन का आधार है।

सभी अवस्थाओं में सर्वत्र आत्मा का दर्शन करना, तथा इन्द्रियों के हर कार्य को आत्मानुभूति ही समझना, जीवन यापन करते हुए अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को लोक-संग्रहार्थ समर्पण करना, संसार भर का हितैषी और परममित्र बनना, दलितों, पतितों, रोगियों और अपाहिजों की सेवा करना, इन्हें सहानुभूति और करुणा प्रदान करना, सेवा में समान दृष्टि रखना, राजा, रंक, धनी, निर्धन को एक संतुलन में परखना आदि ही धर्म का स्वरूप बतलाया गया है।

धर्म का मूल मन्त्र—आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

रेडियो आदि वैज्ञानिक उपकरणों से विश्व हमारे अति निकट आ गया है, परन्तु बाहरी सामीप्य आंतरिक शांति का साधन नहीं। केवल हृदयों में परिवर्तन करके आन्तरिक सामीप्य अभीष्ट है । मानव हृदय में शान्ति का उदय निर्मम और निरहंकार होने से होगा। गंगा स्वयं शीतल है तभी दूसरों को भी शीतल करती है। *अतएव जो कुछ अपने को प्रतिकूल जंचे उसे दूसरों के प्रति नहीं बरतना चाहिए।*

साधन—साधन की नींव आत्म-संयम रूपी तपस्या पर ही डालनी होगी। इसका पुनीत अर्थ समझना होगा। किसी भी परिस्थिति में अपने आचरण तदनुसार ढालकर ही हम धार्मिक कहलाए जाने के अधिकारी होंगे। हम अनुशासन आज्ञाकारिता आदि सद्‌गुणों का अर्जन करें, उनको दैनिक व्यवहार में लाएं। गीता के सोलहवें अध्याय में वर्णित आसुरी सम्पदाओं का त्याग करें, स्वयं तो अच्छे बनें ही, दूसरों को अच्छा बनायें, सभी परिस्थितियों में सबके साथ समुचित व्यवहार करें। इस भौतिक संसार को परमेश्वर की महिमा का संसार ही मानें। इस संसार में उसके विराट स्वरूप का दर्शन करें जिसके सहस्र बाहु हैं। जनता जनार्दन की सेवा करें क्योंकि यह संसार उसी की अभिव्यक्ति है जो अनेक नाम रूपों में प्रकट हो रहा है। हमें **सर्वभूत हितेरताः** को सामने रखकर सब नाम रूपों की सेवा करनी चाहिए। श्री स्वामी शिवानन्द जी के वचनों में—सेवा, प्रेम, दान, आत्म शुद्धि, ध्यान और ज्ञान को धर्म का सार मान व्यवहार में लावें। हाथों से कर्म, मन से भगवच्चिन्तन करें। मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा तो है ही। ईश्वर-साक्षात्कर घर में, मैदान में और सर्वत्र हो सकता है। घर और कार्यालय भी भगवान के मंदिर हैं।

लक्ष्य-प्राप्ति तथा लाभ—परमात्मा के जगत् में रहते हुए उसी के जगत् के माध्यम से आत्मा परमात्मा के ऐक्य के आनन्द की प्राप्ति होगी। यही परम पुरुषार्थ है। इहलोक में ही ब्रह्म में निवास कर उस में लीन रहना है। इसी को जीवन की मुक्तावस्था कहते हैं। अर्थ और काम को जो बराबर उचित स्थान दिया गया है, उसका उद्देश्य यही तो है कि धर्मपूर्वक अर्थ की प्राप्ति करके सब कामनाओं की धर्मानुसार पूर्ति के उपरान्त मोक्ष के अधिकारी बनें। धर्म को जीने की कला मानते हुए कठिनाई तो दीखती है पर है बिल्कुल संभव। यदि हम इस साधन को अपना लें तो स्वर्ग को पृथ्वी पर ला सकते हैं। यह कोई दिवास्वप्न की बात नहीं, अपितु यथार्थ है जिसे जीवन में क्रमशः रूपान्तरित किया जा सकता है। तभी एकत्व की भावना पहिले परिवार, जाति, समाज, प्रान्त, देश से बढ़ती विश्व-बन्धुत्व में बदल जायेगी। इस पुण्य भावना को जाग्रत करने का उत्तरदायित्व शिक्षा-संस्थाओं तथा शिक्षा विभाग के अधिकारियों पर भी आता है।

धर्म और संस्कृति—योगिराज श्री अरविन्द के शब्दों में अनन्त सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, एकमेवाद्वितीय ईश्वर ही एक शब्द में भगवान् ही—जीवमात्र का गृह

ध्येय और परम लक्ष्य है। अतएव वही व्यक्ति तथा समाज के सभी अंगों और सभी प्रवृत्तियों के सम्पूर्ण विकास का उद्देश्य है—इसलिए तर्क-बुद्धि हमारी परम-पथ-प्रदर्शिका नहीं हो सकती । संस्कृति अपने साधारणत: समझे जाने वाले अर्थों में मार्ग-दर्शक ज्योति नहीं हो सकती है । क्योंकि तर्क-बुद्धि भगवान से इधर ही रह जाती है। तथा जीवन की समस्याओं से समझौता भर कर लेती है। संस्कृति को यदि भगवान् की प्राप्ति करनी है तो उसे आध्यात्मिक संस्कृति ही बना रहना होगा। बौद्धिक, सौन्दर्योपासक नैतिक एवं व्यावहारिक शिक्षण की अधिक ऊंची कोटि की चीज बनना होगा अन्यथा हमें पथप्रदर्शक प्रकाश तथा नियामक एवं समन्वयकारी सिद्धान्त कहाँ उपलब्ध होगा ? इसका सर्वप्रथम उत्तर जो हमारे मन में आयेगा और जो एशिया के विचारकों ने दिया है, यह है कि वह प्रकाश और सिद्धान्त हमें सीधा धर्म में ही उपलब्ध होगा। यही उत्तर युक्तियुक्त तथा संतोषजनक जान पड़ता है। धर्म मनुष्य के अदर की एक ऐसी प्रधान प्रेरणा भावना, प्रवृत्ति एवं विधि व्यवस्था है जिसका लक्ष्य स्पष्ट रूप में भगवान् ही है । मनुष्य की अन्य प्रवृत्तियां परोक्ष रूप में उन्हें ही अपना लक्ष्य बनाती प्रतीत होती है । जगत की बाह्य एवं अपूर्ण प्रतीतियों के पीछे चिरकाल भटक-भटक कर ठोकरें खाने के बाद व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक होगा कि समस्त जीवन को धर्ममय बना कर सब काम-काज धार्मिक भावना के अनुसार ही चलाया जाये। १९५९ के शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में इस धर्ममय जीवन की शिक्षा की आवश्यकता पर तो बहुत ही बल दिया है।*

भारत की राजनीति ही क्या कोई भी नीति धर्म से पृथक् कभी नहीं रही। भारत का धर्म तो इस की प्रत्येक नीति से युक्त रहा । एक महात्मा ने यह कहा है धर्महीन राजनीति विधवा है और राजनीति से रहित धर्म विधुर है। देश की वर्तमान स्थिति में ऐसे राग-द्वेष हीन धर्म-परायणा, कर्मठ, निर्भीक नेताओं की आवश्यकता है जो पदलोलुपता के कीचड़ से निकाल कर केवल जनता-जनार्दन की सेवा द्वारा देश कल्याण में रत हो सकें।

---

*Religion should come as a sense of fulfilment of this primary need of man. In a sense religion is the most secular of all pursuits. No real religion will submit to separation from life. If we exclude spiritual educational training in our institutions we would be untrue to our national development. To be secular is not to be religiously illiterate. It is to be deeply spiritual, and not narrowly religious.
—University Education Commission report 1959.

रामकृष्ण परमहंस

जन्म—बंगाल प्रान्त के हुगली जिला कामारपुकुर ग्राम में एक ईश्वर प्रेमी सनातनी ब्राह्मण घराने में १७ फरवरी १८३६ को एक अद्भुत बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम गदाधर चट्टोपाध्याय रखा गया। यही बालक आगे चलकर विश्वविख्यात रामकृष्ण परमहंस कहलाये। मानो बीसवीं शताब्दी के पूर्व और पश्चिम के सभी लोगों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह आये। क्योंकि श्री स्वामी दयानन्द जी या राजा राममोहन राय जी हिन्दुत्व की रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व न ले सके थे।

प्रारम्भिक जीवन—यह चार साल की आयु से ही समाधिस्थ होने लगे। पुस्तकीय विद्या से अरुचि होने के कारण ग्रामीण प्राइमरी पाठशाला से उनकी शिक्षा समाप्त हो गई, परन्तु अपने अनुकरणीय चरित्र, मधुर सुरीले स्वर, अपूर्व आनन्द-मय अनुभव, असाधारण बुद्धि, अलौकिक व्यक्तित्व तथा सभी जातियों के लोगों से निष्काम प्रेम के कारण वे आस-पास के समस्त ग्राम निवासियों की प्रशंसा तथा भक्ति के पात्र हो गये।

साधना—जब इनके बड़े भाई रासमणि कलकत्ते के दक्षिणेश्वर मंदिर में प्रधान पुजारी नियुक्त हुये, यह १८५६ में उनके सहायक बने और उनकी मृत्यु के पश्चात् इन्होंने पूजा का सारा भार उठा लिया। हिन्दू-धर्म के विभिन्न अंगों अद्वैत, द्वैत, शैव, शाक्तादि की साधना बारह वर्ष चलती रही। यहीं पर इन्होंने तपस्या तथा त्याग का जीवन आरम्भ किया। इन्होंने श्री तोतापुरी जी से संन्यास ग्रहण किया जिन्होंने इनका रामकृष्ण नाम रक्खा। इन्होंने तान्त्रिक साधना भी की। तदुपरान्त इस्लाम धर्म तथा इसाई धर्म के अनुयायियों की भांति भी कई वर्ष उपासना की और प्रत्येक विशिष्ट धर्म के सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त किया, और साधना द्वारा प्राप्त अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों का सार-तत्त्व मानव जाति को दिया।

जीवन का उद्देश्य—अब उनका एकमात्र ध्येय था, परमात्मा को विश्व का माता पिता सिद्ध करना तथा इस प्रकार स्त्री के आदर्श को जगदम्बा माता के पद पर प्रतिष्ठित करना। जीवन भर अपनी पत्नी को मानवी रूप में काली माता ही समझने का एकमात्र उदाहरण केवल परमहंस जी का ही है। इन्होंने दिखा दिया कि किस प्रकार कोई सच्चा आत्मज्ञानी इन्द्रियों के विषयों से बाहर होकर ही परमा-नन्द में लीन रह सकता है और कैसे आत्मा ब्रह्मत्व को प्राप्त करने में समर्थ है। विभिन्न सम्प्रदायों के मूल में सैद्धान्तिक एकता दिखाकर उनमें मेल स्थापित करना ही उनके जीवन का उद्देश्य रहा।

सिद्धान्त—समस्त धर्म एक नित्य सत्य की ओर ले जाने वाले विभिन्न मार्ग हैं। परमात्मा एक हैं, किन्तु उनके रूप अनेक हैं। वह निराकार भी हैं और साकार भी और दोनों से परे निर्गुण भी हैं। आप इन्द्रिय-जन्य तथा बौद्धिक ज्ञान पर अनुभूति-जन्य ज्ञान की विजय के मूर्तिमान् प्रमाण हैं।

प्रभाव—उनको सभी विचार काली मां से प्राप्त होते थे। इनमें मानवीय बुद्धि, संस्कार अथवा पांडित्य का सम्मिश्रण नहीं था। जन्म से लेकर मृत्यु तक उनका प्रत्येक कार्य असाधारण था। उनके चरित्र और उपदेश अलौकिक एवं चमत्कार पूर्ण थे। वह स्पर्श मात्र से ही किसी भी पापी के चरित्र को अपनी देवी शक्ति द्वारा पलट देते थे। अपनी आत्मिक-शक्ति दूसरों में डालकर उन्हें ईश्वर के दर्शन करा देना उनके बांये हाथ का खेल था। इसके उदाहरण, नास्तिक नरेन्द्र को जो बाद में श्री विवेकानन्द के नाम से जगत् में विख्यात हुए, कौन नहीं जानता ? जिन्होंने बाद में अपने गुरुदेव के मिशन के प्रचारार्थ रामकृष्ण मिशन की स्थापना करके विश्व भर में उनके अमर उपदेशों का प्रचार किया।

उनके १६ अगस्त १८८६ को ब्रह्मलीन होने के १० वर्ष के भीतर ही भूतपूर्व प्रोफेसर सी० एच० टानी ने लन्दन के इम्पीरियल और Quarterly Review के सन् १८९६ ई० के जनवरी के अंक में एक आधुनिक हिन्दू सन्त (श्री रामकृष्ण) शीर्षक लेख छपवाया था।

इसी प्रकार प्रो० मैक्समूलर ने भी सन् १८९६ ई० के नाइन्टीन्थ सैंचुरी नाम की अंग्रेजी पत्रिका के अगस्त अक में A Real Mahatma (एक वास्तविक महात्मा) के शीर्षक से परमहंस जी के जीवन संक्षिप्त परिचय लिखा और बाद में Ramakrishna—His Life & Sayings नाम की पुस्तक लिखी। न्यूयार्क की वेदान्त सोसाइटी ने १९०३ में Sayings of Ramakrishna और १९०७ में Gospel of Ramakrishna नामक ग्रन्थ प्रकाशित किये। इस संदेश के बाद में यूरोप की स्पेनिश, पुर्तगीज, डेनिश स्कैंडिनेवियन और जेकोस्लवाकी भाषाओं में अनुवाद हुए।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द एक महान् धर्मदूत थे। रोम्या रोलां के शब्दों में गान्धी, रवीन्द्र और अरविन्द की साधना का श्रेय उन्हीं को है। रामकृष्ण परमहंस की चरणकृपा की ज्योति के विस्तार से उन्होंने अविद्या अन्धकार का नाशकर आत्मगत सत्य की

चेतना से मानवता का कल्याण किया। भविष्य में आने वाले भारत को उनके तप, त्याग, निष्ठा और ज्ञान से प्रेरणा मिलती रहेगी।

देश की स्थिति—बीसवीं शताब्दी में भारतीय इतिहास के उस विकट संकट काल में जब हम अपने देश, धर्म, संस्कृति के जातीय धर्म गौरव को भूलकर, उसे नितान्त त्याज्य समझ पाश्चात्य भौतिक सभ्यता का अन्धानुकरण करने में तल्लीन थे, ऐसे अज्ञान अंधकार के समय में स्वामी विवेकानन्द ने पथ भ्रष्टों का अपनी ज्ञान ज्योति से मार्ग-प्रदर्शित कर अपनी अमृत वाणी से करोड़ों भारतीयों को प्रबु कर उन्हें गौरवशाली बनाया।

जन्म एवं बाल्यकाल—१२ जनवरी, १८६३ को मकर-संक्रांति के पु अवसर पर कलकत्ते में श्रीमती भुवनेश्वरी देवी ने एक अलौकिक पुत्र को जन्म दि जिनको नरेन्द्र दत्त के नाम से अभिहित किया गया। इनके पिता विश्वनाथ दत्त (ए सुप्रसिद्ध वकील) पाश्चात्य बुद्धिवाद के पुजारी थे। इनको विरासत में जहां पित से बुद्धिवाद मिला, वहां माता से धर्म प्रेरणा मिली। बचपन से ही नरेन्द्र में धार्मिक पिपासा थी।

व्यक्तित्व—उनकी वज्र के सदृश पुष्ट काया अपूर्व ज्योति से ज्योतित थी वाणी में माधुर्य एवं अमृत बरसता था। उसका सान्निध्य दिव्य-प्रभाव से युक्त था वे धार्मिक कथाप्रेमी, उदार, संयमी, विवेकी, सेवाव्रती, ईश्वर, धर्म, देशप्रे विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न एवं सत्यनिष्ठ थे। परदुःखकातर स्वभाव वाले नवनीत हृदय थे। आत्म-विश्वासी एवं वक्तृत्व शक्ति से युक्त थे। नरेन्द्र को व्यायाम, कुश्त संगीत एवं अभिनय में विशेष रुचि थी। इन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सीटी से बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। इनकी प्रतिभा अपूर्व थी।

साधना काल— नरेन्द्र तर्कशील होने के कारण किसी भी बात को श्रद्धा के आधार पर न मानकर, विवेक की तराजू पर तोल कर स्वीकार करते थे। आरम्भ में ब्रह्मसमाज से प्रभावित हुए। शाकाहार, परिमित भोजन, भूमिशयन और देशी पहरावा उन्होंने अपनाया। पर उससे सत्य की जिज्ञासा शान्त न हुई। प्रखर बुद्धि साधना में समाधान् न पाकर नास्तिक हो चली।

रामकृष्ण से भेंट—वे एक ऐसे तत्त्वदर्शी की खोज में थे जो उन्हें परम सत्य का साक्षात्कार करवा दे। ऐसी घोर निराशा के समय नवम्बर १८८१ ई० में इनका श्री रामकृष्ण परमहंस से प्रथम साक्षात्कार हुआ। इनसे सुमधुर गीत सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए। परमहंस जैसे जौहरी ने रत्न को परखा। रामकृष्ण ने कहा

तुम नर रूप में अवतरित नारायण हो, जीवों के कल्याण के लिए तुमने देह धारण की है। नरेन्द्र को यह सब बातें अनर्गल प्रतीत हुईं। बुद्धिवादी नरेन्द्र एकदम प्रभावित न हुआ। एक दिन रामकृष्ण से पूछा क्या आपने कभी ईश्वर को देखा है ? उन्होंने उत्तर दिया मैंने तो उसे देखा जैसे मैं तुम्हें अपने सामने देख रहा हूँ। श्री रामकृष्ण से प्रभावित हो गुरुदीक्षा लेकर ७ वर्ष तक उनके चरणों में अध्यात्म विद्या प्राप्त की। उन दिव्य महापुरुष के सम्पर्क से नरेन्द्र बदलगया। उनको एक महान् दिव्य अनुभव हुआ। कहा जाता है कि उनसे शक्ति प्राप्त होने पर कुछ दिनों तक नरेन्द्र उन्मत्त से रहे। उन्हें गुरु ने तत्त्व-दर्शन करा दिया था।

१८८४ ई० में पिता की मृत्यु के परिणाम स्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों से घबराकर नरेन्द्र ने निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करना चाहा किन्तु कर्म क्षेत्र से भागने की अनुमति गुरुदेव ने नहीं दी।

परिव्राजक विवेकानन्द—१५ अगस्त १८८६ ई० को श्री रामकृष्ण परमहंस ने अपनी नर-लीला संवरण की। तत्पश्चात् इन्होंने २५ वर्ष की अवस्था में संन्यास के काषाय वस्त्र धारण कर लिये। परिव्राजक बन देश भ्रमणार्थ चल पड़े। उत्तर में श्री अमरनाथ से लेकर भारत के सभी तीर्थ-स्थलों की यात्रा की, जिसमें कन्या कुमारी की यात्रा का इनके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् शिव की प्राप्ति हेतु तपस्विनी कन्या कुमारी की एक तपशिला है जो समुद्र के तट से दो फर्लांग दूर, समुद्र के भीतर आज भी विद्यमान है। कन्या कुमारी के श्रीचरणों से अंकित इस शिला का नाम श्रीपादशिला है। इस शिला पर स्वामी जी दो दिन, दो रात अटूट समाधि में लीन रहे थे।

शिकागो में—वसुधैव कुटुम्बकम् के अनुयायी स्वामी विवेकानन्द ने १८९३ ई० में शिकागो (अमेरिका) नगर में होने वाले विश्व धर्म सम्मेलन में भारतीय संस्कृति का शंखनाद करने की इच्छा से भौतिकवादी देश अमेरिका के लिये प्रस्थान किया। विश्व-धर्म-सम्मेलन में जब प्रवेश किया तो देश-देश के धर्म-प्रतिनिधि उनके दिव्य सौन्दर्य को देख विमुग्ध हो गए। जिस समय उन्होंने उपस्थित जनता को बहिनों और भाइयों के रूप में सम्बोधित किया तो उस समय अमेरिका का मस्तक भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक ज्योति के मूर्तिमान् स्वामी विवेकानन्द के चरणों पर श्रद्धा और भक्ति से प्रेम और आदर से विनत हो गया। उन्होंने अपने संक्षिप्त भाषण में धर्म का विचार प्रकट किया। परमहंस श्री रामकृष्ण के शब्दों में उन्होंने दुहराया कि सभी धर्म सत्य हैं और वे ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न उपाय मात्र है। आज से धर्म

ध्वजाओं पर लिख देना चाहिये कि युद्ध नहीं सहयोग, भेद नहीं सामंजस्य। उन्होंने अमेरिका में सिंहनाद किया कि हिन्दू धर्म विश्व धर्म है। संसार के सभी उपस्थित दार्शनिक और तत्त्वज्ञानी विद्वान् उन पर मुग्ध हो गये। उन्हीं का व्यक्तित्व था जिसने भारत एव हिन्दू धर्म के गौरव को प्रथम बार विदेशों में जागृत किया।

अमेरिका के अग्रणी दैनिक न्यूयार्क हैरल्ड ने लिखा कि शिकागो धर्म सभा मे विवेकानंद ही सर्वश्रेष्ठ धर्म-व्याख्याता हैं। धर्म-मार्ग में इस प्रकार के समुन्नत राष्ट्र भारत में यहाँ से धर्म-प्रचारकों को भेजना निरी मूर्खता है। प्रेस ऑफ अमेरिका ने लिखा कि हिंदू धर्म व दर्शन के आचार्य स्वामी विवेकानन्द सभी सभा-सदों में अग्रगण्य है। उनकी वाणी में जादू का सा प्रभाव है। तथापि ईसाई धर्म के अनेक धर्माचार्य वहां उपस्थित थे। उन सभी के भाषण स्वामी जी के व्याख्यानों के सामने फीके पड़ गये। स्वामी जी ने धर्म तत्त्वों की ऐसी प्रस्थापना की कि वे श्रोता-मण्डली के हृदय पर गंभीरता से अंकित हो गये।

अमेरिका तथा इंग्लैंड में इनके कई अनुनायी बन गये। प्रसिद्ध कुमारी मार्गरेट नोवल विदुषी महिला स्वामी जी की शिष्या बनकर भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुई। १८९६ ई० में योरुप होते हुए भारत लौटे। जर्मनी में वे वेदों के विद्वान मैक्समूलर से भी मिले।

भारत में—सेवियर दम्पति सहित स्वामी जी अपनी जन्मभूमि भारत लौटे। भारत में स्थान-स्थान पर उनका भव्य स्वागत हुआ। उन्होंने केवल अध्यात्मवाद की ओर ही भारतीय लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं किया बल्कि भारत की सामाजिक अवस्था सुधारने का भी प्रयत्न किया। उनका कथन था भारत का जीवन उसकी आध्यात्मिकता में निहित है।

भारत की मुक्ति, सेवा और त्याग पर अवलम्बित है। दरिद्रनारायण के प्रति देश की उपेक्षा पर जनता को फटकारते हुए उन्होंने कहा कि दरिद्रनारायण की उपेक्षा राष्ट्रीय पाप है। ईश्वर तो इन्हीं पीड़ित जनों में निवास करता है। धर्म एवं तत्त्व ज्ञान के समान भारतीय स्वतंत्रता की प्रेरणा का भी उन्होंने नेतृत्व किया। वे कहा करते थे, मैं कोई तत्त्ववेत्ता नहीं हूँ, न तो संत या दार्शनिक ही हूँ। मैं तो गरीब हूँ और गरीबों का अनन्य भक्त हूँ। मैं तो सच्चा महात्मा उसे कहूँगा, जिसका हृदय गरीबों के लिए तड़-फता हो। इस प्रकार भारत में, अशिक्षा, अज्ञान, अकर्मण्यता और दैन्य को दूर भगाना चाहते थे। वे युग प्रवर्तक थे। "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" ही उनकी मंत्र-दीक्षा थी। पिण्ड में ही परमेश्वर का साक्षात्कार करते थे। उन्होंने सर्वात्मभावेन अपने को गुरु कार्य के लिये समर्पित किया था। उनके जीवन में कर्म, भक्ति और ज्ञान की

त्रिवेणी प्रवाहित हुई थी। इस प्रकार कई भाषणों द्वारा अपने भारत में एक नयी चेतना का सृजन किया। उन्होंने हमारी सोयी हुई आत्मा को प्रबुद्ध किया। स्वामी जी हमारे धर्म और संस्कृति के अथक साधक थे।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना—१८९७ में, परमहंस के सिद्धान्तों के स्थाई प्रचार हेतु एवं मानव मात्र के कल्याणार्थ, रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई। मानव की शारीरिक, मानसिक एवं पारमार्थिक उन्नति करना मिशन का उद्देश्य निश्चित हुआ। सर्वधर्म, सम भाव इसका व्रत निश्चित हुआ। सर्वसम्मति से प्रथम सभापति स्वामी विवेकानन्द बने। भारत में तथा अमेरिका में रामकृष्ण मिशन की अनेक शाखायें स्थापित हुई।

स्वामी रामतीर्थ से भेंट—आपकी लाहौर में गणित के प्राध्यापक तीर्थराम से भेंट हुई। उन्होंने प्रभावित हो आपको एक घड़ी भेंट की। स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर वापिस उनकी जेब में रखते हुये वेदान्त की भाषा में कहा : मित्र, इस घड़ी का उपयोग मैं इसे इस जेब में ही रखकर करूँगा। पश्चात् सब कुछ त्याग तीर्थराम संन्यासी का जीवन स्वीकार कर स्वामी रामतीर्थ नाम से प्रसिद्ध हुए।

निर्वाण—४ जुलाई, १९०२ को ३० वर्ष की अल्पायु में भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रणेता, कुशल प्रचारक, संरक्षक, योगिराज, महासमाधि में लीन हो गए।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

साधारणतया देवी सरस्वती और लक्ष्मी की कभी भी नहीं पटती, परन्तु बंगाल के ठाकुरों का एक परिवार इसका अपवाद था। जिसमें ऐश्वर्य के साथ-साथ दार्शनिक चिन्तन, साहित्य-साधना, कला-सेवा, समाज सेवा आदि के शुभ कार्य सदैव सुचारु रूप में चलते थे। रवीन्द्र ने ऐसे कुल में १७ मई १८६१ को जन्म लिया। उनके शैशव काल में ही कविता को प्रोत्साहित करने वाले भाई-बहनों के रूप में कला-विनोदियों तथा साहित्य-प्रेमियों की गोष्ठियां होती रहतीं। पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ जी तथा राममोहन राय हाफिज़ की फारसी की कवितायें प्रेमपूर्वक गाते रहते थे।

*हाफ़ज़ागर वस्ल ख्वाही, सुलह कुल वाखासो आम।
वा मुसलमां अल्लाह अल्लाह, वा ब्राह्मण राम राम॥

---

*हाफ़िज अपने आप को कहते हैं कि यदि तुम्हें आत्मसाक्षात्कार करना है तो हर एक से मेल-मिलाप रख। मुसलमानों को अल्लाह और ब्राह्मणों को राम राम कहा कर।

अर्थात् यदि प्रभु से मिलना चाहते हो तो सबसे शान्ति और प्रेम का व्यवहार रखो।

रवीन्द्र को यह सारा वैभव बंधन-सा महसूस होता। वे गम्भीर और चिन्तन-शील बनते गये और उनकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती गयी। एकान्त-प्रियता बढ़ती गयी। गांव की निस्तब्धता तथा उन्मुक्त आकाश की मेघ-मालाओं से वे सतत प्रेरणा लेते रहते। जब उपनयन संस्कार के बाद पिता डलहोजी ले गये तो वहां प्रकृति की नैसर्गिक शोभा से प्रभावित होने पर उनकी आत्मा से कविता प्रस्फुटिक हो पड़ी। चार-पांच वर्षों ही में इतना कुछ रचा कि बंगला-प्रेमियों के तो वे आकर्षण केन्द्र ही बन गये।

इनकी विदेश यात्राओं का प्रारम्भ लन्दन से हुआ, जहां के विश्वविद्यालयों से कानून की डिग्री लेने के साथ-साथ इन्होंने अंग्रेज़ी कवियों का अध्ययन भी किया।

रचनाएँ— बंगला एवं अंग्रेजी भाषा में लिखित उनकी अनेक रचनाएँ हैं। कवि कामिनी, पृथ्वीराज-पराजय, भग्न हृदय, संध्या तथा प्रभात-संगीत, मायार खेला, विसर्जन, चित्रांगदा, पोस्टमास्टर आदि लिख कर बंगला साहित्य को खूब सजाया। साहित्य के हर क्षेत्र में उनकी पहुँच है। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना गीतांजलि मानी गई है। जब फिर १९१२ में महाकवि ने विलायत यात्रा की तो आयरलैण्ड के कवि यीट्स ने पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान उनकी गीतांजलि की ओर आकर्षित किया जिसके फलस्वरूप गीतांजलि विश्वविश्रुत नोवल-पुरस्कार से सम्मानित हुई। विश्व ने भारत के इस रत्न रवीन्द्रनाथ को "विश्व कवि" स्वीकार किया। भारत के सपूत ने इस प्रकार मातृभूमि का मान बढ़ाया।

विश्व-बन्धुत्व की भावना— भारत-भूमि से उन्हें बहुत अनुराग था तभी जलियांवाला बाग के काण्ड के विरोध में "सर" की उपाधि लौटा दी थी, पर उन्हें संकुचित राष्ट्रीयता से घृणा थी। उनका परम ध्येय मानव-मात्र का कल्याण था। तभी तो उन्होंने अनेक बार विदेश यात्राओं का कष्ट सहर्ष उठाया जिनका महत्व उनकी रचनाओं के महत्व के समान ही है। इनकी यात्राओं का उद्देश्य — विश्वबन्धुत्व — 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावना का प्रसार तथा पूर्व-पश्चिम का मिलाप कराना था। सारा विश्व एक परिवार है, ऐसी उनकी मान्यता रही, और इसी भावना को जगत् भर में जाग्रत करना चाहते थे।

कवीन्द्र रवीन्द्र भगवान् को सर्वोत्कृष्ट कलाकार मानकर इस संसार को उनकी कला की सर्वोत्तम कृति समझते रहे। इसी में भगवान् के सौंदर्य का दर्शन करते और इसी सौंदर्य के पुजारी बनकर अपने भावों को काव्य के माध्यम से अभि-व्यक्त करने में आनन्द लेते। वे इसी सौंदर्य को सत्यं तथा शिवं का अविभाज्य अङ्ग मानकर दर्शन करके प्रसन्न होते थे।

विश्व को देन—सन् १६०७ में सपत्नीक वे अपने पूर्व पुरुषों की तपोभूमि "शान्ति निकेतन" में पहुँच गये जहां उन्होंने भारतीय प्रणाली पर बोलपुर ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना की। थोड़े ही समय बाद वह विश्व भारती जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बन गयी। उसे सुचारु रूप से चलाने में आर्थिक कठिनाई को दूर करने के लिये इसीपर उन्होंने अपनी सारी चल, अचल सम्पत्ति सहर्ष लगा दी। भगवान जिस पर अति कृपा करते हैं उसके सारे बाह्य प्रसन्नता के केन्द्र हरण कर लेते हैं। एक ही वर्ष में अर्द्धांगिनी, दो बच्चे, पूज्य पिता औंर एक मित्र स्वर्ग सिधारे। यह सारे आघात इस स्वर्ण के पुतले को तपा कर कुंदन ही बनाते चले गये। पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त शान्तिनिकेतन विश्वविद्यालय में आज विश्व के कोने-कोने से कई ज्ञान पिपासु विद्या पाने के हेतु प्रवेश पाकर अपनी जिज्ञासा को तृप्त कर गौरव अनुभव करते हैं।

'महात्मा' और 'गुरुदेव' की उपाधियों का आदान-प्रदान— कवीन्द्र रवीन्द्र-नाथ ठाकुर के साथ जब गांधी जी का परिचय हुआ तो देश के भविष्य के बारे में बात चल पड़ी। गांधी जी ने कहा—"मेरी यह तपस्या केवल हम लोगों के लिये नहीं है, मैं चाहता हूं कि यह स्वाधीनता सबके लिये हो। भारतवर्ष के स्वाधीन होने पर भी यदि पृथ्वी के अन्य देश पराधीन बने रहे तो मुझे चैन न मिलेगा, और मै समझूंगा कि अभी हमें स्वाधीनता नहीं मिली। इसलिये मेरी साधना सबकी मुक्ति की साधना है।"

रवीन्द्र ने उत्तर दिया — "इसलिये तो आप महात्मा हैं। उपनिषद् में लिखा है — जो समग्र विश्व की साधना करते हैं वे ही तो यथार्थ महात्मा हैं, बोधिसत्व लोग तब तक स्वयं बोध पाने की इच्छा नहीं रखते, जब तक समस्त प्राणियों को बोधिलाभ न हो जाय, भक्तों ने भी अकेले मुक्त होने को ग्रहणीय नहीं माना है। आपने जो संकल्प किया है, वह इस महान् परम्परा के अनुकूल ही है।"

गांधी जी ने कहा —"आपने मुझे 'महात्मा' कहा, लेकिन मैं जानता हूं कि मैं अभी इस पद को प्राप्त करने योग्य नहीं हुआ। आपको ऐण्ड्रूज़ साहब व मित्र-गण "गुरुदेव" कहा करते हैं आज से मैं भी आपको गुरुदेव ही कहूंगा। मुझे आशा है कि आप सदैव हमारी भूल-चूक बताते रहेंगे और हमें रास्ता दिखाते रहेंगे। आज से मैं आपको परम आत्मीय रूप में ग्रहण करता हूं।"

रवीन्द्र का उत्तर था—"यहां के लोग मुझे 'गुरुदेव' कहा करते हैं, मैं उन्हें रोक नहीं पाता, लेकिन उनके साथ आप क्यों इस सम्बोधन से मुझे बुलायेंगे ? यहां चारों ओर जो दुर्गति और प्रतिकूलता वर्तमान है उसके उन्मूलन के लिये हमें एक दूसरे की आवश्यकता है।"

अन्तिम संदेश— ८१ वर्ष की अवस्था में रोग शय्या पर पड़े-पड़े भी उन्होंने मानवता के नाम "सभ्यतार संकट" शीर्षक का एक ओजस्वी, प्रेरणादायक संदेश देश नाम लिखा। अन्त में ७ अगस्त १९४१ को विश्व-कवि गुरुदेव ने कलकत्ता महानग में इस पार्थिव शरीर को छोड़ा। तब अकेले बंगाली नहीं रोये, भारतीय नहीं रो परन्तु विश्व-भर की सारी मानवता ही रोयी।

एनी बेसेंट

बीसवीं शती के आरम्भ में जिस समय भारतीय नवयुवक पाश्चात्य संस्कृि का अंधानुकरण कर रहे थे और भारतीय नेताओं के पथ प्रदर्शित करने पर भी नहं मानते थे, ठीक उसी समय देव-कृपा से श्री एनी बेसेंट का लन्दन से भारत में आगमन हुआ। इन्होंने सशक्त स्वरों में घोषणा की कि जहां पाश्चात्य देशों में धार्मिकत का दिवाला निकल रहा है, वहाँ उपनिषदों पर आधारित भारतीय संस्कृति अपनी चरम सीमा पार कर चुकी है।

भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट प्रेम रखने वालों में एनी बेसेंट का नाम अत्यन्त श्रद्धा और आदर से लिया जाता है। आप उच्च कोटि की भगवद्-भक्त एवं आस्तिक महिला थीं।

यद्यपि आप का जन्म आयरलैण्ड में एवं पालन-पोषण इंगलैंड में हुआ था, फिर भी इनके जीवन का दो-तिहाई भाग भारत में ही बीता।

लन्दन की थियोसाफिकल सोसाइटी मैडम ब्लैवेटस्की से उनकी जब भेंट हुई तो वह थियासाफी के सिद्धान्तों की ओर पूर्णतया खिच गयी। सोसाइटी की सेवा ही उनके जीवन का एकमात्र ध्येय हो गया।

भारत के वसुधैव कुटुम्बकम् की नीति के अनुसार एनी बेसेंट ने भारत को अपना कार्यक्षेत्र चुना। विश्व भर का कल्याण करना इस सोसाइटी का उद्देश्य था। सन् १९२१ में इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Hinduism लिखी और जनता-जनार्दन की सेवा में उतर पड़ी। इन्होंने इसी को भगवद् सेवा माना। इनका जीवन भारतमय रहा। उनका भारत श्री भगवान का दिव्य-विग्रह था। उसकी सेवा वह ईश्वर की आराधना और उपासना के रूप में करती थीं।*

वास्तव में वे एक भौगोलिक भूल थी। उनका जन्म भारत में होना चाहिए था क्योंकि मन से वे भारतीय थी।

---

* I love India as my own. Mine is India with whom all my hopes of future and memories of the past are bound up.—*A. Besant*

धार्मिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में उन्होंने भारत-भूमि के उन्नति के लिये शुभ प्रयत्न किया। संसार को भारतीय और ईश्वर भक्ति के रंग में रंग देना उनके जीवन का पवित्र उद्देश्य बन गया।

भारतीयों की शिक्षा की उन्नति के लिये इन्होंने काशी में सैण्ट्रल हिन्दू कालेज खोला जिसे बाद में विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये श्रीमदनमोहन मालवीय जी के चरणों में श्रद्धापूर्वक समर्पित कर दिया। उन्होंने भारतीयों को स्वशासन, आत्म-सम्मान और आत्म-ज्ञान की शिक्षा दी।

इन्होंने भारतीय अध्यात्म-विद्या के प्रचार के लिये भारत और योरुप के कोने कोने का भ्रमण किया। वे नवीन भारत की जननी थीं।

बड़े-बड़े त्यागी और कर्मठ विद्वान् आपके सेवा-भाव से प्रभावित होकर आप के अनुगामी हो गये थे। आपकी सात्विकता, प्रेममय जीवन की पवित्रता को देख जनता आप में मां की भांति श्रद्धा रखने लगी थी। आपका खानपान पूर्णतया निरामिष था।

आप प्रवीण वक्ता, सुन्दर लेखिका, प्रभावशाली नेता, सफल सुधारिका, कुशल प्रबन्धकर्त्री थीं। आपके विचार और कर्मों की उच्चता में समानता थी। आपमें असाधारण नैतिक बल था। गीता पर आधारित उनका कर्मयोग आसक्ति-रहित था। उनकी लिखित भगवद्गीता अनुवाद सदैव उनकी स्मृति बनाये रखेगी।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही आपने भारत के राजनीति क्षेत्र में भाग लेना आरम्भ कर दिया था, क्योंकि भारत की दासता उनके लिये असह्य थी। महात्मा गांधी ने आपके विषय में अपने ये उद्‌गार प्रकट किये थे—

"जब तक भारतवर्ष जीवित है, लोग श्री एनी-बेसेंट की गौरवपूर्ण सेवाओं और कार्यों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते रहेंगे।*

रवीन्द्रनाथ टैगोर भारत के प्रति आपके अद्वितीय प्रेम को एवं आपकी निर्भयता को सराहते नहीं अघाते थे।

---

*डा० ए० बेसेंट के महान् गुणों का अपने में विकास कीजिए। वे जिस बात में विश्वास रखती थी उसी को कहती थी और जो कुछ कहती थी तदनुसार करती भी थी, यही कारण है कि वे विश्व के श्रेष्ठ वक्ताओं में गिनी जाती हैं। अपनी धारणाओं में उन्हें आस्था थी। उन्होंने सदैव अपने वचनों को कार्य रूप में परिणत किया। उनके जीवन की सादगी एवं संकल्पों की दृढ़ता का अनुकरण कीजिए।

—मो० क० गांधी

२५ सितम्बर १९३३ ई० को ८६ वर्ष की अवस्था में आपका स्वर्गवास हो गया आपकी पूर्व-इच्छानुसार आपकी राख श्री गंगा जी की पवित्र धारा में प्रवाहित कर दी गयी ।

थियोसोफिकल सोसाइटी

थियोसॉफी दो शब्दों से मिलकर बना है। 'थियो' का अर्थ है ईश्वर और 'सोफी' का अर्थ होता है ज्ञान। अतः उपयुक्त शब्द का पूर्ण अर्थ हुआ—ईश्वरीय ज्ञान। जो नियम हमें ईश्वरीय ज्ञान की ओर प्रेरित करते हैं उनके सामूहिक रूप को थियो-सोफी कहा जाता है और तत्कथित संस्था थियोसॉफिकल सोसाइटी इसका क्रियात्मक व्यक्त स्वरूप है ।

मुख्य उद्देश्य—इसका मुख्य उद्देश्य 'सत्य का निर्णय' करना है। प्रत्येक व्यक्ति को जाति या धर्म के दृष्टिकोण से न देखकर विशाल मानवीय दृष्टिकोण से देखा जाता है। जीवन को उचित ढंग पर ढालने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। शुद्ध ज्ञान के प्रचार को सोसाइटी अपना मुख्य कर्त्तव्य समझती है। आपस में प्रेम का व्यवहार करते हुए (जाति, देश, लिङ्ग तथा वर्णागत भेदों को न मानकर) ज्ञान प्राप्त करना ही मुख्य उद्देश्य माना गया है। इस ज्ञान का अध्ययन वैज्ञानिक रीति से होता है। सारा संसार एक इकाई है और प्रत्येक व्यक्ति के विचार, भाव तथा कर्म के अनुसार संसार का कल्याण होगा। अतः संसार के सभी विचारशील मानव विश्व-बन्धुत्व के आदर्श को स्वतः ही स्वीकार करेंगे ।

स्थापना—उत्तरी अमेरिका के न्यूयार्क नगर में १७ नवम्बर १८८५ को कर्नल ऑलफौट और मैडम ब्लैवेड्स्की ने इस सोसाइटी को स्थापित किया। तब से इसकी शाखाएँ सारे जगत् में फैल रही है, और जगत् भर में आध्यात्मिक जन-जागरण की योजना शीघ्रता से चल रही है । यह कोई स्वतन्त्र धर्म नहीं जो दूसरे धर्मो की प्रतियोगिता में खड़ा हो, यह 'सत्य' अर्थात् 'सनातन ज्ञान' है जो सब धर्मो का मौलिक रूप है। इसी के प्रचारार्थ प्रेम-मार्ग के लिए यह सोसाइटी है।

भारत में—न्यूयार्क से प्रधान कार्यालय, मद्रास से ७ मील दूर अडियार में लाया गया है। इसका अखिल भारतीय केन्द्र वाराणसी में स्थित है। जो भी व्यक्ति इस सोसाइटी के नियमों में विश्वास रखे वह इसका सदस्य बन सकता है ।

सिद्धान्त—१. मनुष्य की आत्मा अमर है, और उसकी उन्नति तथा वैभव अनन्त है।

२. जीवन प्रदान करने वाली शक्ति सर्वव्यापी और सदा कल्याणकारी है।

३. मनुष्य अपने सुख दुख का स्वयं निर्माण करता है।

उपर्युक्त तथ्यों को सामने रख कर पुनर्जन्म, युगधर्म तथा विकास क्रम भगवद् लीला, सद्गुरु की प्राप्ति के साधन, मृत्यु के पश्चात् जीवन सम्बन्धी विषयों पर इस सोसाइटी के द्वारा प्रकाशित साहित्य विशद और गहन हैं।

विश्व को देन—पूर्व पश्चिम को एक दूसरे को समझने तथा समीप लाने का श्रेय इस सोसाइटी को है। भारतीय आध्यात्म ज्ञान के पाश्चात्य देशवासियों की क्षमता तथा रुचि के अनुसार ढालकर उनमें इसके अध्ययन की रुचि उत्पन्न करने का महत् कार्य इसी संस्था द्वारा हुआ।

मुद्रा लेख—इस सोसाइटी का मुद्रा लेख है—"सत्यान्नास्ति परो धर्मः" अर्थात् सत्य से बड़ा और कोई धर्म है ही नहीं। सत्य के प्रति आस्थावान बनने के लिए किसी को बाध्य करने की आवश्यकता नहीं। इस सत्य की खोज तथा साक्षात्कार प्रत्येक मानव को इस जीवन में स्वयं करनी है, समाज केवल प्रेरणा दे सकता है।

महत्व—विश्व-मानव के हृदय को जड़वाद तथा नास्तिकवाद से निवृत्त करने के महत्वपूर्ण कार्य में रत रहने का श्रेय इस सोसाइटी को है। इस सोसाइटी की कल्पना पश्चिम के उन लोगों ने की जिन्हें भारतीय ज्ञान का साक्षात्कार हुआ था। न केवल वे भारतीय ज्ञान को समझने लगे, अपितु श्रद्धापूर्वक तत्कथित नियमों को व्यवहार में लाकर, अपने जीवन में स्वयं उतारकर दूसरों को अनुकरण की प्रेरणा देने लगे। संसार का वर्तमान स्थिति में इस सोसाइटी के द्वारा बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हुई है। भले ही लोग मनुष्य की गुप्त शक्तियों को तथा प्रकृति के सामर्थ्य को न समझें, अस्तित्व को तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। डा० एनी बेसेंट की सदैव यही इच्छा रही कि सारा देश आपस में मिल जुलकर रहे। मानव के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए सेवक तैयार करने में उन्होंने कोई भी कसर न उठा रखी।

स्वामी रामतीर्थ

जन्म—आपका जन्म पाकिस्तान में स्थित पश्चिमी पंजाब के गुजरां वाले जिले के मुरारी वाला ग्राम में एक उत्तम गोस्वामी ब्राह्मण कुल में १८७३ ई० की दिवाली के शुभ दिन हुआ। आपका नाम तीर्थराम रखा गया।

बाल्यकाल—आपके जन्म के कुछ दिवस पश्चात् माता चल बसीं। पालन-पोषण का भार उनकी बुआ पर पड़ा। वे परम भक्त थीं। वे इनको अपने साथ ही मन्दिरों में कथा कीर्तन-श्रवणार्थ ले जाती थीं। प्रारंभिक परीक्षा पास कर चुकने पर छात्रवृत्ति

का उपयोग गुजरां वाले के एक हाई स्कूल में पढ़कर करने लगे जहां इनके पिता के परम मित्र, भक्त श्री धन्नाराम जो इनकी देख-रेख करते थे। शिक्षा काल में लैम्प के तेल के लिए पैसे न होते तो सड़क के खम्भों की रोशनी में पढ़ लेते। कभी-कभी तो उदर-पूर्ति भी समस्या का रूप धारण कर लेती थी। अनेक आर्थिक तथा अन्य संकटों के होने पर भी वे लाहौर पहुंचकर मिशन कालेज से गणित में एम० ए० पास करके वहीं प्रोफेसर नियुक्त हो गए।

लाहौर के पास रावी नदी के तट पर प्रतिदिन प्रातःकाल जाते, एकान्त : आनन्द लेते और उनका श्रीकृष्ण-विरह जाग्रत् हो उठता। यदि काला नाग रास्ते आ जाता तो 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' कहकर गले लगा लेते। छुट्टियों में वृन्दावन : जाते और श्रीकृष्ण भक्ति का रस लेते।

कुछ समयोपरान्त उपनिषदों और वेदान्त के अन्यान्य ग्रंथों के अनुशीलन : साथ-साथ उत्तराखंड में जाकर एकान्त सेवन करने लगे। उनके दृढ़ वैराग्य औ अपार प्रेम में गंगा और यमुना का अद्भुत मिलन था। उनकी इस उन्मत्त अवस्थ का क्या कहना। उसका वर्णन लेखनी तो कर ही नहीं सकती।

१९०० ईसवी में नौकरी और घरबार त्याग कर हिमालय की चोटिय पर चले गए। *अब स्वामी रामतीर्थ अपने को बादशाह मानते थे। उन्मुक्त होकर सद* ॐ रटते रहते थे।

लोगों के विशेष आग्रह पर विश्व-धर्म सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए जापान और वहां से अमेरिका गये, जहां इन पर विदेशी जनता लट्टू हो गई और इन्हें Living Christ कहने लगी।

ढाई वर्ष के बाद वे उत्तराखंड लौटे। १९०६ की दिवाली के रोज ॐ ॐ कहते गंगा-माता को अपना शरीर भी अर्पण कर दिया।

इनको उर्दू, फारसी, अंग्रेजी हिन्दी आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। इनकी रचनाओं को इनके शिष्य संग्रहीत करके *'रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग' लखनऊ* के द्वारा इनके उपदेशों का सुन्दर प्रचार कर रहे हैं। इन्होंने न केवल भारत में वेदान्त का झण्डा ऊंचा फहराया, अपितु विदेशियों के हृदयों में भी भारतीय दर्शन और वेदान्त के महत्त्व की छाप लगाई।

योगी ऋषि अरविंद

जन्म तथा शिक्षा—श्री अरविन्द का जन्म कलकत्ता में १५ अगस्त १८७२ को हुआ।

यह तिथि भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जायेगी ; केवल इस लिये नहीं कि इसी तिथि को हमने हजार वर्ष बाद स्वतंत्रता के उन्मुक्त वातावरण में सांस ली परन्तु इसलिए कि इस तिथि को परमहंस रामकृष्ण ने महासमाधि ली और श्री अरविंद के रूप में भारत की राजनीतिक स्वतंत्रा से भी महान् विश्व को आध्यात्मिक चेतना प्रदान करने को प्रकटे।

आपके पिता सिविल सर्जन थे। वह न केवल अंग्रेजी सभ्यता में रंगे थे अपितु भारतीयता की गंध से भी दूर रहना पसंद करते थे। तभी तो सात वर्ष की आयु में ही इनको शिक्षा के लिये इंग्लैंड भेज दिया। वहां उन्होंने १४ साल बाद आई० सी० एस० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की परन्तु घुड़सवारी के क्रियात्मक परीक्षा में सम्मिलित न हो सके क्योंकि उन्हें तो अंग्रेजी राज्य की नौकरी तो करनी ही न थी। इसके विपरीत उससे टक्कर लेनी थी।

वापसी– भारत लौटने पर पहिले बड़ौदा कालेज के प्रोफेसर बाद में कुछ समय तक उसी कालेज के प्रिंसिपल रहे। इधर बंगाल विभाजन देश की पुकार के उत्तर में राजनीतिक क्षेत्र में उतर पड़े। फलस्वरूप कलकत्ता जेल की काल कोठरी में पहुँच गये।

नया मोड़—उन्हें गीता के कृष्ण ही उस काल-कोठरी में, उसके दरवाजों की सींखचों में, पहरेदारों में, और फिर मैजिस्ट्रेट और सरकारी वकील के रूप में दिखाई देने लगे। सर्वत्र उन्हीं के दर्शन होते। वृन्दावन की गोपियों की भांति उनके लिए संसार कृष्णमय हो गया। यह कारागार-जीवन उनके लिए वरदान बन गया। उनकी निष्ठा यह हो गयी कि वह यन्त्री के हाथ में केवल यंत्र ही बनकर रह गये हैं। वह सर्वत्र भगवान् के दर्शन और उनका संरक्षण पाते अब उन्हें जगत् के सामने सृष्टि के सत्य को भगवान् की वाणी को, रखना था।

इधर ब्रिटिश सरकार द्वारा पीछा किये जाने से तंग आकर आप अंग्रेजी राज्य की सीमा से बाहर फ्रांसीसी राज्य सत्ता के अधीन, भारत में स्थित पांडेचरी नगरी में १६१० ई० में जा पहुंचे। वहां उनका आश्रम आज भी अनेक जिज्ञासुओं के लिए प्रेरणाप्रद बना हुआ है। अपना समस्त जीवन भगवान् की इच्छा की पूर्ति में और उनकी सेवा में लगाकर सन् १६५० के दिसम्बर की पांचवीं तारीख को इस महान् योगी ने इहलीला समाप्त की।

अब पाँडिचरी में स्थित अरविन्द आश्रम की शक्ति-संचारिणी माता जी एक योरोपियन महिला है जो आश्रम के कार्यों को उनके आदर्शों पर सुन्दरता से चलाते हुए विश्व की कल्याण कामना में निरत हैं।

विश्व को देन--श्री अरविन्द विश्व के इतिहास में जिस चीज का प्रतिनिधित्व करते हैं वह कोई शिक्षा नहीं है, न कोई अंतःप्रेरणा द्वारा प्राप्त ज्ञान ही है; वह तो एक सुनिश्चित कार्य है जो सीधे परस्पर प्रेम से उद्भूत हुआ है—उन्होंने अध्यात्म क्षेत्र में दिव्य क्रान्ति उपस्थित की और विश्व को अपने दिव्य सिद्धान्त के संरक्षण में योग प्रदान किया। उन्होंने परमात्मा की पूर्णता का साक्षात्कार किया और उससे विश्व की अध्यात्म-चेतना प्रदान की। आप ने पूर्व और पश्चिम की आध्यात्मिक विचारधाराओं का यौगिक स्तर पर समन्वय किया। वे आध्यात्मिक क्रान्ति के सफल स्रष्टा रहे वे। मानवता के अमर दिव्य दूत थे। परमात्म-तत्व के विशेषज्ञ होने के कारण वे विश्व को शाश्वत आत्म चैतन्य सम्पूर्ण दिव्य ज्ञान और भगवद् प्रेम प्रदान कर गये।

अरविंद युग से पूर्व जितनी भी आध्यात्मिक साधनायें भारतीय दर्शन में निर्धारित की गई हैं उनमें वैयक्तिक साधना और वैयक्तिक मोक्ष पर ही अधिक बल दिया है। किन्तु अरविंद के योग में ऐसी बात नहीं है। उन की यह मान्यता है कि मानवी चेतना अब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुकी है। अब वह समय आ गया है जब इसी मानव शरीर में एक अति मानवी चेतना का अवतरण होगा। आज मनुष्य को उस चेतना के अपने में अवधारण करने के लिए अपने को योग-पात्र बनाने की आवश्यकता है जिसकी पूर्ति के लिये उन्होंने तीव्र उत्कंठा (आत्मिक पुकार) तथा मां अथवा किसी उच्चतर शक्ति के गीत निःशेष आत्म-समर्पण को साधन रूप में माना है।

महात्मा गांधी

किसी ने सच कहा है कि प्रत्येक महापुरुष अपने युग का परिणाम होता है।

सम्भवतः भगवान् यह सिद्ध करना चाहते थे कि आध्यात्मिक बल संसार की शेष सब शक्तियों से प्रबल है। अस्थि-पंजर-मय इस क्षीणकाय शरीर में स्थित, आध्यात्मिक-शक्ति के आगे शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार, जिसके राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, कांपने लगी, भयभीत हो उसे घुटने टेकने पड़े।

जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन— २ अक्तूबर सन् १८६६ को गुजरात प्रांत के पोरबंदर नगर में हुआ। इनके पिता कर्मचंद्र गांधी एक रियासत के प्रधान मन्त्री थे।

उनकी माता पुतली बाई एक साध्वी महिला थीं। माता की धर्म-निष्ठा आपके जीवन का प्रधान अंग बन गई। माता से प्राप्त 'रघुपति राघव राजा राम' तथा रामायण एवं नरसी के पदों का बीज इसी समय अंकुरित एवं पल्लवित हुआ। "वैष्णव जन तो तैने कहिए जे पीर पराई जाने रे" यह पद बापू के हृदय में आजीवन बोलता रहा।

१३ वर्ष की आयु में आप तेरह वर्षीय कस्तूरबा के साथ विवाह बंधन में बंध गये। मोहन दास को महात्मा और बापू बनाने में आपका बहुत हाथ रहा।

शिक्षा इंग्लैण्ड में— १८८५ में आपके पिता का देहान्त हो गया, जिनकी बीमारी पर घर की पूंजी भी समाप्त हो गई। येन केन प्रकारेण आप इंग्लैण्ड में बैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने गये। वहां आपने माता के द्वारा दिये गये तीन व्रतों का अक्षरशः पालन कर अपने संयमी जीवन का परिचय दिया। इस शाकाहारी ने, न कभी मांस छुआ, न ही मदिरा-पान किया तथा भारतीय आदर्श के अनुसार 'मातृवत् परदारेषु' का सदैव पालन किया।

अफ्रीका में— भारत लौटने पर एक मुस्लिम फ़र्म के मुकदमे की पैरवी के लिये आप दक्षिण अफ्रिका में गए। गोरा शाही शासन के रंगभेद की नीति के कारण 'रेलगाड़ी से उतार देने' वाली घटना घटी। उन्होंने इसे मानवता तथा भारत का अपमान जान सहन न किया। क्योंकि उनके विचार में जहाँ अन्याय करना पाप है उससे बड़ा पाप चुपचाप अन्याय सहने में है। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया जाता था। आपने अन्याय का डटकर विरोध करते हुए भी अन्यायी के प्रति सद्भावना रखकर सच्ची मानवता का परिचय दिया। बापू के इन विचारों ने इन्हें विश्व-वंद्य बनाया।

दक्षिण अफ्रीका में ही उनके अन्याय का प्रतिकार करने के नूतन अस्त्र 'सविनय-अवज्ञा' का जन्म हुआ, जिसने आगे चल कर उनके जीवन में 'असहयोग' और 'सत्याग्रह' का रूप लिया। अन्ततोगत्वा गांधी जी के अहिंसा एवं सत्य-मूलक प्रयत्नों के फलस्वरूप अफ्रीका की सरकार को अपमानजनक कानूनों को हटाना पड़ा। यह सत्य और अहिंसा की प्रथम विजय थी। क्योंकि इनका कहना था कि "सत्याग्रह दुर्बल एवं कायर का शस्त्र नहीं वह सबल एवं मनस्वी का अमोघ कवच है।"

भारत में— राजनीतिक एवं सामाजिक विषमताओं से उत्पीड़ित देश की दशा देख गांधी जी ने भांप लिया कि इसका मूल कारण है—विदेशी सत्ता का

अधिकार और दृढ़ निश्चय कर लिया कि जब तक विदेशी राज्य का उन्मूलन नहीं कर दिया जाता तब तक भारत में आराम और शान्ति असम्भव है। इस कार्य को प्रमुखता दे इस काम में जुट गए। भारत की स्वतंत्रता उनकी सतत-साधना का फल है जो उन्होंने उसे अहिंसापूर्ण सत्याग्रह के अस्त्र से जीती। किसी ने सच ही कहा है —भारत गांधी है और गांधी भारत है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए उन्होंने कई बार अपने प्राणों की बाजी लगा दी। इस मानवता के प्रेमी ने **हरिजनों के उद्धार** के लिए आमरण-व्रत रक्खा। भारत, ग्रामों का देश है। अतः उन्होंने ग्रामीणों को शिक्षित करने एवं उनकी निर्धनता को दूर करने के लिए **घरेलू दस्तकारियों** पर बल दिया। गांधी जी ने आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए **बुनियादी शिक्षा** पर ज़ोर दिया जिसमें दिमाग, आत्मा और हाथ तीनों काम करते है।

गांधी के प्रेरणादायक विचार :—

सत्य— सत्य का अर्थ केवल सच बोलना मात्र नहीं है। विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को पूर्णतया समझने वाले के लिए अन्य कुछ समझना बाकी नहीं रह जाता।

सत्य की प्राप्ति "अभ्यास और वैराग्य" के द्वारा हो सकती है। सत्य ही परमात्मा है।

सत्य की आराधना भक्ति है, इस पथ पर चलने के लिए सिर हथेली पर रखना पड़ता है। यह खांडे की धार है। यह तो "**मर कर जीने**" का मत्र है। गांधी जी कहते हैं "मेरे लिए सत्य रूपी परमेश्वर-रत्न चिंतामणि सिद्ध हुआ है।"

अहिंसा— सत्य के सिक्के के दूसरे पहलू का नाम 'अहिंसा' है। किसी को न मारना अहिंसा है ही, पर अहिंसा का वास्तविक अर्थ है मन में कुविचार का न लाना, उतावली न करना, मिथ्या भाषण न बोलना, द्वेष न करना, किसी का बुरा न चाहना, क्रोध न करना। किसी को वाणी द्वारा कष्ट न पहुँचाना। दुराग्रह हिंसा है। सत्य साध्य है और अहिंसा उसका साधन। तभी तो यह परम धर्म माना गया है। जहाँ साध्य शुद्ध है वहाँ साधन भी सत्य-पूर्ण होना अत्यावश्यक है। वह स्वाधीनता जैसा रत्न भी अहिंसा को गंवा कर नहीं लेना चाहते थे। उनके आंदोलन सदा अहिंसात्मक रहे। अहिंसा का प्रयोग सामूहिक कार्यों में करने का श्रेय इनको ही है। 'अहिंसा' गांधीवाद का निचोड़ है। अहिंसा शक्तिमानों व्यक्ति

का गुण है, कायर का नहीं। सच्ची अहिंसा भय से नहीं प्रेम से जन्म लेती है निस्सहायता से नहीं, सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। जिस सहिष्णुता में क्रोध नहीं, द्वेष नहीं, और निस्सहायता का अभाव है उसके समक्ष बड़ी से बड़ी शक्तियों को भी झुकना पड़ेगा। उनके सत्याग्रह की नींव इसी अहिंसा पर थी। उनकी अहिंसा कायिक, वाचिक होने के साथ-साथ बौद्धिक भी थी। इसी बौद्धिक अहिंसा ने उनको संसार भर का श्रद्धा-पात्र बना दिया। महात्मा बुद्ध द्वारा प्रचारित अहिंसा गांधी जी द्वारा प्रसारित हुई।

धर्म— गांधी मत में धर्म सदाचार में निहित है। जो सदाचारी नहीं वे धार्मिक नहीं। उनके शब्दों में —"धर्म कहते हैं, जीवन के स्थान पर ईश्वर को स्वीकार करने को। ईश्वर की स्वीकृति का अर्थ प्रेम है। धर्म और नैतिकता परस्पर अविच्छिन्न है।" गांधी जी ने 'धर्म' को जीवन-व्यापी बनाया। मनुष्य मात्र की पीड़ा उसके अन्दर की धार्मिक भावना को जगाने से ही दूर हो सकती। उनके शब्दों में —"मेरा उद्देश्य धार्मिक है किन्तु मानवता से एकाकार हुये बिना मैं धर्म पालन का मार्ग नहीं देखता। इसी कार्य के लिए मैंने राजनीति का क्षेत्र चुना क्योंकि इस क्षेत्र में मनुष्यों से एकाकार होने की सम्भावना है। मनुष्य की सारी चेष्टाएँ उसकी सारी प्रवृत्तियाँ एक हैं। समाज और राजनीति से धर्म अलग रखा जाए, यह सम्भव नहीं है। मनुष्य में जो क्रियाशीलता है वही उसका धर्म भी है। जो धर्म मनुष्य के दैनिक कार्यों से अलग होता है उससे मेरा परिचय नहीं है।'

राजनीति— गांधी जी के अनुसार "मेरी दृष्टि में राजनीति धर्म से भिन्न नहीं हो सकती। राजनीति को सदैव धर्म की अधीनता में चलना चाहिए। धर्म-हीन राजनीतिक मृत्यु-पाश के समान है क्योंकि उसमें आत्मा का हनन होता है।" गांधी जी की राजनीति का आधार धर्म होने के कारण कूटनीति, छल, कपट, दाव-पेंच से कोसों दूर है। उन्होंने राजनीति और अर्थनीति को भी नैतिकता का अंग माना। वह राजनीतिज्ञों में सन्त और सन्तों में राजनीतिज्ञ थे।

प्रार्थना— महात्मा जी का जीवन प्रार्थनामय था। इसी अलौकिक आधार पर उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक गुत्थियों को सुलझाया। उनके मतानुसार—"प्रार्थना धर्म का निचोड़ है। प्रार्थना याचना नहीं है। यह तो आत्मा की आकांक्षा का नाम है। प्रार्थना दैनिक दुर्बलताओं की स्वीकृति है, हृदय के भीतर चलने वाले अनुसन्धान का नाम है। यह आत्म शुद्धि का आह्वान है, यह विनम्रता को निमंत्रण देना है। यह मनुष्यों के दुःख में भागीदार बनने की भी तैयारी है।"

"प्रार्थना-रहित मनुष्य के काम आसुरी होंगे, उसका व्यवहार अशुद्ध होगा, अप्रामाणिक होगा ।"

"प्रार्थना सुख, शान्ति देने वाले साधन हैं" अतएव यदि हमें मनुष्य बनना है तो हमें चाहिए कि जीवन को प्रार्थना द्वारा रसमय एवं सार्थक बना डालें ।

रामनाम निष्ठा— गांधी जी की नाम-कीर्तन में अगाध निष्ठा थी । वे भगवद् भक्त थे । राम-नाम श्रद्धा से जपने से पाप तो क्या शारीरिक रोग भी छूट जाते हैं । उनका कहना था —

(क) मनुष्य चाहे जिस रोग से भी ग्रस्त हो गया हो, हृदय के भीतर से वह राम का नाम ले तो उसके सभी रोग दूर हो जायेंगे ।

(ख) "केवल राम नाम बोलकर भी प्रार्थना की जा सकती है ।" आपने—
"रघुपति राघव राजा राम" की धुन को अपना महामंत्र माना ।

(ग) "करोड़ों हृदयों का अनुसंधान करने और उनमें ऐक्य भावना पैदा करने के लिए एक साथ राम-नाम की धुन जैसा कोई सुन्दर सबल साधन नहीं है" ।

(घ) "मैं बिना किसी हिचकिचाहट के कह सकता हूँ कि लाखों व्यक्तियों द्वारा सच्चे दिल से एक ताल और लय के साथ गाई जाने वाली रामधुन की शक्ति, सेनाओं की शक्ति से बिल्कुल अलग और कई गुना बड़ी है ।"

३० जनवरी १९४८ को अन्त समय तभी तो उनके मुख से 'हे राम!' निकला । यह उनके सतत राम-नाम जपने का फल था क्योंकि अन्त में मुख से राम का उच्चारण बड़े पुण्यों का फल है । कहा भी है —

"जनम जनम मुनि जतन कराहिं ।
अन्त राम कहि आवत नाहिं ।।"

श्रीमद्भगवद्गीता में अटल विश्वास— उनका कहना था कि जब कोई असाध्य समस्या उनके सम्मुख आती तो गीता से ही प्रेरणा लेकर उसका समाधान करते ।

अपने धर्म के व्यावहारिक रूप को सत्य, अहिंसा, सदाचार आदि को अपने जीवन में उतार, संसार के सम्मुख अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया । उन्होंने जनता-जनार्दन की सेवा को ईश्वर-सेवा माना । उनका कहना था —"बिना राम-राज्य के अवतरण के जनता, सुखी शान्त और संतुष्ट नहीं हो सकती" उनके राम-राज्य का प्रधान अंग जनसेवा में निहित है । हमारी स्वाधीनता उन्हीं की साधना, तप,

त्याग मार्ग-दर्शन और लोकोत्तर व्यक्तित्व का पुरस्कार है। विश्व को, शान्तिमय जीवन व्यतीत करने के लिए ईश्वर विश्वास, भगवन्नाम, सत्य, अहिंसा का प्रशस्त मार्ग दिखाया जिनके बिना गति नहीं। धर्म का उन्मूलन कोई भी शक्ति नहीं कर सकती।*

---

*The very existence of the world, in a broad sense, depends on religion. All attempts to root it out will fail.

—*Gandhi*

अध्याय १६

समस्त धर्मों की मौलिक एकता तथा स्वामी शिवानन्द का सम्पूर्ण योग

धर्म का कार्य—धर्म मोक्ष अथवा परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग दर्शाता है। जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा दिलाता है धर्म कोई मेज पर बहस का विषय नहीं अपितु जीवन के क्षण-क्षण में प्रयोग में लाने की वस्तु है। धर्म के बिना जीना मृत्यु तुल्य है।

समावेश—धर्म में पांच मुख्य विषय रहते हैं—श्रुति, नैतिकता, पौराणिक गाथा-दर्शन तथा साधन धर्म का मौलिक सिद्धान्त यदि दर्शन में है तो यों कह लीजिये दर्शन का प्रयोगात्मक पहलू धर्म है। जिस-जिस मनुष्य की जैसी प्रकृति रहती है उसी पहलू को रुचि अनुसार अपना लेता है।

आदि स्रोत—सभी धर्मों का आदि स्रोत श्रुति है। श्रुति ही वह ज्ञान की झील है जिससे सभी धर्मों की नदियाँ निकली हैं।

धर्म से अग्नि-पूजा पर बल देने वाला पारसी धर्म निकला—इन दोनों धर्मों के देवताओं के नामों में बड़ी समानता पायी जाती है। पारसी धर्म से यहूदी धर्म ने प्रेरणा ली और यहूदी धर्म में जब धन अंधा होकर अन्याय और अत्याचार करने लगा तो पहिले ईसाई मत और ६०० वर्ष उपरान्त इस में पूर्ववत् विकृति आ जाने पर इस्लाम प्रकट हुआ। अतः मूल तत्त्व सभी के एक से रहे। समयानुसार बुराई के दूर करने पर सुधार के उद्देश्य से परिवर्तन होता गया। ऊपरी अनावश्यक उपचारों में अंतर आता गया—सत्य को पुनःस्थापित करने के लिये परमात्मा के पुत्र पैगम्बर तथा संदेशवाहक के रूप में प्रकट हुए।

सार—यह रहा कि धर्म एक है और यह धर्म है—सत्य का, दिल का, प्रेम का, हृदय के मौन का, मन-इंद्रियों से ऊपर का, तुच्छ रीति-रिवाजों अथवा कृत्रिम-मान्यताओं से बिलकुल ऊँचा—जहाँ सब अंतर मिट जाते हैं और केवल एक सत्य की रट लगाते हैं—हाँ, उसका रूप भिन्न-भिन्न देते हैं।

वैदिक धर्म ने धर्म का रहस्य यदि विश्व-प्रेम, विश्व-शांति बतलाया तो बुद्ध ने अहिंसा, इस्लाम ने वाणी तथा कर्म की पवित्रता। सार यह है कि परम सत्य पर बल देते हुए परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान माना। आवश्यकता है इस मौलिक एकता के ज्ञान की।

सितारे तो अनेक हैं परन्तु आकाश एक है।
किरणें तो अनेक हैं परन्तु सूर्य एक है।
फूल तो अनेक हैं परन्तु उद्यान एक है।
लहरें तो अनेक हैं परन्तु समुद्र एक है।
जीव तो अनेक हैं परन्तु दिव्यात्मा एक है।
पीर पैगम्बर तो अनेक हैं परन्तु उनका अमर संदेश एक है।

इस विश्व-समता के सूर्योदय होने से जो भेद भाव का घटा टोप अंधेरा छाया है नाश हो सकता है, और होता है पूर्ण प्रकाश का उदय। हमें इस प्रकाश से मिल जुल कर प्रेम भाव से रहना है। मौलिक शिक्षाओं को जैसे बोयेंगे वैसा ही काटेंगे। सत्य, त्याग, सरलता आदि को अपनाते हुए तमाम बुराइयों से बच कर हमें निकलना होता है। इतनी सावधानी अवश्य बरतनी पड़ेगी कि हमारे किसी भी व्यवहार से वह खाई जो ऊपरी सतह पर दीखती है बढ़ने न पावे। विश्व-शांति का रहस्य अथवा मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है।

सामान्य सिद्धान्त—सब धर्म मूलतः नैतिक पूर्णता पर ही बल देते हैं। उपनिषदों ने यदि धर्म में दया, दान, दम, शम, सत्य, स्वाध्याय आदि का समावेश किया तो मनु, पराशर, याज्ञवल्क्य, पतंजलि आदि ऋषियों ने यम-नियम पर बल दिया। आगे चलकर इन्हीं तथ्यों को महात्मा बुद्ध ने अष्टांग मार्ग का रूप दे दिया। उधर यहूदियों ने दस आज्ञाओं (Ten Commandments) में यही मौलिक सिद्धान्त गिनवा दिये। सब धर्मों ने मनुष्य के आध्यात्मिक तथा नैतिक उत्थान को ही बढ़ावा देना चाहा। आश्चर्य तो इस बात पर करना चाहिये कि इन सब धर्मों के मिले जुले प्रयत्नों के निरन्तर रहने पर भी मनुष्य अनाचार और अत्याचार के गढ़े में धंसता चला गया है। यहाँ तक कि धर्म के नाम पर लड़ाइयां हो गयीं। कोई भी धर्म, ईर्ष्या, द्वेष सामूहिक हत्याओं और मारधाड़ की शिक्षा नहीं देता है। दोष तो अनुयायियों का है जो अपने स्वार्थ के लिए धर्म संकटापन्न है—जैसे झूठे उद्घोष लगा कर अपने धर्म को कलंकित करते रहे।

"मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।" शांति ही धर्म का लक्ष्य है और जिस धर्म में ऐसा नहीं वह धर्म कहलाने का अधिकारी नहीं। ईश्वर में विश्वास करते हैं तो आप मानव-मानव में भेद भाव की सृष्टि कर ही नहीं सकते। जब सब

धर्म उस एक ही परमात्मा को परम पिता मानते हैं तो स्वतः एक पिता के पुत्र होने के नाते सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं अतः कैसे माना जाए कि पुत्रों का हनन होते देख हम पर पिता प्रसन्न होंगे। उनकी प्रसन्नता के लिए हमें आत्म-संयम, आत्म-वलिदान आत्म-निर्भरता को अपनाना होगा और दैवी सम्पदा के सभी गुणों — निर्भयता, करुणा, मैत्री, सत्यता, सहिष्णुता को जीवन में उतारता होगा। विश्व-प्रेम भ्रातृ भाव तथा विश्व शांति पर सब धर्मों की शिक्षाओं की समानता निम्नलिखित उद्धरणों से सिद्ध हो जाती है—

वैदिक धर्म—ईशावास्यमिदं सर्वम्—सारे जगत में ईश्वर ही रह रहा है। (ईशोपनिषद)

बुद्ध—जो अन्य प्राणियों पर दया न करके उनकी हिंसा करता है वही नीच है।

ईसाई—अपने पड़ौसियों से वैसे ही व्यवहार करो जैसा अपने लिए चाहते हो। (वाइवल)

इस्लाम—तुम्हें, जगत् भर को एक ही खुदा ने पैदा किया, पाला पोसा और फिर प्रलय के दिन तुम में रुह फूंकी। (कुरान शरीफ)

जैन— सब जीवों पर दया करो। (जैन सूत्र)

सिक्ख—दूसरों को भी अपने जैसा समझो। (गुरु ग्रंथ साहब)

उदाहरणों के लिए अहिंसा पर विभिन्न धर्मों के वाक्य देखिये।

धर्म	**वाक्य**
हिन्दू	अहिंसा परमो धर्मः
इसाई	किसी की जान कदापि न लो।
बुद्ध	हमें प्राणि मात्र से प्रेम करना चाहिये
जैन	अहिंसा परमो धर्मः

विश्व के प्रमुख धर्मों के मौलिक सिद्धांत

हिन्दू—आत्म ज्ञान प्राप्त कर मुक्त वनो

पारसी—विचार वाणी और कर्म में पवित्रता ही सार है।

यहूदी—सो हं हंसः (मैं हूं, वह मैं हूँ)

ईसाई—स्वर्ग का साम्राज्य आपके अन्दर ही है।

इस्लाम—अल्लाह के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं, मुहम्मद उस पैगम्बर है।

जैन—अहिंसा परमो धर्मः

बौद्ध—अखिल विश्व के लिये यह एक ही नियम है कि ये सब कुछ क्षणिक हैं।

जैसा दूसरों पर दोषारोपण करते हो वैसा ही अपने को दोषी ठहराइए। जैसे अपने को क्षमा करते हो वैसे ही दूसरों को क्षमा कीजिए—'कन्फ्यूशस'

एक सत् ओंकार—'वाहे गुरु 'सिक्ख'

अनलहक—'सूफी'

बुराई देखिये नहीं बुराई सुनिए नहीं, बुराई कहिये नहीं—'शिंटो'

सभी धर्म एक है। वे दिव्य जीवन का उपदेश देते हैं। सबसे प्रेम कीजिये। सबकी सेवा कीजिये। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य का पालन कीजिये निःस्वार्थ बनिए। अमर तत्व की खोज कीजिए

एक ही धर्म है—और वह है प्रेम का धर्म अथवा हृदय का धर्म। आप अपने प्रति जैसा अनुभव करते हो वैसा ही दूसरों के प्रति भी अनुभव कीजिए। इस सार्वभौम धर्म से विश्व शांति और आनन्द का अवतरण होगा।

स्वामी शिवानन्द

(१८८७-१९६३)

बीसवीं शती में भारत को शिवानन्द के रूप में एक सर्वगुणसम्पन्न संत मिला था। वे संस्कृति के रक्षक एवं पोषक थे। आप में श्री चैतन्य महाप्रभु और मीरा की सी भक्ति विह्वलता, बुद्ध की करुणा, शंकर का ज्ञान, जनक की उदारता थी। अस्पृश्यता निवारण, सामाजिक नवनिर्माण और जाति-पाँति के उन्मूलन कार्य में गांधी जी के समान थे। आप दार्शनिक होते हुए भी एक महान संत थे—और संत होते हुए भी महामानव। भक्ति योग, वेदांत की वह समन्वयात्मक मूर्ति थे।

जन्म—८ सितम्बर सन् १८८७ को शिवानन्दजी का आविर्भाव विश्व-विश्रुत संस्कृतज्ञ दक्षिण निवासी अप्पय दीक्षितार के कुल में पट्टामडाई नामक स्थान में एक धर्मपरायण ब्राह्मण दम्पति—वेंगु अय्यर एवं पार्वती अम्मल के यहाँ हुआ। माता पिता की इस सबसे कनिष्ठ संतान का नाम कुप्पू स्वामी था। बचपन से ही आप माता-पिता की धार्मिक निष्ठा से प्रभावित हो उनकी पूजा, अर्चा कार्य में सहायक होते थे।

प्रारम्भिक जीवन एवं शिक्षा—आप बचपन से ही विनम्र किन्तु निर्भीक स्वतंत्र मना किंतु आज्ञाकारी दृढ़ परन्तु सबके प्रेम पात्र थे। क्या खेल व्यायाम, क्या नाटक, क्या वादविवाद, क्या शिक्षा, आप सभी क्षेत्रों में सम्मिलित हो पुरस्कृत होते रहे। मानव मात्र की सेवा करने की उत्कट भावना ने ही इनको डाक्टर बना दिया। वे चाहते थे कि सभी मनुष्य हृष्ट पुष्ट हों। युवा डाक्टर कुप्पू स्वामी ने एक पत्रिका प्रकाशित की जिसका नाम था 'अम्ब्रोसिया' जो पाठकों के लिये सुधा के तुल्य थी।

मलाया में—दुखियों की पुकार ने उन्हें मलाया बुला लिया। विचित्रता यह है कि रोगी को नारायण मान, उसकी पूर्ण रूपेण सेवा करते पैसा देकर विदा करते। डाक्टर में ऐसी दयालुता वहां अज्ञात थी।

वैराग्य—१९२३ में अपनी समस्त सम्पत्ति वितरण कर भारत लौट आए और वाराणसी होते हुए, हिमालय में स्थित ऋषिकेश में गंगा पार स्वर्गाश्रम की एक कुटिया में कठोर साधना आरम्भ कर दी।

साधना काल—श्री स्वामी विश्वानंद जी से १ जून १९२४ को संन्यास की दीक्षा ले सात वर्षो तक कठोर तपस्या में रत रहे जिसके फलस्वरूप आत्म-साक्षात्कार किया। वे पूस की कड़ाके की सर्दी में भी गंगा में सूर्योदय से पहिले खड़े होकर साधना करते। बीमारों की सेवा यहाँ भी खूब चलती रही। डाक्टर संन्यासी की प्रेममयी दृष्टि मार्ग से ही रोगी प्रसन्न एवं चंगा हो जाता।

प्रचारक रूप में—उत्तरी भारत में सीतापुर, अलीगढ़, लखीमपुर, जम्मू, रावलपिंडी, लाहौर आदि नगरों में संकीर्तन सम्मेलनों में सम्मिलित होते। कीर्तन करते, प्रवचन देते, नृत्य करते तथा योगासनों का प्रदर्शन कर अनेक नर-नारियों का आध्यात्मिक मार्ग प्रदर्शन करते।

विश्व शिक्षक—आप एक मौलिक विचारक थे। आपने अपनी विस्तृत रचनाओं में प्रशंसनीय रीति से परम्परागत योग-वेदान्त की साधना एवं ज्ञान को आधुनिक क्रियाशील विश्व के साथ संयोजित करके उपस्थित किया। इसका सन्देश विश्व प्रेम था जो कि समस्त धार्मिक विश्वासों एवं सच्चाइयों का आधार है।

व्यक्तित्व—अपूर्व उत्साह, अगाध प्रेम, स्वलक्ष्य के प्रति आत्म-समर्पण अदम्य समदर्शी, सेवाभाव, अक्षय धैर्य, अद्भुत सहनशीलता, असीम अनुकरण और क्षमा —ये सभी श्री स्वामी जी के जन्म जात सद्गुण थे। जीवन के जिस किसी क्षेत्र में स्वामी जी ने पदार्पण किया उनकी प्रवृत्तियों की आधार शिला ये ही सद्गुण थे।

आपका व्यक्तित्व अद्वितीय था। आप दीर्घकाय सुन्दर स्वस्थ एवं आकर्षक थे। आप हंसमुख, प्रसन्न सरल हृदय एवं विनोदी स्वभाव के थे।

आप प्रकृति प्रेमी, सौन्दर्य, कला गायन नृत्य और काव्य के रसिक थे। दयालु सेवा-परायण अनासक्त थे। आप सहज ज्ञानी प्रतिभाशाली स्फूर्तिदायक प्रेरणा-दायक लेखक प्रभावशाली वक्ता एवं दिव्य ज्ञान के स्पष्ट ज्ञाता थे। आध्यात्मिक स्वाधीनता के स्रोत थे। आपमें ऐसी अद्भुत चुम्बकीय शक्ति थी, जो दूर दूर से भारत के ही नहीं, विदेश के भी अगणित जिज्ञासुओं को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी।

दिव्य-जीवन-संघ की स्थापना—आपने सन् १९३६ में आनंद कुटीर शिवानंद नगर ऋषिकेश में दिव्य-जीवन-संघ की स्थापना की। इसके चार सूत्र शब्द हैं:— सेवा, प्रेम, ध्यान और साक्षात्कार। इसके प्रधान उद्देश्य भी चार ही हैं।

आस्तिकता, आध्यात्मिकता एवं सांस्कृतिकता का संवर्द्धन।

विभिन्न वादों और भेदों को भुलाकर भौतिकवाद से हटा कर प्राणी-मात्र को परम तत्त्व की प्राप्ति के पथ पर लगाना।

आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करने के लिये—भक्ति, योग, ज्ञान, वेदांत-विषयक पुस्तकें लिखना; क्रियात्मक शिक्षा देना और नर नारायण की सेवा के आदर्श की पुनःप्रतिष्ठा।

लिंग, धर्म-जाति और देश के भेद भावों से ऊपर उठकर सर्व प्रकार की एकता व समता के लिये सतत प्रयत्न करना। सभी के लिये एक दिव्य-जीवन का पथ निर्देशन। चाहे वह ईसाई मुसलमान सिक्ख, पारसी, जैन, बौद्ध हो अथवा सनातन-धर्मी, आर्य समाजी, शैव, शाक्त या कोई भी धर्मावलम्बी हो। साम्प्रदायिकता से दूर सबके लिए भाषण, संकीर्तन और ज्ञान प्रसार के लिये एक सार्वभौमिक मंच बनाना।

शाखा—भारत में तो इस संघ की अगणित शाखायें हैं ही परन्तु यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों के बड़े-बड़े नगरों में दिव्य-जीवन संघ के अनेक केन्द्र स्वामी जी के उपदेशों एवं आदर्शों के प्रचार का कार्य कर रहे हैं।

शिवानन्द प्रकाशन मंडल—सन् १९३८ में शिवानन्द प्रकाशन मंडल की स्थापना की गई। इसके द्वारा स्वयं स्वामी जी द्वारा रचित १०० पुस्तकों का प्रकाशन हुआ जिससे संसार भर को ज्ञान का प्रकाश मिला।

रचनाएँ—स्वामी जी ने भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों व ग्रंथों को सरल एवं प्रभावमयी प्रचलित अंग्रेजी भाषा में सबके सम्मुख उपस्थित किया। आपकी रचनायें भक्ति योग वेदान्त के ओत प्रोत हैं। ज्ञान, धर्म, कर्म, भक्ति का कोई ऐसा विषय नहीं जो अछूता रह गया है।

आपकी रचनायें वर्तमान भेद-भाव-ग्रस्त मानवता के लिए औषधि एवं अमृत के समान हैं। केवल उनकी रचनायें ही आने वाली शताब्दियों के लिए पर्याप्त सन्तोषप्रद हैं। अंग्रेजी में डिवाइन लाइफ, हिन्दी में योग वेदान्त ये दो मासिक पत्रिकायें शिवानन्द नगर से प्रकाशित हो दिव्य संदेशों से संसार को लाभान्वित कर रही हैं।

योग वेदान्त आरण्य अकादमी की स्थापना—इनका मुख्य कार्यालय ऋषिकेश से १½ मील दूर गंगा के पावन तट पर आनन्द कुटीर शिवानन्द नगर में स्थित है। मानवता के प्रसार और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचारार्थ, वेदान्त तत्त्वोपदेश के लिये ३ जुलाई १९४८ को योग वेदान्त आरण्य अकादमी संस्था की स्थापना की जो विश्व में अद्वितीय है।

भारत यात्रा—१९५० में स्वामी जी ने दो महीने के लिये भारत एवं लंका की यात्रा की। अनेक स्थानों पर जनता-जनार्दन को वचनामृत पिलाया। भगवन्नाम तथा दिव्य जीवन संघ के सदेश का प्रचार सारे भारत में हुआ। इस यात्रा द्वारा शताब्दियों के विशाल अन्धकार के उपरान्त धर्म-चक्र-प्रवर्तन की पुनरावृत्ति हुई। जन-जन में पवित्रता के भावों को जगाया तथा ज्ञान की शुभ ज्योति प्रकाशित की।

विश्व धर्म सम्मेलन—१९५३ में स्वामी जी ने शिवानन्द नगर ऋषिकेश में विश्व धर्म-सम्नेलन बुलाया जिसमें विश्व के सारे भागों से प्रतिनिधि-गण आये। उनके धर्मों के नेताओं ने स्वामी जी के नेतृत्व में सारे धर्मों की एकता की घोषणा की।

दर्शन समन्वय—उनके दर्शन के पीछे अनुभूति के आधार-शिला है जो कुछ लिखा है वह दार्शनिक तथ्य होते हुए भी क्रियात्मक कसौटी पर पूरी तरह कसा जा सकता है।

आध्यात्मिक जीवन यापन के लिए किसी वाह्य वेश-भूषा को आवश्यक नहीं माना

किसी धर्म अथवा जीवन विशेष के अपनाने से ही मनुष्य मोक्ष भागी हो सकता है—यह उनकी मान्यता नहीं थी

भारतीय दर्शन की किसी भी शाखा को मनुष्य अपनी मानसिक क्षमता, सहज प्रवृत्ति तथा सामाजिक परिस्थिति के अनुसार अपना करके परम पद प्राप्त कर सकता है।

आध्यात्मिक जीवन में गुरु (पथ-प्रदर्शक) को अपरिहार्य मानते हुये भी साधना में स्वप्रयास पर बल दिया है।

आचार तथा व्यवहार में शुद्धि और शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को आवश्यक माना है।

आध्यात्मिक जीवन में किसी कर्ता, लिंग, देश, धर्म, भाषा, सम्प्रदाय को बाधक तत्त्व नहीं माना

सम्पूर्ण योग—सेवा, प्रेम, ध्यान और साक्षात्कार—ये स्वामी जी के दिव्य जीवन रूपी विशाल भवन के चार आधार स्तम्भ हैं—सेवा और प्रेम का सम्मिश्रण है दान। यद्यपि यह बहुत छोटा है किन्तु यह दान धर्म का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इन चारों के संयुक्त सृजन का पूर्ण लाभ है "शिवानन्द का सम्पूर्ण योग"। तत्त्व-साक्षात्कार के लक्ष्य तक पहुँचने के लिये ये चार पथ हैं। सेवा (Serve) से कर्मयोग का निर्देशन होता है। प्रेम शब्द हृदय, मन तथा आत्मा से प्रभु-प्रीति का स्मरण दिलाता है, पराभक्ति की प्रेरणा देता है। ध्यान पतंजलि के अष्टांग योग या राजयोग के सांचे में ढलने का आदेश देता और साक्षात्कार (Realise) आनन्दमय सुख-शान्ति के शाश्वत स्रोत परमात्मा की प्राप्ति के लिये उद्बुद्ध करता है।

स्वामी जी की सदैव यह उत्कंठा रही कि हम सभी सम्पूर्ण योग का अचरण कर पूर्ण योगी बनें। उनका अपना सम्पूर्ण जीवन ही भक्ति, योग और वेदान्तमय रहा।

महत्त्व—अर्वाचीन काल के लिये केवल यहां सम्पूर्ण योग ही उपयुक्त है। चारों योगों को पृथक नहीं किया जा सकता। सेवा हृदय को स्वच्छ और विशाल बनाती है। प्रेम एकीकरण करता है। बिना सेवा और प्रेम के करोड़ों जन्मों में भी आध्यात्मिक मिलन एवं एकीकरण का स्वप्न नहीं देख सकते। सेवा प्रेम का व्यक्तिकरण मात्र है। ज्ञान विस्तृत प्रेम है और प्रेम केन्द्रित ज्ञान है। कर्म, भक्तियोगी का कथन है कि सब जीवधारियों की सेवा ही ईश्वर की सेवा है—मैं तो साधन मात्र हूं। कर्मयोगी ज्ञानी का कथन है कि मैं स्वयं ही सेवा करता हूं। भगवान एक है—क्या तुम इसका अनुभव करते हो? क्या तुम्हें सभी के साथ एकात्मीयता का अनुभव होता है? तुम्हारा हृदय तो घृणा, ईर्ष्या, अविश्वास, दुर्भावना और आसक्ति से आच्छन्न है। इन सब का सर्वथा निर्मूलन करना होगा तभी तुम उस परम ऐक्य का आस्वादन कर सकोगे।

महासमाधि—उन्होंने पूर्व नियोजित महासमाधि १४ जुलाई १९६३ को लेकर अपनी देह लीला को समाप्त किया।

आपका प्राकट्य ऐसे समय में हुआ जब भारत भी पश्चिमी शिक्षा एवं सभ्यता के रंग रहा था। पश्चिमी देश भौतिकता में अन्धे हो रहे थे। ऐसे भौतिकवादी लोगों के आप सच्चे पथ-प्रदर्शक बने और उनकी भाषा में ही उन्हें आत्मबोध कराया एवं उनका साहित्य आगे भी कराता रहेगा।

परिशिष्ट

भारत की शिक्षा-पद्धति

श्री स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती

शिक्षा मानव में निहित पूर्णत्व-सिद्धि की प्रवृत्ति के क्रमिक एवं व्यवस्थित एकत्रीकरण की प्रक्रिया है। प्रारम्भिक व्यवस्था में पूर्णत्व की धारणा अस्पष्ट होने के कारण इस दिशा में जनमानस तक पहुँचने के प्रयास में अत्यधिक धैर्य एवं सावधानी अपेक्षित है। व्यक्तियों से व्यवहार करते समय हमारा सम्बन्ध वस्तुतः 'मनस्' से रहता है। अतः जीवन के समस्त सफल अभिगमन (approach) मनोवैज्ञानिक होते हैं।

हमें सर्वप्रथम स्वयं को एक ऐसी स्थिति में रखना होगा जहां से हम व्यक्तियों के संवेदनशील विचारों और भावनाओं का मूल्यांकन कर सकें। इस उद्देश्य हेतु हम समाज को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं (१) छात्र वर्ग, जिसमें बालक एवं किशोर वर्ग आता है। (२) सांसारिक अथवा सक्रिय सामाजिक व्यक्ति, जिसके अन्तर्गत युवा एवं प्रौढ़ वर्ग आता है। (३) अवकाश-प्राप्त व्यक्ति, जो सक्रिय जीवन व्यतीत नहीं कर रहे हैं, जिनके जीवन की सान्ध्य वेला है। सामाजिक पुनरुद्धार के द्वारा जीवन के इन सभी स्तरों को दृष्टि में रख कर यथाक्रम इनकी आन्तरिक मांगों की पूर्ति करनी है।

सम्प्रति हम स्वयं को नवविकसित पीढ़ी के मनस् तक ही सीमित रखेंगे—नवोदित पीढ़ी अर्थात् छात्रवर्ग ! हमें सामाजिक सुधार एवं पुनरुद्धार का कार्य छात्रावस्था से ही आरम्भ करना है; क्योंकि इस समय मन शिक्षा-प्रक्रिया के अनुरूप बनने और ढलने की स्थिति में रहता है। यहाँ हमें शिक्षक को ही ध्यान में रखकर नहीं चलना है, प्रत्युत् शिक्षार्थी को ध्यान में रखना है। शिक्षा शिक्षक द्वारा छात्रों के मस्तिष्क में ज्ञान उँडेल कर निज के मस्तिष्क को रिक्त करने की प्रक्रिया मात्र

नहीं है, प्रत्युत् छात्रों की आवश्यकताओं की अनुभूति कर, तदनुरूप उचित विधि से समयानुकूल उपयुक्त वस्तुओं द्वारा उनका पूर्तिकरण है। अतः शिक्षक को एक अच्छा मनोवैज्ञानिक होना चाहिए। वह शिक्षण-कार्य को विद्यार्थियों के सङ्ग व्यवसाय जैसा कदापि न समझे। शिक्षक में ऐसी क्षमता हो कि वह शिक्षार्थियों में प्रियता पा सके। ज्ञान-प्रदान की यह सुखद प्रक्रिया ही शिक्षा है।

इन दिनों छात्र एवं शिक्षक दोनों ही शिक्षा-प्रणाली से सन्तुष्ट नहीं हैं। कारण, विभाग के सम्बन्धित अधिकारी यह भूल चुके हैं कि शिक्षक को एक साथ ही इस प्रकार शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक, नैतिक, क्रियात्मक एवं आध्यात्मिक होना चाहिये कि वह भली-भाँति व्यक्ति की परिस्थिति के अनुकूल हो सके। शिक्षण-पद्धति को, छात्रों की सामान्य बुद्धि-लब्धि (Intelligence-quotient) उनके स्वास्थ्य और सामाजिक परिस्थितियों आदि को ध्यान में रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त शिक्षण पद्धति को, (१) व्यक्तित्व के विकास, (२) संसार के पर्याप्त ज्ञान, (३) समाज के साथ निज के सामञ्जस्य एवं (४) जीवन के चिरस्थायी मूल्यों की उपलब्धि को प्रभावित एवं सम्पादित करने वाली विधियों पर संकेन्द्रित होना चाहिये।

व्यक्तित्व के विकास से तात्पर्य व्यक्ति विशेष के हितकारी निर्माण से है, केवल शरीर, मन और बुद्धि की आन्तरिक अवस्थाओं के सन्दर्भ में ही नहीं प्रत्युत् समाज के विभिन्न स्तरों द्वारा व्यष्टि तक पहुँचते हुए वाह्य जगत् के सम्बन्ध में भी है। इस अर्थ में सच्ची शिक्षा एक आन्तरिक "पैठ" और एक "वाह्य प्रसार" दोनों ही हैं। सांसारिक ज्ञान, केवल तथ्यों का एक संग्रह मात्र अथवा भौतिक जगत् विषयक सूचनाओं का सङ्कलन ही नहीं है यह उसकी आन्तरिक क्रियाओं में भी एक अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, कम से कम उस सीमा तक तो अवश्य ही जिस सीमा तक वाह्य और आन्तरिक जीवन उसके सङ्ग अविमोचनीय रूप से सम्बद्ध हैं। इस ज्ञान द्वारा उस कला को जानना सरल हो जाता है, जिसके द्वारा वह स्वयं को समाज के अनुकूल ढाल सकता है। जिस व्यक्ति ने मानव समाज की संरचना के आध्यात्मिक संकेतों का ज्ञान कुछ अंशों में भी प्राप्त नहीं किया है। उसके लिए किसी श्लाघनीय अनुपात में यह सामञ्जस्य सम्भव नहीं है। समाज के व्यक्ति की शिक्षा का उद्देश्य है जीवन के मूल्यों की चरितार्थता—एक सामान्य लक्ष्य द्वारा परस्पर सम्बद्ध एवं निर्धारित तथा उसी लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट, जीवन के व्यक्तिगत, सामाजिक, नागरिक एवं सार्वभौमिक मूल्यों का बोध।

सर्वोपरि तथ्य तो यह है कि शिक्षा का प्रयोजन समझे बिना हम छात्रों को शिक्षा देना आरम्भ नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, अनेक हिन्दू स्त्री-पुरुषों ने भिन्न-भिन्न कारणों से धर्म-परिवर्तन अंगीकार किया है जिनमें एक कारण आर्थिक

उन्नति और सामाजिक स्तर के उन्नयन की उन सम्भावनाओं में निहित है, जिनका आश्वासन धर्म-परिवर्तकों द्वारा इन निरीह प्राणियों को दिया जाता रहा है, जिन्हें आर्थिक दृष्टि से अपना सुधार कर सकने की सुविधाओं से वंचित कर दुर्भाग्यवश हिन्दू-समाज के अवांछित वर्ग में बहिष्कृत कर दिया गया है। दूसरा कारण अस्पृश्यता एवं स्पर्श द्वारा अपवित्रीकरण की घातक प्रथा है जो कतिपय कट्टर वर्गों द्वारा दीर्घकाल से संवर्द्धित होती रही है तथा आज भी पूर्णतः विनष्ट नहीं हुई। अब प्रश्न उठता है यह सब घटित होने का क्या कारण है? मानव के चतुर्दिक परिवेश में दमन एवं अस्पृश्यादि क्यों हों? इसका उत्तर है, उचित शिक्षा का अभाव।

लेकिन उचित शिक्षा है क्या? ऊपर निर्दिष्ट प्रक्रिया के अनिवार्य तत्वों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जाना चाहिए कि यद्यपि शिक्षा को अत्यधिक व्यावहारिक होना चाहिए तथापि हमें यह नहीं समझना चाहिए कि किसी वस्तु की व्यावहारिकता, जीवन में (किसी राजनैतिक अर्थ में) सफलता प्राप्त करने में ही निहित है; क्योंकि यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति युक्तिचातुर्य द्वारा कुछ समय तक चाहे सफल हो जाय, जैसा व्यापार में होता है; परन्तु उस तथाकथित व्यावहारिक सफलता के उपरान्त भी अन्तर में वह अत्यधिक दुःखी हो, यह असम्भव नहीं। इसका कारण है कार्यों का नितान्त निर्जीव रूप से व्यावहारिक होना, जीवन की उस अन्तःस्फूर्ति से रहित होना जो उन्हें सजीव रखती है। किसी घर में निवास करते समय हम यद्यपि सदैव उसकी नींव के सम्बन्ध में सचेत नहीं रहते, न वह नींव ही हमें दृष्टिगोचर होती है, तथापि यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्पूर्ण भवन नींव पर ही स्थित है। इसी भाँति जीवन में मानवीय सफलता एक अलंकृत एवं सुसज्जित भवन की तरह रमणीक लग सकती है, परन्तु यदि यह किसी मजबूत आधार पर सुदृढ़ रूप से स्थापित नहीं होगी तो स्थित नहीं रह सकती। अतः यहां हमारा प्रयोजन इस बात पर विचार करना है कि जीवन की शिक्षा का यह आधार कौन सा हो सकता है।

शिक्षा जीवन को सुखपूर्वक जीने के लिए है, उसे कष्टमय बनाने के लिए नहीं। वर्तमान शिक्षा पद्धति की दोषपूर्ण संरचना का कारण है जीवन के आधार की एक गलत धारणा। यह आवश्यक नहीं है कि धर्म अपने कट्टर अर्थ में, अथवा जिस रूप में रूढ़िवादी समझते हैं, स्कूलों में उद्घोषित किया जाय। उचित प्रकार की शिक्षा का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक होना चाहिए तथा उसे संकीर्ण धर्मों अथवा समाज के किसी भी सम्प्रदाय की परिधि को पार कर जाति, धर्म, मतों एवं वर्णभेद के पूर्वाग्रहों से मुक्त होना चाहिए। शिक्षा की वर्तमान पद्धति पूर्णतया असन्तोषजनक है; क्योंकि जहां यह सभी धर्मों को 'धर्मनिरपेक्षता' के नाम पर अस्वीकार कर देती है, वहीं वह मानव-अभीप्सा के अनिवार्य तत्वों को भी अस्वीकृत करके शिक्षा को एक ऐसा नि-

ष्प्राण यन्त्र बना देती है जो बाह्य ओर से किसी जीवित प्राणी द्वारा संचलित किया जा रहा हो। शिक्षा बाह्य आवेग पर संचालित किया जाने वाला यन्त्र नहीं है, प्रत्युत् एक अत्यावश्यक प्रक्रिया है जिसमें जीवन है और जो चेतना का समावेश किये जाने पर स्वयं वर्द्धित होती है। जीविकोपार्जन की शिक्षा को जीवनोपार्जन की शिक्षा बनाना है; क्योंकि यह द्वितीय प्रकार की शिक्षा आजीविका प्रदान करने के साथ ही मनुष्य को जीवित रहने के लिए जीवन-तत्त्व भी देगी।

शैक्षणिक आधार की दूषित संरचना जीवन के मूल्यों की एक भ्रान्त धारणा पर आश्रित है। हमारा निवास-स्थल यह संसार भौतिक तत्व का एक घनीभूत पुँज माना गया है। यहाँ तक कि एकमात्र सत्य प्रतीत होने वाले हमारे अपने शरीर यान्त्रिक नियमों से संचालित होने वाले भौतिक प्रकृति के अंश के रूप में देखे जाते हैं। आज, विशेषतः विज्ञान-जगत् में यह एक सामान्योक्ति हो गई है कि जीवन अत्यन्त सुनिश्चित रूप से कार्यकारण के उस सिद्धान्त द्वारा निर्धारित है, जो संसार की सम्पूर्ण परियोजना पर शासन करता है। हमें बताया जाता है कि सत्ता के भौतिक तत्त्व, प्राण एवं मनस् आदि क्षेत्रों में जिस भिन्नता की प्राप्ति की अपेक्षा की जाती है, वह सतही है तथा उसका भान बहुत ही सूक्ष्म प्रभेद के रूप में भौतिक तत्त्व के प्रकटीकरण एवं प्रसारण में होता है। यहां तक कि विज्ञान द्वारा परिकल्पित विश्वयन्त्र के नियमों को चुनौती देती प्रतीत होने वाली मानव-शरीर की संघटना की व्याख्या भी सभी वस्तुओं के आधारभूत उपादान भौतिक तत्व की शक्ति की विभिन्न रूपी सक्रियता का एक रूप कह कर कर दी गयी है। मनस् तक को भौतिक तत्व की शक्तियों का सूक्ष्म और वायविक निःस्त्रावण मात्र कहा जाता है। ब्रह्माण्ड की विराट् संरचना में मानव एक कणिका के रूप में ह्रस्व हो गया है। व्यावहारिक मनोविज्ञान अपनी भौतिकवादी विवक्षा (अभिप्रेतार्थ) द्वारा जीवन के प्रति यान्त्रिक दृष्टिकोण के इस सिद्धान्त को अन्तिम रूप से सम्पूर्ण कर देता है।

मानव-विकास के क्रम में यह तथ्य सहज ही विदित हो जाता है कि मानव निष्करण जगत् के नियतिवादी यन्त्र का एक निरीह दांता मात्र नहीं है, प्रत्युत उसकी सत्ता सार्वभौम आत्मा की श्रेणी का एक आध्यात्मिक तत्त्व है फिर भी भारत में मैकाले की योजना के अन्तर्गत शिक्षित व्यक्ति, सम्प्रति बहुचर्चित तथा कथित आधुनिक चिन्तन, युक्तिपूर्ण दृष्टिकोण एवं जीवन के प्रति वैज्ञानिक मनोवृत्ति की लीक पकड़ चलते रहे। अपनी आध्यात्मिक विरासत को क्रमशः त्यागकर उन्होंने सगर्व एक ऐसी संस्कृति के अदृश्य जुए के नीचे इतराते हुए चलना आरम्भ किया जो उन पर गुप्त रूप से प्राप्त आधिपत्य की भावना से जुड़ी थी। आज शिक्षा के उचित साधन द्वारा विचारों की इस घातक प्रवृत्ति का ही प्रतिकार करना है।

शिक्षा की कोई उपयुक्त विधि प्रवर्तित करने से पूर्व मानवीय मूल्यों का समुचित मूल्याङ्कन अनिवार्य हो जाता है। शैक्षणिक विधि की समस्या का समाधान तब तक असम्भव है जब तक अधिकारीवर्ग मानव के शरीर को ही सर्वोपरि मान कर सन्तुष्ट हैं यह भ्रान्ति विद्यार्थियों की अपेक्षा अध्यापन-कार्य से सम्बद्ध व्यक्तियों में अधिक प्रतीत होती है; क्योंकि विद्यार्थी-वर्ग तो बाल्यावस्था से ही अपने सन्मुख प्रवाहित होती हुई धारा से प्रभावित होते रहते हैं। हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि कुछ हिन्दुओं का धर्मपरिवर्तन के लिए उद्यत होने का एक कारण है उनका अपने धर्म के आश्वासनों से असन्तुष्ट होना तथा धर्म का उनके प्रति व्यवहार। अस्पृश्यता के रूप में शारीरिक पार्थक्य की घातक प्रथा समाज के कुछ वर्गों में व्याप्त श्रेष्ठता की भ्रान्त बौद्धिक धारणा के अतिरिक्त धर्मगत् कुछ मिथ्या और अपर्याप्त मान्यताएँ भी काफी सीमा तक देश में मानव-मानव के बीच भेदभाव उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी हैं। भविष्य के अविज्ञात आश्वासन में, अपेक्षाकृत अधिक हित की कल्पना स्वाभाविक प्रवृत्ति है। धूमिल नेत्रों से दीख पड़ती दूर की हरीतिमा की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुऐ बछड़े की भांति व्यक्ति धर्म परिवर्तन के लिए लालायित हो उठता है। धर्म में इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि उसके अनुयायी उसे समझें। बहुधा 'हमें हमारे मित्रों से बचाओ" पुकार अर्थगर्भित प्रतीत होती है। मूर्ख मित्र एक सुविज्ञ शत्रु से कहीं अधिक बुरा होता है। हिन्दूधर्म के पंडित एवं धर्म के क्षेत्र में गवेषणा करने वाले विद्वान् दोनों ही व्यर्थ बन्द गलियों में भटकते रहे हैं, एक रूढ़ परम्परा एवं विवेकशून्य आस्था से चिपका रहा तथा दूसरा अटिकाऊ शुष्क बुद्धिवाद से। यह सत्य नहीं कि हमें पश्चिम से कुछ भी नहीं सीखना है जैसा कि कुछ रूढ़िवादी हिन्दू सोचते हैं। हमें बदलते हुए समय एवं मान्यताओं के पूनर्मूल्याङ्कन की आवश्यकता को महत्व देना ही है। भारतीय संस्कृति अपनी नमनशीलता के कारण सुरक्षित रही है जबकि अन्य प्राचीन संस्कृतियाँ अपनी परिदृढ़ता के कारण ही विनष्ट हो चुकी है। प्राच्य विद्या के कतिपय विचारकों की यह धारणा थी कि भारतीय धर्म केवल अन्धविश्वास, पुराण एवं कपोल-कल्पना मात्र है—सत्य नहीं है। शिक्षा का लक्ष्य, दोषपूर्ण रूढ़िवादि को हठधर्मी से जकड़े रहने की अपेक्षा ज्ञानार्जन है। अतः 'उत्तम' जहां कहीं भी प्राप्त हो, हमें उसे ग्रहण करना है।

आवश्यक है कि विश्व में मानव की संरचना पर एक लघु पाठ्यपुस्तक ऐसी सरल शैली में लिखी जाय कि प्राथमिक शिक्षालयों के बालक भी समझ सकें। इसमें प्रारम्भ में सरल प्रश्नोत्तर, कहानियां एवं ऐसे लघु नाटक रखे जा सकते हैं जो विद्यालय के रङ्गमंच पर अभिनीत हो सकें। इस पुस्तक में, बाह्य सृष्टि के परिपेक्ष्य में मानव-व्यक्तित्व के संघटन विषयक ज्ञान को सुपाठ्य एवं बोधगम्य रूप में निहित

करना चाहिए। केवल इतना ही नहीं इसमें उपर्युक्त मानव सृष्टि-सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए, मानव आचरण के मूलभूत तत्त्व पर भी विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार के आचरण का मानव-जीवन में क्या महत्व है, इसके सम्बन्ध में भी ज्ञान देना आवश्यक है। ये बात दर्शन, नीतिशास्त्र, हेतुवाद एवं मतसम्प्रदायों की विशिष्ट सूक्ति-शैली बिना ही कही जानी चाहिए। ऐसी पुस्तकों में शास्त्रीय शब्दावली अथवा रूढ़ उक्तियों का कदापि प्रयोग नहीं होना चाहिए वस्तुतः इनका परिहार ही करना चाहिए क्योंकि हम शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर पर विचार कर रहे हैं जहाँ सभी प्रकार की शास्त्रीयता सावधानीपूर्वक अलग कर देना उचित है। पाठों में ऐसी उपयुक्त कहानियाँ और सरल नाटक प्रचुर मात्रा में होने चाहिएँ जो बालकों को सरलता से समझ में आ सकें। इसके द्वारा जीवन के मूलभूत तत्त्वों पर प्रारम्भिक पुस्तिका की पृष्ठभूमि तैयार हो सकती है।

शिक्षा के प्राथमिक, प्रारम्भिक, हाई स्कूल और कालेज-स्तरों पर क्रमिक शृंङ्खला में इस प्रकार की तीन या चार पाठ्य-पुस्तकें होनी चाहिए। पुस्तकें इस प्रकार लिखी जायें कि छात्र विषयों में रुचि ले सकें तथा ऐसी आस्था संजो लें कि वे अध्ययन द्वारा लाभान्वित हो सकें। हाई स्कूल एवं कालेज स्तर पर क्रमशः उच्च ज्ञान को प्रस्तुत करना चाहिए। आरम्भिक स्तरों की प्राथमिक शिक्षाओं और कहानियों द्वारा वर्द्धित ज्ञान पर आधारित उच्च कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में छात्रों को भारत की महान परम्परा और उसकी गम्भीर संस्कृति से परिचित कराया जा सकता है। वैदिक ऋचाओं के आध्यात्मिक एवं लौकिक अर्थ, जैसे—पुरुषसूक्त, माण्डूक्योपनिषद, बृहदारण्यकोपनिषद का याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद, ऐतरेयोपनिषद के साक्षात्कार के सृष्टि-सिद्धान्तों की सांकेतिकता, रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्य तथा भगवद्गीता के दिव्य सन्देशों को शिक्षा के उच्च स्तर पर समुचित स्थान मिलना चाहिए। राम और कृष्ण जैसे भारत के अमर नायकों; नर-नारायण, वसिष्ठ, व्यास, शुक, दत्तात्रेय, जड़भरत, वामदेव, उद्दालक, याज्ञवल्क्य, पराशर जैसे ऋषियों; पृथु, मरुत, अम्बरीष, मान्धाता, शिवि, हरिश्चन्द्र, दिलीप, भगीरथ, रघु, अज, दशरथ, जनक, राम, ययाति, भरत, युधिष्ठिर, विक्रमादित्य, अशोक आदि के सदृश महान शासकों से छात्रों को परिचित करना, एक विशिष्ट स्तर पर अनिवार्य है। शंकर, रामानुज, मध्व आदि जैसे महान आचार्यों तथा गौरांग, नानक, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, मीराबाई, सूरदास, तुलसी, कबीरदास आदि के समान सन्तों की संक्षिप्त जीवनी भी समीचीन स्थान प्राप्त करें। भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी शिवानंद, एनीबेसेण्ट, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द तथा सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का योगदान भी, विशेषकर कालेज स्तर पर ध्यान में लाया जाना चाहिए। संस्कृति की सामान्य रूप से एक व्यापक झलक दिखलाने के लिए तथा

मानव आकांक्षाओं की आधारगत एकता को निर्दिष्ट करने के लिए एक पृथक् विभाग बुद्ध, महावीर, ईसा, मोहम्मद, सूफी सन्तों एवं सिक्ख गुरुओं की जीवनी एवं उपदेशों को प्रदान किया जा सकता है।

अध्यापकों को अपने मन की पृष्ठभूमि में शिक्षा के पीछे मानव-अस्तित्व का लक्ष्य (चतुर्वर्ग)—अपने सभी स्तरों और रूपों में धर्मपरायणता (धर्म), अर्थ-स्वातन्त्र्य (अर्थ), भावनात्मक सन्तुष्टि (काम) तथा आध्यात्मिक सिद्धि (मोक्ष) को मानव की समस्त क्रियाओं के प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्थित रखना चाहिए। शिक्षण स्तर पर यह दृष्टिकोण निरन्तर बनाये रखना चाहिए जिससे यथार्थ प्रतिफल की प्राप्ति के प्रयास में शिक्षा का प्रयोजन भूला न जा सके। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि कुछ सीमा तक आत्मनियन्त्रण (यम-नियम का पालन) किये बिना अध्ययन का पाठ्यक्रम त्रुटिरहित नहीं हो सकता। इस 'आत्मनियन्त्रण' को किसी भी दी गयी स्थिति में सम्यक् रूप से परिभाषित किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा नियम है जिसका पालन शिक्षक और शिष्य दोनों को करना चाहिए। शैक्षिक जीवन एक पवित्र वृत्ति है। इसकी पवित्रता अधः मानवीय आसक्तियों में लिप्त होकर कदापि दूषित नहीं की जानी चाहिए। मानव-स्वभाव के भावनात्मक सांकल्पिक, बौद्धिक एवं क्रियात्मक सभी पक्षों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। अन्यों की उपेक्षा कर किसी एक विशेष पक्ष पर बल नहीं देना चाहिए; अन्यथा बाद में, किसी समय उपेक्षित पक्षों का विद्रोह होने की सम्भावना रहती है। शिक्षण के प्रत्येक स्तर पर वाह्य और आन्तरिक वास्तविकताओं तथा मानव की मानसिक प्रकृति और जगत की सामाजिक एवं भौतिक प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध सामञ्जस्यपूर्ण बनाये रखना चाहिए। शिक्षक को यह नहीं समझना चाहिए कि छात्र एक ऐसा यन्त्र है जो मात्र वाह्य दबाव से संचालित किया जा सकता है। यह सोचना एक भयंकर भूल होगी; क्योंकि छात्र वाह्य इच्छाओं और आन्तरिक आकाँक्षाओं (जो अभी उचित रूप में स्पष्ट नहीं हुई हैं) से युक्त एक सजीव प्राणी है, व्यक्ति विशेष है। इस तथ्य का ज्ञान न होने के कारण ही वर्त्तमान शिक्षा-संस्थाओं की ऐसी शोचनीय दशा हो गयी है। व्यष्टि और समष्टि यान्त्रिक रूप से कपोतपुच्छित (परस्परानुबन्धित) नहीं, प्रत्युत चेतन रूप से सम्बन्धित हैं।

पाश्चात्य शिक्षाविदों द्वारा मान्य शिक्षा का यान्त्रिक दृष्टिकोण, जिसका अनुकरण आज प्रायः हर जगह हो रहा है, मानव का शरीर संरचना तथा उसके चतुर्दिक परिवेश में विद्यमान जीवन-तत्त्व को भूल जाता है। शिक्षा प्राण, मन और बुद्धि से सम्बद्ध है। यह सिद्धान्त कि ये भौतिक संरचना के निःस्रवण मात्र हैं—पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा लाया भ्रामक ज्ञान है। व्यक्ति, परिवार, समुदाय एवं विराट्

जगत व्यक्ति के भौतिक अस्तित्व का परिमाणात्मक विस्तार हैं; परन्तु यह स्मरण रखना है कि इन बाह्य रूपों का, चर्मचक्षुओं से छुपे होने पर भी, आन्तरिक अस्तित्व है जो अपना बोध कराते हुए, सतत एक सार्वभौम आत्मतत्व के रूप में विद्यमान है। मनस् और बुद्धि की नाना भाषाओं में यह आत्मतत्व ही सम्पूर्ण अस्तित्व के अवैकल्य मूल्यों का अनन्य सन्देश देता है। कर्म नामक क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नैतिक अन्तश्चालना तथा राजनैतिक इतिहास के नियम सभी इस शाश्वत सत्य की विभिन्न पुष्टियाँ हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारत में प्राचीन गुरुओं ने प्रज्ञा, सामर्थ्य, साधना एवं श्रम को विकासोन्मुख समाज की एक अविभक्त शक्ति के रूप में प्रयुक्त करने के लिए समाज में चार वर्गों की (वर्ण) व्यवस्था की। इस व्यवस्था में प्रतिस्पर्द्धा एवं प्रतिद्वन्द्विता का अवरोध करने तथा उनकी जगह पारस्परिक सहयोग एवं मूल्यों के प्रति पारस्परिक सम्मान को प्रतिस्थापित करने का भी गुण था। वर्णाश्रम की इस व्यवस्था ने सम्पूर्ण अस्तित्व को उस चरम लक्ष्य को उदघाटित किया जो जीवन की प्रत्येक अवस्था उदाहरणार्थ छात्रावस्था, गार्हस्थ्य व्यक्ति, परिपक्व दार्शनिक एवं सार्वभौम जीवन में अन्तर्दृष्टि प्राप्त व्यक्ति — में परिलक्षित होता है। अन्तिम अवस्था मानव-प्रयास की चरमोत्कर्ष अवस्था है तथा इसकी आवश्यकता का अनुभव पूर्ववर्ती प्रत्येक स्तर पर कराया जाना आवश्यक है। पूर्णत्व के सम्बन्ध में यह है भारत की भव्य कल्पना।

पश्चिम की दासता ने भारत पर एक ऐसी छाप छोड़ दी है जो सदा केवल आधुनिक विज्ञान के कथनों को ही सही मानने का आग्रह करती है। दुर्भाग्यवश यह सत्य नहीं है; क्योंकि विज्ञान का क्षेत्र संवेदनात्मक (Sensory) है, प्रयोग और तर्क इसी पर आधारित हैं। आज विज्ञान की गर्वोक्तियाँ शनैः शनैः व्यर्थ की मिथ्या अहमन्यताओं के रूप में खण्डित होती जा रही हैं। हमें बताया जाता है कि मानव पूँछहीन बन्दर से विकसित हुआ है तथा हमारे पूर्वज असभ्य जातियों के रूप में थे अर्थात हमारे देश का प्राचीन इतिहास पशु-मानव के वनस्थलियों में निरंकुश स्वतन्त्र भ्रमण की कथा है। जीवन पृथ्वी पर लाखों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए कवक (Fungi) से प्रारम्भ हुआ था तथा क्षुधा एवं कामवासना मानव के आत्मिक आवेगों को समाप्त कर देतीं हैं। इस कथन के साथ तनिक आचार्यों के उस उच्च ज्ञान की तुलना करें जिन्होंने घोषित किया कि विश्व प्रथमतः ईश्वर की सार्वभौम सत्ता में ही अन्तर्भूत था तथा प्राण, मानस एवं बुद्धि उसी सत्ता से उदभूत हैं और आत्मबोध की क्रमिक प्रक्रिया में पुनः उसी ईश्वर में मिल जाते हैं, कि इतिहास भी ऐसे शक्ति-सम्पन्न सम्राटों और महान सन्तों के जीवन को अङ्कित करता है जिनके व्यक्तित्व न्याय, सत्य एवं ज्ञान के सार्वभौम नियम की अभिव्यक्ति करते हैं, कि हमारा जीवन असीम और

अनन्त में एक बृहत्तर जीवन के लिए छुपी हुई अन्तःशक्तियों की ओर संकेत करने वाला हलका सा निर्देशक है, कि हमारी अभीप्साएं हमारे वास्तविक रूप की द्योतक हैं। यह मानने का कोई कारण नहीं कि आध्यात्मिक अन्तर्बोध मात्र भ्रांतियां हैं तथा केवल वैज्ञानिक उपलब्धियां ही सत्य हैं। हम पहले से ही एक ऐसे युग में पहुंच चुके है जहां विज्ञान के मूलाधार ही सन्देहास्पद हो उठे हैं एवं संदिग्ध प्राक्कल्पनाओं (Hypothesis) के रूप में देखे जा रहे हैं। संवेदन बुद्धि और अन्तर्बोध ज्ञान के तीन सोपान हैं जिनमें पूर्ववर्ती की अपेक्षा परवर्ती सत्य में अधिक अन्तर्भूत और उसके अधिक निकट है।

तथापि इस बात की सुरक्षा का ध्यान रखना होगा कि उत्साह में प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के सापेक्षिक गुण हमसे छूट न जायें; वरन् उन्हें समुचित मान्यता मिले। भूल कर भी विदेशी का सर्वथा अभिनिषेध अथवा देशीय संस्कृति की गरिमा को कम नहीं करना चाहिए। संस्कृतियों का उत्थान-पतन उनकी समय के परिवर्तन के साथ मानव-स्वभाव की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने की क्षमता के अनुसार होता है शारीरिक शिक्षण एवं विज्ञान के निर्देश, विशेषकर इस शताब्दी में एक अनिवार्य आवश्यकता है; परन्तु यह ज्ञान व्यक्तिगत भावना के संस्पर्श के साथ संस्था में शैक्षणिक अनुशासन के व्यवस्थित एवं नियन्त्रित आधुनिक तरीके से प्रदान किया जाना चाहिए। सम्भवतः अधिकांश लोग जिस रूप में इसका अधिमूल्यन करेंगे उसकी अपेक्षा शिक्षणपक्ष में यह अनुवर्ती पक्ष ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सीखने की अपेक्षा सिखाना कठिन कर्म है; क्योंकि सीखने में तो छात्र अधिकांशतः शिक्षक का अनुकरण तथा शिक्षक के कथनानुसार कार्य करता है, लेकिन शिक्षक को सिखाने का प्रारम्भिक उपक्रम करने तथा छात्र के मनस् को समझने का कष्ट उठाना पड़ता है; परन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि छात्र का कर्त्तव्य केवल आज्ञानुवर्तनकारिता अथवा अनुगत होना है; क्योंकि निर्णय की क्षमता सभी में होती है, बालकों में वही प्रारम्भिक रूप में होती है। शिक्षण मनोवैज्ञानिक पद्धित है जो शिक्षक से अतिमानवीय धैर्य की ही नहीं अपितु असीम समझदारी की भी अपेक्षा करती है।

कला और विज्ञान की शिक्षा के पाठ्यक्रम के अतिरिक्त मनोरंजन पर्यटन, अच्छे लगने वाले व्यायाम तथा मुक्त वातावरण में रहने की भी व्यवस्था होनी चाहिए, क्योंकि प्रकृति साहचर्य उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितने कक्षा के पाठ होते हैं। छात्र को यथा-सम्भव ऐसे व्यक्तियों से मिलने-जुलने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए जो उसके शैक्षणिक जीवन में व्याघात उत्पन्न कर सकते हों। छात्रों की साम्प्रदायिक

एवं राजनैतिक आन्दोलनों से सुरक्षा अनिवार्य है। विद्यालयों में छात्रावास की व्यवस्था, छात्रों को अवांछित सम्पर्क से तटस्थ रहने में काफी सहायता करेगी। आवश्यकता होने पर आवासिक (Residential) विद्यार्थियों तथा अनावासी विद्यार्थियों में विभेदीकरण किया जा सकता है जैसा कि आज भी कतिपय ईसाई विद्यालयों में किया जाता है। आवासिक शिक्षा 'गुरुकुल-वास' प्रणाली के अधिक निकट होगी जहां शिक्षण-काल में छात्रों को अपने मातापिता तथा सम्बन्धियों के सम्पर्क में आने की भी अनुमति नहीं मिलती। ये सभी वस्तुएँ, हमारे जैसे देश में जहां घोर दरिद्रता है और जीवन-यापन की सुविधायें नगण्य हैं, सम्भव होना कठिन है। और यही, सुसम्पन्न व्यक्तियों को आगे आकर वास्तविक शिक्षा को क्रियान्वित करने में सहायता देनी चाहिए। विद्यालय का अहाता तथा वातावरण स्वच्छ तथा आकर्षक होना चाहिए जिससे बालक जब तक इसमें रहे उनका मन उन्नत भाव-अवस्था के प्रखर प्रभाव को ग्रहण करता रहे। शिक्षकों के आचरण की गरिमा, उनके आचार-व्यवहार का विशुद्ध रूपेण शैक्षणिक कार्यों तक सीमित होना तथा उनके उद्देश्य की निःस्वार्थता शिक्षाक्रम की पूर्णता में अत्यधिक योग देते हैं। विद्यालय यथासम्भव शहरों और जनाकीर्ण बस्तियों से दूर होने चाहिएँ; क्योंकि इनसे बालकों के मन पर अवांछनीय प्रभाव पड़ सकता है। शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से उन्हें शुद्ध वायु का सेवन करना चाहिए।

युवा पीढ़ी के संवेगों को नियन्त्रित कर सकना कठिन है। निर्धारित नियम और अनुशासन की कठोरता का प्रशमन पर्याप्त मनोरंजन द्वारा होना चाहिए। शिक्षाप्रद एवं सांस्कृतिक चलचित्रों का प्रदर्शन भी सामयिक कार्यक्रमों का एक अंग बन सकता है। उच्च कोटि का नृत्य और संगीत भी मूर्तिकला और चित्रकला की भांति ही संवेगों पर अच्छा प्रभाव डालकर उन्हें मृदु सन्तुष्टि प्रदान करते हैं? परन्तु साथ ही इसका घ्यान रखना होगा कि संवेग अत्यधिक नियन्त्रण अथवा अत्यधिक आनन्दोपभोग के कारण निरंकुश न हो जायें। संवेगों को आत्मा की उस संस्कृति की ओर प्रवाहित करना होगा जो संसार में जीवन-तत्व के रूप में अपनी अभिव्यक्ति का प्रयास करती है। उदात्त जीवन का संन्तोषजनक प्रशिक्षण मात्र कुछ वर्षों में नहीं दिया जा सकता। ऐसे जीवन की नींव शिक्षा के प्रथम वर्ष में ही डालनी होगी तथा निर्माण-कार्य उच्चतर माध्यमिक स्तर तक चलता रहना चाहिए। इस प्रकार लगभग बारह वर्ष की प्रशिक्षण-अवधि सुनिश्चित होगी जो "गुरुकुल-वास" परम्परा में निर्धारित अल्पतम अवधि है।

विद्यार्थियों पर अत्यधिक पाठशाला-शुल्क का भार भी एक बड़ जन-समुदाय को ऐसे लाभ प्राप्त करने से वंचित कर सकता है। निर्धनता सर्वत्र ही प्रगति में एक

विकट बाधा है। इस योजना को कार्यान्वित करने में सहायता देने के लिए धनी वर्गों को सामने आना चाहिए; क्योंकि केवल कुछ क्षेत्रों के थोड़े से अभिजात्य व्यक्तियों के बालक-बालिकाओं को ही शिक्षित करने से भारत मानसिक दासता एवं संस्कृति के अज्ञान से मुक्त नहीं हो जायगा। इस शिक्षा-पद्धति को बहुसंख्यक जनता तक पहुँचाने के लिए पूंजी की नितान्त आवश्यकता है ; क्योंकि शिक्षकों को अपने कार्य के प्रति उदासीन होने अथवा भ्रष्टाचारोन्मुख होने से बचाने के लिए उन्हें अच्छे वेतन दिये जाने की आवश्यकता है ; परन्तु इससे भी अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है सुयोग्य शिक्षकों की खोज। इसके प्रयोजनार्थ प्रारम्भ में बहुत परिश्रम करने तथा पर्याप्त पूंजी लगाने की आवश्यकता है। यह बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों के समन्वय का प्रश्न है। इन सभी को एक मूल-शक्ति के रूप में उसी प्रकार संयोजित करना होगा जिस प्रकार प्रेममय सहयोग द्वारा प्राचीन भारत में शासकों एवं मनीषियों के मध्य की गयी थी।

समाहार करते हुए शिक्षण-प्रणाली को सफल बनाने वाली कुछ विशेषताय पुनः दोहरायी जा सकती हैं।

१. स्कूल अथवा कालेज का भवन वास्तुशिल्पीय दृष्टि से आकर्षक एवं भव्य होना चाहिए कि जिसे वह चित्त को तत्काल ही मुग्ध एवं समुन्नत कर सके। गन्दे, अपरिष्कृत तथा दुर्व्यवस्थित छादक (Sheds) सचेत रूप से ज्ञान न होने पर भी व्यक्ति के मन पर अवसादयुक्त प्रभाव डालते हैं।

२. संस्था का आहाता पूर्ण रूपेण स्वच्छ होना चाहिए जिससे कि उसमें प्रवेश करते ही व्यक्ति स्वास्थ्य-प्रदायिनी वायु का सेवन कर सके।

३. संस्था को नगर के वातावरण से दूर, व्यस्त सामुदायिक जीवन एव नगरीय क्षेत्रों के साम्प्रदायिक एवं राजनैतिक प्रतिवेश से असम्पृक्त प्राकृतिक परिवेश में होना चाहिए।

४. सम्बन्धित अधिकारियों को संस्था में गाम्भीर्य, पवित्रता तथा अत्युदात्तता का वातावरण प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न करना चाहिएं।

५. अध्यापकों अथवा प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों के बीच निश्छलता का व्यवहार होना चाहिए। उसमें पारस्परिक स्नेह और विश्वास की स्थापना की जानी चाहिए जिससे सम्पूर्ण संस्था एक समान उद्देश्य के लिए समर्पित भ्रातृसंघ हो सके।

६. विभिन्न कक्षाओं के लिए सर्वतोन्मुखी एवं सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम की रचना होनी चाहिए।

७. पाठ्यक्रम के विषयों

८. संस्था के प्रधानाचार्य
होने के कारण प्रधानाचार्य भी
निष्पक्ष व्यवहार तथा संस्था के प्रति

९. स्कूल के घण्टों में प्र
विद्यालय भवन से बाहर न जा स

१०. यथासम्भव अधिका
प्रयास किया जाना चाहिए जिससे
सके। छात्रों को शैक्षणिक जीवन-क्र
की अनुमति न दी जाय।

११. अन्त में, संस्था के अ
अपनी वास्तविक रुचि में विश्वास उ

यह समस्त कार्य एक कठिन
जा सकता है।

भारतीय राजधर्म

भारत में राजधर्म, शिक्षा, धर्म, दर्शन तथा विज्ञान उस समय अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुके थे जबकि संसार के अन्य देशों में सभ्यता का सूर्योदय नहीं हुआ था। इसी तथ्य की पुष्टि श्री मैक्समूलर और डाइसन इन शब्दों में करते हैं—
"India was the only country, where Administration, Education, Religion, Philosophy and Science reached the climax, long before their appearance in other countries."

भारतीय राजधर्म भौगोलिक तथा जाति-भावनाबद्ध न होकर पूर्णतया धर्म तथा संस्कृति पर आधारित था। अतएव भारत की समस्याएँ ठीक वही हैं जो सारे जगत् की हैं जिनके समाधान की आवश्यकता आज के मनुष्य को भी चुनौती दे रही है।

भारत की उपजाऊ भूमि ने सदैव सामूहिक जीवन व्यतीत करने की भावना को प्रोत्साहित किया तथा आदि काल से ही जनता-जनार्दन का हित भारतीय राजनीति का ध्येय रहा है। भारतीय संस्कृति जहाँ पारलौकिक है वहाँ इहलौकिक अर्थ तथा काम को भी उचित स्थान देती है। भारत में राजनीति तथा धर्म के क्षेत्र में भी कई प्रयोग होते रहे जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

क्षेत्र—

१. वैदिक काल की प्रभुसत्तात्मक समिति।
२. राजा।
३. राजा की सहायतार्थ मन्त्रि-परिषद्।
४. न्याय-विभाग।
५. राजस्व।
६. सुरक्षा तथा सैनिक शासन।

स्रोत—

१. भारतीय वाङ्मय (कल्पसूत्र)।
२. मनुस्मृति (सप्तम तथा अष्टम अध्याय)।
३. महाभारत (शान्ति पर्व)।
४. कौटिल्य का अर्थशास्त्र।
५. पुराण।

६. पंचतन्त्र ।

७. शुक्रनीतिसार ।

८. कामाण्डक नीतिसार ।

९. सोमदेव कृत नीतिवाक्यामृत ।

इन सब में जो भी नियम, उपनियम लिखे हैं वे काल्पनिक न होकर व्यावहारिक हैं।

समिति—

यह सार्वजनिक तथा सर्वप्रिय सभा थी जिसके द्वारा राजा का चुनाव होता था।

राजा—

प्रजा का रंजन करना ही राजा का मुख्य ध्येय होता था। देवासुर-संग्राम में दैत्यों को राजा द्वारा अनुशासित देख कर देवताओं ने अपने लिए भी राजा की आवश्यकता अनुभव की (ऐतरेय ब्राह्मण तथा तैत्तरीय उपनिषद् के अनुसार)। इसी से राजा को चुनने की प्रथा चली। यदि राजा धर्म की रक्षा करने में असमर्थ रहता तो उसे पदच्युत किया जा सकता था।

चुनाव में मतगणना गुप्तपत्रों द्वारा होती थी। राजा के अधिकार केवल राजसत्ता सम्बन्धी रहते थे। वह कभी भी राजगुरु तथा राष्ट्र-नेता न रहा। इस प्रकार समाज में शक्ति का संतुलन रहा; क्योंकि कभी भी एक व्यक्ति में उक्त वर्णित दोनों शक्तियाँ नहीं रखी जाती थीं। राजा के अधिकार सार्वभौमिक नियम अर्थात् ऋत तथा सत्य पर आधारित थे, जिसका उदाहरण संसार भर में नहीं मिलता। "शुक्रनीति" के अनुसार राजा अपनी मंत्रि-परिषद् के निर्णयानुसार ही कार्य करता था। पश्चिम के दैवी अधिकार (Divine Right of Kings) की झलक भी भारत के मानवीय राजतन्त्र में कभी न आ सकी। ये तो राजा तथा प्रजा के बीच एक समझौता था। प्रजा की ओर से, राजा राजसत्ता की थाती का संरक्षक होता था। वह मनमानी कभी नहीं करता था। देश-धर्म का पालन उसके लिए भी उतना ही आवश्यक था जितना कि प्रजा के लिए।

गुण—

राजा दानी, शूरवीर, लोक-व्यवहार में कुशल, शत्रु की गतिविधि पर पूर्णतया ध्यान रखने वाला, अक्रोधी, कर्मशील, इन्द्रिय-जयी, मान देने वाला, विद्वान् तथा भक्त होता था। राजा देवतुल्य माना जाता था जो मनुष्य के रूप में धर्मानुकूल आचरण करता था, अन्यथा प्रजा-शक्ति उसका नाश कर देती थी। राजा के मरणोपरान्त कलह न हो इसके लिए उसके जीवन-काल में ही युवराज की नियुक्ति हो जाया करती थी।

शपथ—

१. राजा प्रण करता था कि देश का उत्थान ही उसका ध्येय रहेगा।
२. प्रजा को अपनी सन्तान की तरह पालन करता रहेगा।
३. स्वयं नियमानुसार चल कर दूसरों से नियमों का पालन करायेगा।
४. यदि ऐसा न कर सके तो अपने जीवन में अर्जित पुण्यों के फल से वंचित रहेगा।
५. प्रजा का सुख ही उसका सुख रहेगा।

मुख्य कार्य—

राजा के मुख्य कार्य इस प्रकार थे। कृषि की उन्नति तथा सिंचाई का सुप्रबंध करना, सार्वजनिक निर्माण-विभाग की देखरेख करना, उद्योग तथा वाणिज्य की वृद्धि की ओर सदैव प्रयत्नशील रहना, आवागमन के साधनों की सुचारु रूप से व्यवस्था करना, छायादार सड़कें तथा धर्मशालाएँ बनवाना, समुद्री सीमा पर जलयानों द्वारा व्यापार में वृद्धि तथा मोती, मूँगे आदि रत्नों के निकलवाने के धन्धे को प्रोत्साहन देना आदि-आदि।

राज्य-प्रबन्ध—

राज्य-प्रबन्ध का रूप यह था
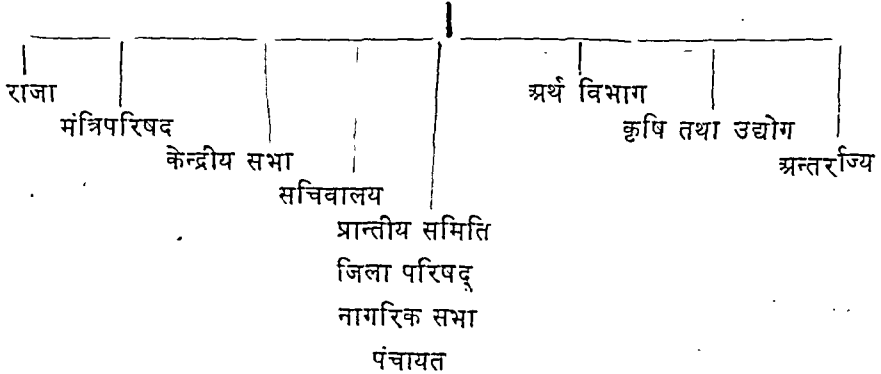
पंचायत राज्य राज्य-प्रवन्ध रूपी शरीर की रीढ़ की हड्डी थी जिसकी प्रशंसा सर मोनियर विलियम्स ने मुक्त कण्ठ से की है।*

मुख्य अंग—

राज्य के सात मुख्य अंग ये थे—

१. राजा २. मन्त्री ३. मित्र देश ४. कोष ५. देश ६. दुर्ग ७. सेना।

* Sir Monier Williams : "No circumstance in the history of India is more worthy of investigation than the antiquity and permanence of her village and municipal institutions."

मन्त्रि परिषद्—

१. सुमन्त्र (Finance Minister)
२. पंडित आमात्य (Law Minister)
३. मन्त्रिन् (*Home Minister*)
४. सचिव (*War Minister*)
५. आमात्य (Revenue Minister)
६. प्रतिनिधि (Representative)
७. पुरोहित (Religion Incharge)
८. राजदूत (Ambassador)

इनके अतिरिक्त प्राड्विवाक (Chief Justice) भी इस परिषद् का सदस्य होता है।

सभा—यह सभा स्थायी थी तथा समिति की देखरेख में कार्य करती थी। इसमें उच्च कोटि के सभासद् होते थे जो निःसंकोच पूर्ण अपनी राय देते थे। इनके निर्णयों का उल्लंघन कदापि न हो सकता था। मेगस्थनीज़ लिखता है—यदि आवश्यक होता तो राजसत्ता राजा से छीन ली जाती और लोकतन्त्रात्मक सत्ता में परिणत कर दी जाती, किन्तु महाभारत के अनुसार वैदिक काल में केवल राजतंत्रात्मक प्रणाली अपनायी जाती थी। वैसे गणराज्यों के उदाहरण भी मिलते हैं जो संघ का रूप ले लेते थे। कौटिल्य लिखते हैं······इन संघों में सब राज्यों के अधिकार समान रहते थे, किन्तु सेना द्वारा प्रशासित प्रजातन्त्र का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

कसौटी—सुन्दर राज्य-शासन विधि वही मानी जाती थी जो जनता को रुचिकर हो तथा उनकी अन्तर अभिलाषाओं की पूर्ति करे। किसी भी राज्य-विधान की सफलता का प्रमाण उसके चिरकाल तक स्थित रहने में ही माना जाता था। कई लोकतन्त्रात्मक राज्य एक सहस्र वर्ष के लगभग चले। यह जो कहा जाता है कि भारत में सदैव विघनटकारी शक्तियों की भरमार रही, ठीक नहीं; क्योंकि दिग्विजयी और चक्रवर्ती राजा भी तो थे। राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों का वर्णन इस तथ्य का प्रमाण है कि संघटन-शक्ति भी बराबर रही। इसको भारत की भौगोलिक एकता से सहायता मिलती रही।

न्याय-प्रबंध—न्याय के क्षेत्र में श्रेष्ठतम स्थान राजा का होता था जिसका वैधानिक परामर्शदाता प्राड्विवाक होता था। राजा स्वयं भी न्याय से बद्ध था। केवल एक न्यायाधीश के न्याय की मान्यता की अपेक्षा सम्मिलित न्यायाधीशों के न्याय को प्रमुखता दी जाती थी। राजा न्याय में न तो कोई नवीनता ला सकता था

और न परिवर्तन ही कर सकता था।

मिथ्या साक्षी को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। साक्षी देने से पण्डित राजकर्मचारी, स्त्रियाँ, अवयस्क, ऋणी, घोर अपराधी, पागल, वृद्ध तथा रोगी लोग मुक्त थे।

अपराध तथा दण्ड का स्वरूप—अर्थदण्ड, बेगार, कारावास, मृत्युदण्ड आदि के रूप में दण्ड दिया जाता था। मेगस्थनीज लिखते हैं कि भारतीय लोग साधारण-तथा न्यायानुसार जीवन व्यतीत करते थे। अपराध-वृत्ति को दबाने के लिए, कौटिल्य के अनुसार कर्फ्यू भी लगाया जाता था। अपराधियों का पता लगाने के लिए गुप्त चरों की सेवाओं का लाभ उठाया जाता था। गोहत्या सबसे बड़ा अपराध माना जाता था।

राजस्व—मूलतः राजा सब प्रकार की देश की सम्पत्ति का स्वामी होता था। सम्पत्ति के उपभोक्ताओं से राजा उतना ही कर लेता था जिसका देने वालों को भास न हो। इस प्रकार संचित कर-राशि को भी, राजा सार्वजनिक कल्याण-कारी कार्यों पर इस प्रकार लगा देता था जैसे सूर्य तालाबों से वाष्प लेकर वर्षा के रूप में उन्हें पुनः लौटा देता है। कौटिल्य के अनुसार केवल उपजाऊ भूमि की उपज का कुछ अंश ही कर के रूप में लिया जाता था। उद्योगों द्वारा लाभ-राशि पर पाँच प्रतिशत कर होता था। सड़कों पर वाहन चलाने वाले भी कर देते थे। कर से महिलाएँ, बच्चे, विद्यार्थी, विद्वान्, ब्राह्मण तथा साधु-सन्त मुक्त होते थे।

सभी उद्योग-धन्धे सरकार द्वारा शासित थे। सरकार स्वयं सबसे बड़ी व्यापारिक संस्था थी। वही सब वस्तुओं के दाम निश्चित करती थी। विदेशी व्यापार से होने वाले लाभ पर दस प्रतिशत कर लिया जाता था। विदेश से आने वाली सभी वस्तुओं पर कर लगता था।

अकाल के समय राज्य द्वारा खाद्य सामग्री निःशुल्क वितरित की जाती थी।

सुरक्षा तथा सैनिक शासन—युद्ध दुष्टों के नाश करने के कारण एक धार्मिक संस्कार माना जाता था जिसको शुभ मुहूर्त में पूजा से आरम्भ किया जाता था। युद्ध-प्रवृत्ति कोई असाधारण बात नहीं थी।

राजा को देश की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान था। सुरक्षा के लिए सेना थी। सेना के छः अंग थे—पैदल, घुड़सवार, रथ, हाथी, जलयान, रसद-विभाग। युद्ध में कई प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों का प्रयोग होता था। रामायण में शतघ्नी का व्योरा मिलता है जिसके द्वारा एकदम १०० गोलियों से प्रहार किया जा सकता था।